राष्ट्रवाद के आधुनिक विचारों पर स्वामी विवेकानंद के सिद्धांतों का महत्व : एक विश्लेषणात्मक अध्ययन

A THESIS SUBMITTED TO THE
MAHARISHI UNIVERSITY OF INFORMATION TECHNOLOGY, LUCKNOW

FOR THE AWARD OF THE

DEGREE OF

DOCTOR OF PHILOSOPHY

IN

POLITICAL SCIENCE (FACULTY OF ARTS)

BY

SHASHI KANT
(Enrolment No. **MUIT0116038033**)

UNDER THE SUPERVISION OF

Dr. MAHESH KUMAR SAINI
Associate Professor
Dept. of Political Science,
MUIT University, Lucknow, U.P.

MAHARISHI UNIVERSITY OF INFORMATION TECHNOLOGY
LUCKNOW, UTTAR PRADESH-226013
INDIA

2021

DECLARATION BY THE CANDIDATE

I declare that this thesis entitled **"राष्ट्रवाद के आधुनिक विचारों पर स्वामी विवेकानंद के सिद्धांतों का महत्व : एक विश्लेषणात्मक अध्ययन"** is my own work conducted under the supervision of ***Dr. Mahesh Kumar Saini*****,** (Supervisor) Dept. of Political Science, at **Maharishi University of Information Technology, Lucknow, U.P.** (Centre) approved by the Research Degree Committee of the University and that I have put in more than 200 days/600 hrs of attendance with the supervisor.

I further declare that to the best of my knowledge this thesis does not contain any part of any work which has been submitted for the award of any degree either by this university or by any other university/ Deemed university without a proper citation.

(Signature of the candidate)

Name: ***Shashi Kant***

Enrolment Number: MUIT0116038033

CERTIFICATE OF THE SUPERVISOR

It is certified that this work entitled **"राष्ट्रवाद के आधुनिक विचारों पर स्वामी विवेकानंद के सिद्धांतों का महत्व : एक विश्लेषणात्मक अध्ययन"** is an original research work done by shri/ smt. /Km. ***Shashi Kant*** under my supervision for the degree of Doctor of Philosophy in ***Political Science*** to be awarded by **Maharishi University of Information Technology, Lucknow, U.P.,** India and that the candidate has put the attendance of more than 200 days/600 hrs with me.

To the best of my knowledge and belief thesis:

I. Embodies the work of candidate himself/ herself.

II. Has duly been completed.

III. Fulfils the requirements of the ordinance related to Ph.D.degree of the University and

IV. It is upto the standard in respect of both content and language for being referred to the examiner.

Signature of the Supervisor
(with stamp)
Dr. Mahesh Kumar Saini
Associate Professor
Dept. of Political Science,
MUIT University, Lucknow, U.P.

BONAFIDE CERTIFICATE

This is to certified that ***Mr. Shashi Kant***, Enrolment No. **MUIT0116038033** has completed the necessary academic term and the work presented by him is a faithful record of bonafide original work under the guidance and supervision of ***Dr. Mahesh Kumar Saini*, **(Supervisor) Dept. of ***Political Science***, at **Maharishi University of Information Technology, Lucknow, U.P.** He has worked on **"राष्ट्रवाद के आधुनिक विचारों पर स्वामी विवेकानंद के सिद्धांतों का महत्व : एक विश्लेषणात्मक अध्ययन".** No part of this thesis has been submitted by the candidate for the award of any other degree or diploma in this or any other university around the globe.

Signature of the Supervisor
(with stamp)
Dr. Mahesh Kumar Saini
Associate Professor
Dept. of Political Science,
MUIT University, Lucknow, U.P.

CERTIFICATE OF DEGREE AWARD

It is certified that this work entitled **"राष्ट्रवाद के आधुनिक विचारों पर स्वामी विवेकानंद के सिद्धांतों का महत्व : एक विश्लेषणात्मक अध्ययन"** Submitted to **the Maharishi University of Information Technology, Lucknow, U.P.,** India **i**n fulfillment of the requirements for the Award of the degree of Doctor of Philosophy in Political Science, Faculty of Arts has been awarded after an oral examination of the same in collaboration with an external examiner.

Date:

Place:

Signature of External Examiner   Signature of Ph. D. Coordinator

Signature of Internal Examiner

शोध-आभार

उन्निसवी सदी के साहित्य की विचारधारा और राष्ट्रवाद पर यह शोधकार्य स्वामी विवेकानंद के राष्ट्रवाद पर आधुनिक विचारों का एक विश्लेष्णात्मक अध्ययन विशेष ध्यान केन्द्रित करता है | वैचारिक और कार्य दृष्टिकोण के स्तर पर यह शोध **स्वामी विवेकानंद** के नव्य वेदांत दर्शन एवं उनके राष्ट्रवादी विचारों की वर्तमान प्रासिंगकता को दर्शाता है | प्रस्तुत शोध में शोधार्थी द्वारा शोध के सभी अध्यायों में जहाँ शोध विषय की सभी उपर्युक्त उपागमों द्वारा प्राथमिकता से विशेष रूप से प्रकाश डाला गया है वहीँ, दूसरी ओर, शोध में यह भी सुनिश्चित किया गया है कि स्वामी विवेकानंद जी के राष्ट्रवादी विचारों का न सिर्फ़ आधुनिक समय में प्रसिंग्कता दिखाई जा सके अपितु उनके विचारों को नव-जागरण काल के भी समकक्ष प्रसिंगिक सिद्ध किया जा सके |

वैचारिक विमर्शों के इस कशमकश को समझने में एवं शोध में सभी प्रकार के शैक्षणिक विचारों और संवादों के संग्रह में मुझे मेरे शोध निर्देशक **डॉ. महेश कुमार सैनी**, सह-आचार्य, राजनीति विज्ञान विभाग, से मुझे अत्यंत उदार रूप में प्राप्त हुई जिनके सहयोग एवं जीवन के उत्कृष्ट शैक्षणिक अनुभव से शोध प्रस्तुत करना संभव हो सका | महर्षि विश्विविद्यालय के पुस्तकालय, रामकृष्ण पुस्तकालय, नेहरु स्मारक संग्रहालय एवं पुस्तकालय (तीन मूर्ति भवन), केंद्रीय सन्दर्भ पुस्तकालय (दिल्ली विश्वविद्यालय) एवं राटा टाटा पुस्तकालय के अभी अधिकारीयों एवं कर्मचारियों के प्रति अपना विशिष्ट आभार प्रकट करता हूँ |

नतमस्तक हूँ, मैं अपने माता-पिता के श्री चरणों में जिन्होने सहयोग और विश्वास के कारण ही मैं "स्वामी जी" के विचारों को सही दृष्टिकोण से मूल्यांकन कर सका और मुझे इस योग्य बनाया की आज मैं इस शोध कार्य को प्रस्तुत करने में सक्षम हो सका हूँ | मैं विशेष रूप से अपने अग्रज भाई के भी मैत्रीपूर्ण स्वाभाव के प्रति कृतज्ञ हूँ जिन्होने समय-समय पर मुझे अपने जीवन- अनुभवों की व्यवहारिकता से शोध कार्य को पूर्ण करने में विशिष्ट योगदान किया | मैं अपनी जीवन सहचरी के प्रति भी विशिष्ट आभार प्रकट करता हूँ जिनके सहयोग ने मुझे शोध कार्य में निरंतर अग्रसर रहने में सदैव योगदान प्रदान किया | मैं विशिष्ट आभार प्रकट करता हूँ **डॉ. राजीव चोपड़ा**, दिल्ली विश्वविद्यालय का जिन्होने हर समय मुझे न सिर्फ़ एक शोध-निर्देशक अपितु मेरे शोध में एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाई, यह डॉ. चोपड़ा के जीवन अनुभव ही था और स्वामी जी के उपर उनका अतुल्य ज्ञान जिन्होने मुझे स्वामी विवेकानंद को सरलता से समझने में मदद की | माता-पिता के मार्ग-दर्शन के पश्चात्, जब कभी भी शोध कार्य में मुझे किसी भी प्रकार की शैक्षणिक दुविधा उत्पन्न हुई तो यह डॉ. चोपड़ा ही थे जिन्होने मुझे स्नेह एवं क्षमाशील मूर्ति से साहस बंधाया और उनका उत्कृष्ट शोध अनुभव भी मेरा प्रेरणास्त्रोत रहा |

अंत में, कृतज्ञ ज्ञापन की इस विशिष्ट श्रृंखला में **डॉ. नरेन्द्र कुमार त्यागी जी**, सभी अन्य गुरुजनों, श्रद्येयजनों, एवं मित्रजनों के सहयोग और विश्वास से ही यह शोध-कार्य संभव हुआ है और जो त्रुटियाँ हुई वह सिर्फ़ मेरे माध्यम द्वारा हुई | अतः मैं अपने अल्प और सीमित ज्ञान के साथ प्रस्तुत इस शोध-प्रबंध में अज्ञानतावश हुई त्रुटियाँ और न्यूनताओं के लिए सभी विशुद शिक्षाविदों से क्षमाप्रार्थी हूँ |

दिनांक:

शशिकांत
(शोधार्थी)

Abstract

शोध सारांश

राष्ट्रवाद कोई अचानक उत्पन्न होने वाली विचारधारा नहीं है बल्कि यह एक दीर्घकालिक विकासशील प्रक्रिया है। राष्ट्र के लिये एक ऐसी भावना का होना आवश्यक है जो व्यक्तियों के समूह को आत्मिक रूप से जोड़ती है और जब राष्ट्र व्यक्ति की पहचान बन जाता है तो राष्ट्रीयता जन्म लेती है और जब राष्ट्रीयता एक विचारधारा का रूप ले लेती है, तब राष्ट्रवाद का उदय होता है। यही विचारधारा राष्ट्रीय आंदोलन या स्वतंत्रता आंदोलन की उत्पत्ति का महत्त्वपूर्ण कारक बनता है। कुछ इतिहासकार भारत में राष्ट्रवाद की उत्पत्ति को प्रेरण–अनुक्रियावाद से स्पष्ट करते हैं जिसका आशय है– ब्रिटिश सरकार ने अपने हितों के लिये भारत में जो व्यवस्थाएँ लागू कीं, भारतीयों ने उसी पर अनुक्रिया कर राष्ट्रवादी भावना को विकसित किया। उल्लेखनीय है कि भारत में राष्ट्रवाद की उत्पत्ति एक आधुनिक संकल्पना मानी जाती है। भारत में जैसे–जैसे औपनिवेशिक शासन विभिन्न अवस्थाओं से गुजरा, वैसे–वैसे भारतीय राष्ट्रवाद भी विकसित होता गया।

भारत में उन्नीसवीं शताब्दी में राष्ट्रवाद के उत्थान के अनेक कारण है जिनमें सामाजिक–धार्मिक आन्दोलन तथा आर्थिक कारण प्रमुख हैं। सामाजिक धार्मिक आन्दोलनों के अग्रदूत राजा राम मोहन राय हैं। इन आन्दोलनों में स्वामी दयानन्द सरस्वती और विवेकानन्द ने भी अपना योगदान दिया। विकास यात्रा के वैश्विक एवं भारतीय प्रतिमान को देखते हुए यह कहना उचित ही होगा कि राष्ट्रवाद का इतिहास भाषा और संस्कृति के प्रश्नों के समान और उनसे अभिन्न होकर, ग्रहण और त्याग, संघर्ष और सहमति, और संघटन और विघटन के आख्यानों से बना है। यह आख्यान भारतीय संदर्भ में औपनिवेशिक दौर में से अधिक वर्षों से अपनी भौगोलिक सीमाओं और सभ्यतागत इतिहास से जुड़े प्रश्नों के अधीन आत्मगत पहचान के प्रयासों का सिलसिला रहा है।

राष्ट्रवाद पर विवेकानंद के विचार भौगोलिक या राजनीतिक या भावनात्मक एकता पर आधारित नहीं थे, न ही इस भावना पर कि 'हम भारतीय' हैं। राष्ट्रवाद पर उनके विचार गहन आध्यात्मिक थे उनके अनुसार यह लोगों का आध्यात्मिक एकीकरण, आत्मा की आध्यात्मिक जागृति था। उन्होंने प्रचलित

विविधता को विभिन्न आधारों पर पहचाना और सुझाव दिया कि भारतीय राष्ट्रवाद पश्चिम की तरह पृथकतावादी नहीं हो सकता है। उनके अनुसार भारतीय लोग गहन धार्मिक प्रकृति के हैं और इससे एकजुट होने की शक्ति प्राप्त की जा सकती है। राष्ट्रीय आदर्शों के विकास से उद्देश्य और कार्यवाही में एकता प्राप्त की जा सकती है। उन्होंने करुणा सेवा और त्याग को राष्ट्रीय आदर्शों के रूप में मान्यता दी। इसलिए विवेकानंद के लिए राष्ट्रवाद सार्वभौमिकता और मानवता पर आधारित था।

राष्ट्रवाद के स्वरूप में आने वाले इस परिवर्तन के मूल में एक ही कारण नजर आता है वह यह है कि स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद आम जनता ने अपने नैतिक और राष्ट्रीय मूल्यों का त्याग कर दिया है जिसके कारण हमें अनेक समस्याओं–साम्प्रदायिकता, भाषावाद, वैश्वीकरण की चुनौतियों, भ्रष्टाचार, आतंकवाद इत्यादि का सामना करना पड़ रहा है। अतः इन सब समस्याओं के समाधान का एक ही हल, एक ही विकल्प है, वह है स्वामी विवेकानंद के राष्ट्रवादी मूल्यों को आत्मसात करना। भारतीय स्वतंत्रता के बाद वर्तमान में भी हिन्दू–मुस्लिम के मध्य पारम्परिक अविश्वास, प्रतिशोध, कटुता एवं तनाव की स्थिति बनी हुई है। समय-समय पर होने वाले साम्प्रदायिक दंगे, धर्म परिवर्तन की घटनाएं इसकी पुष्टी करती है। इसके समाधान हेतु स्वामी विवेकानंद के राष्ट्रवादी दर्शन जिसमें सद्भावना, सहिष्णुता, पारस्परिक सम्पर्क, सर्वधर्म समान की भावना, हिंदू संस्कृति, समाजसेवा, चरित्र–निर्माण, देशभक्ति, शिक्षा, व्यक्तित्व तथा नेतृत्व का संदेश निहित है, एक कारगर उपाय है। अतः प्रस्तुत शोध ग्रन्थ में स्वामीजी के संपूर्ण मानवता और राष्ट्र को समर्पित प्रेरणाप्रद जीवन का अनुपम वर्णन करने का प्रयास किया गया है साथ ही स्वामी विवेकानंद जी के राष्ट्ररक्षा, राष्ट्रगौरव एवं राष्ट्राभिमान का पाठ पढ़ानेवाले, राष्ट्रवाद का अलख जगानेवाले विचारों को उजागर करने का प्रयास किया गया है।

शोध अध्ययन की सुविधा व वैज्ञानिकीकरण के लिए प्रस्तुत इस शोध–प्रबन्ध को 5 अध्यायों में बाँटा गया है।

प्रथम अध्याय 'प्रस्तावना' शीर्षक के अन्तर्गत स्वामी विवेकानन्द द्वारा प्रस्तावित राष्ट्रवाद सम्बन्धि अवधारणा की व्याख्या करने का प्रयास किया गया है।

प्रथम अध्याय में सामान्य परिचय के साथ–साथ शोध की परिकल्पना, शोध अध्ययन के उद्देश्य, शोध विधि व आंकड़ो का स्त्रोत आदि विषयों पर विस्तार से चर्चा की गई है एवं अन्त में पाठय् योजना दी गई है।

द्वितीय अध्याय में **साहित्य पुनरावलोकन** के अन्तर्गत विभिन्न विद्वानों **स्वामी विवेकानन्द के विचारों** पर साहित्यिक समीक्षा प्रस्तुत की गई है।

तृतीय अध्याय में **भारतीय पुनर्जागरण एवं राष्ट्र निर्माण में स्वामी विवेकानन्द की प्रासंगिकता एवं भूमिका** का अध्ययन किया गया है।

चतुर्थ अध्याय में **आधुनिक भारत के आध्यात्मिक व सांस्कृतिक पुर्नजागरण, राष्ट्रीय चेतना एवं राष्ट्रवाद पर स्वामी विवेकानन्द के प्रभाव का ऐतिहासिक विश्लेषण** किया गया है।

पंचम अध्याय और आखिरी अध्याय में **सारांश** के साथ **उपसंहार** दिया गया है। अध्याय के अन्त में **संदर्भ सूची** दी गई है।

CONTENTS

Chapter No.	Title	Page No.
	Declaration by the Candidate	1
	Certificate of Supervisor	2
	Bonafide Certificate	3
	Certificate of Degree Award	4
	Acknowledgement आभार	5
	ABSTRACT **शोध सारांश**	6-7
	Contents	8
1.	**अध्याय 1**	
	प्रस्तावना	**10-45**
2.	**अध्याय 2**	
	साहित्य पुरावलोकन	**46-61**
3.	**अध्याय 3**	
	भारतीय पुनर्जागरण एवं राष्ट्र निर्माण में स्वामी विवेकानन्द की प्रासंगिकता	**62-126**
4.	**अध्याय 4**	
	आधुनिक भारत के आध्यात्मिक व सांस्कृतिक पुर्नजागरण, राष्ट्रीय चेतना एवं राष्ट्रवाद पर स्वामी विवेकानन्द के प्रभाव का ऐतिहासिक विश्लेषण	**127-171**
5.	**अध्याय 5**	
	उपसंहार एवं सारांश	**172-195**
	सन्दर्भ सूची	**196-203**
	शोध–पत्र	
	Certificate of Paper Presentations	
	Plagiarism Report	

अध्याय 1
प्रस्तावना

1.1 प्रस्तावनाः *(Introduction)*

राष्ट्रवाद कोई अचानक उत्पन्न होने वाली विचारधारा नहीं है बल्कि यह एक दीर्घकालिक विकासशील प्रक्रिया है। राष्ट्र के लिये एक ऐसी भावना का होना आवश्यक है जो व्यक्तियों के समूह को आत्मिक रूप से जोड़ती है और जब राष्ट्र व्यक्ति की पहचान बन जाता है तो राष्ट्रीयता जन्म लेती है और जब राष्ट्रीयता एक विचारधारा का रूप ले लेती है, तब राष्ट्रवाद का उदय होता है। यही विचारधारा राष्ट्रीय आंदोलन या स्वतंत्रता आंदोलन की उत्पत्ति का महत्त्वपूर्ण कारक बनता है। कुछ इतिहासकार भारत में राष्ट्रवाद की उत्पत्ति को प्रेरण–अनुक्रियावाद से स्पष्ट करते हैं जिसका आशय है– ब्रिटिश सरकार ने अपने हितों के लिये भारत में जो व्यवस्थाएँ लागू कीं, भारतीयों ने उसी पर अनुक्रिया कर राष्ट्रवादी भावना को विकसित किया। उल्लेखनीय है कि भारत में राष्ट्रवाद की उत्पत्ति एक आधुनिक संकल्पना मानी जाती है। भारत में जैसे–जैसे औपनिवेशिक शासन विभिन्न अवस्थाओं से गुजरा, वैसे–वैसे भारतीय राष्ट्रवाद भी विकसित होता गया।

प्रत्येक राष्ट्र की जीवन धारा में ज्वार भाटें की तरह उत्थान पतन पुनरुत्थान का अनवरत् क्रम चलता रहता है। विकट अन्धकार के पश्चात पौ फटती आशा की किरण, मृत होते समाज में उसका पुनर्जीवन, हर ठहराव–टूटन अवरोध के बाद चमत्कारिक आत्म विश्वास और जीवन्त स्फूर्ति की अलौकिक लहर को बार–बार भारतीय इतिहास में देखा जा सकता है। कभी हिन्दुस्तानी जिन्दगी की धार मंद पड़ जाती है, मुर्दा, सदियों के बोझ को जैसे तैसे ढोते हुए लोग, मानों गुजरे जमाने में ही रहते है। उन पर एक तरह की बेहोशी छा जाती है किन्तु समय–समय पर राष्ट्रवाद का भाव ही लोगों में जागरण पैदा करके देश पर मर मिटने की प्रेरणा देता है। मार्गरीटा वर्न्स के शब्दो में "वास्तव में भारतीय राष्ट्रवाद के विकास की कहानी, भारतीय राष्ट्रीयता के विकास की कहानी है। सुशासन से स्वशासन, स्वराज्य से पूर्ण स्वंतत्रा की यात्रा क्रमशः विकसित राजनीतिक चेतना के प्रस्फुटन का

इतिहास है।" राष्ट्रवाद के सम्बन्ध में यह जान लेना आवश्यक है कि राष्ट्रीयता की भावना भारत में प्रारम्भ से ही रही है। "भारतीय राष्ट्रीयता को किसी आंग्ल इतिहासकार अथवा राजनीतिक चिंतक के प्रमाण पत्र की आवश्यकता नहीं हुई।

अपनी सभ्यता एवं संस्कृति के उत्कर्ष के दिनों में भारत को एक राष्ट्र तथा एक पृथक भौगोलिक अस्तित्व की गरिमा प्राप्त थी। भारत में राष्ट्रवाद का आधुनिक स्वरूप अंग्रेजी शासन के अन्तर्गत बौद्धिक पुनर्जागरण एवं दासता से मुक्ति के प्रयास में परिलक्षित होता है। भारतीय पुनर्जागरण के नैतिक एवं आध्यात्मिक सन्दर्भो से यह स्पष्ट हो जाता है कि पाश्चात्य शिक्षा, अंग्रेजी भाषा एवं साहित्य, पाश्चात्य राजनीतिक विचारों तथा ईसाई धर्म के, भारतीय पुनर्जागरण तथा सामाजिक एवं राजनीतिक चिन्तन पर पड़ने वाले प्रभावों को बहुत बढ़ा–चढ़ा कर बताया गया है। पाश्चात्य प्रभाव को मानने से अस्वीकृति नहीं है, किन्तु भारतीय चिन्तकों का एक बहुत बड़ा समुदाय, भारतीय संस्कृति, धर्मचेतना एवं भारतीय आधारों पर ही आगे बढ़ना श्रेयस्कर मानता रहा है।"2

राष्ट्रवाद की जड़ें उतनी ही पुरानी हैं जितनी विश्व इतिहास। यही कारण है कि प्राचीन समय से लेकर आधुनिक समय के दार्शनिकों, समाज सुधारकों, शिक्षाविदों तथा समाज वैज्ञानिकों ने इतिहास का सहारा लेकर राष्ट्रवाद की व्याख्या एवं विश्लेषण करने का प्रयास किया है। राष्ट्रवाद की संवेगात्मक, उत्तेजित मनोदशाओं तथा भावनाओं के रूप में परिभाषित किया गया है, इस विचारधारा के समर्थकों में हंसकोहन, रोफर, केड्योरी, मिनांग तथा स्मिथ का प्रमुख स्थान है। इन्होंने राष्ट्रवाद को सांस्कृतिक जीवन तथा आर्थिक समृद्धता हेतु रचनात्मक साधन के रूप में भी स्वीकार किया है। कार्ल मार्क्स ने भी राष्ट्रवाद को अपने विचार रूप में इस प्रकार कहा है कि, ''राष्ट्रवाद बुर्जुवा वर्ग की उत्साहपूर्ण क्रिया के अतिरिक्त और कुछ नहीं है, यह केवल एक सभा मात्र है।'' भारतीय परिप्रेक्ष्य में राष्ट्रवाद से सम्बन्धित तथ्यों की पूर्ण जानकारी हेतु भारत की ऐतिहासिकता के साथ–साथ भारतीय पुनर्जागरण तथा राष्ट्रीय आन्दोलन के विकास सम्बन्धी इतिहास पर विहंगम दृष्टिपात अत्यन्त आवश्यक है।

भारत में बौद्धिक पुनर्जागरण आधुनिक भारतीय राष्ट्रवाद के उदय का एक महत्वपूर्ण कारक था। भारतीय आत्मा के जागरण की सृजनात्मक अभिव्यक्ति सर्वप्रथम दर्शन, धर्म एवं संस्कृति के क्षेत्रों में हुई। देश के अतीत को पुनर्जीवित करने की यह भावना आक्रामक तथा अहंकारपूर्ण विदेशी सभ्यता की महान

चुनौती के विरूद्ध प्रक्रिया के रूप में उत्पन्न हुई। चूँकि यह सभ्यता राजनीतिक दृष्टि से अत्यन्त प्रभावी और आर्थिक दृष्टि से सबल थी, इसीलिए उसके प्रति प्रतिक्रिया होना स्वाभाविक था। पश्चिमी यांत्रिक सभ्यता तथा भारतीय धार्मिक पुन्योमुखी संस्कृतियों के बीच संघर्ष से नये भारत का उदय हुआ। इस नवीन भारत के नवनिर्माण में जिन महान विभूतियों, शक्तियों तथा संस्थाओं ने सहयोग दिया, उसी के परिणामस्वरूप राष्ट्रवाद की अवधाारणा सबल हो सकी है। इस परिप्रेक्ष्य में भारतीय समाज सुधारकों, राष्ट्रवादियों तथा राजनयिकों, दयानन्द, विवेकानन्द, एनीबेसेन्ट, दादाभाईनौरोजी, एस.एन. बनर्जी, रानाडे, तिलक, विपिन चन्द्र, टैगोर, अरविन्द, गाँधी, नेहरू आदि के विचारबिन्दुओं को समांकित कर भारतीय राष्ट्रवाद के बारे में जानकारी हासिल की जा सकती है।

कालान्तर में विभिन्न ऐतिहासिक चरणों में राष्ट्रवाद का उदय विश्व के अन्य देशों सहित भारत में भी हुआ। राष्ट्रवाद शब्द रूप में अंग्रजी के शब्द नेशनलिज्म का सही हिन्दी रूपान्तर है। जब हम पूर्ववर्ती इतिहास की ओर नजर डालते हैं तो हमें एक आश्चर्यजनक तथ्य की प्राप्ति होती है। यह भारत के इतिहास का एक संक्रान्ति काल था और जितने महान व्यक्ति इस काल में अवतरित हुए, प्रायः सभी बहुआयामी व्यक्तित्व के धनी थे गाँधी, नेहरू, विवेकानन्द, विनोबा भावे, पं0 मदन मोहन मालवीय, स्वामी दयानन्द सरस्वती बहुमुखी व्यक्तित्व के धनी माने जाते हैं। प्रस्तुत शोध अध्ययन में शोधार्थी द्वारा 'स्वामी विवेकानन्द के राष्ट्रवाद समबन्धि विचारों की व्याख्या एवं वर्तमान युग में उनके राष्ट्रवाद समबन्धि विचारों की उपादेयता' का अध्ययन विभिन्न पक्षों के आधार पर करने का प्रयास किया गया है।

इतिहास के सभी पृष्ठों पर जिस गौरवमयी गाथा को अंकित कर भारत देश जीवन के लिये संघर्ष करता रहा, उसका सिंहावलोकन करना सम्पूर्ण जगत के लिये उपयोगी ही नहीं वरन् आवश्यक भी है।

प्राचीन काल से ही 'सोने की चिड़िया' के नाम से प्रख्यात भारत विदेशियों, विशेषकर यूरोपीय लोगों, के लिए हमेशा से एक आकर्षण का केन्द्र बना रहा था। विशेषकर व्यापार एवं वाणिज्य के क्षेत्र में यहां मौजूद अपार सम्भावनाओं के चलते मध्यकाल से ही यूरोपीय देशों के लोग भारत से गहरे आर्थिक सम्बन्ध कायम कर चुके थे लगभग सौ वर्षो तक पुर्तगालियों ने भारत, पूर्वीद्वीप समूह और चीन के साथ होते आ रहे 'पूर्वी व्यापार' पर एकाधिकार जमाये रखा जिसके परिणामस्वरूप पुर्तगाल की आर्थिक रूप से काफी शक्ति बढ़ी। इसे देखकर अंग्रेजों ने भी पूर्वी व्यापार से लाभ उठाना चाहा। 1578 ई॰ में सर

फ्रान्सिस ड्रेक नामक एक अंग्रेज नाविक ने लिस्बन की ओर जाने वाले एक पुर्तगाली जहाज को लूट लिया।[1] इस लूट से उन्हें भारत की ओर जाने वाले जलमार्ग के विषय में भी जानकारी प्राप्त हुई। 1580 ई॰ में महारानी विक्टोरिया ने घोषणा की कि "समुद्र सबके लिए समानरूप से खुला है, उस पर किसी का अधिकार न तो प्राकृतिक दृष्टि से उचित है और न ही जनहित की दृष्टि से ।"[2] इस घोषणा के साथ ही अंग्रेजों और पुर्तगालियों में व्यापारिक स्पर्धा आरम्भ हो गई। 1599 ई॰ में जॉन मिडलटन स्थल मार्ग से भारत पहुंचने में सफल हुआ। 1599 ई॰ में लार्ड मेयर की अध्यक्षता में एक प्रस्ताव पारित किया गया जिसके निर्णय के अनुरूप 'द कम्पनी ऑफ मरचेण्ट्स ऑफ लन्दन ट्रेडिंग इनटू द ईस्ट इण्डीज'[3] नामक कम्पनी बनाने की अनुमति प्रदान की गई। इसे आम भाषा में 'अंग्रेजी ईस्ट इण्डिया कम्पनी' कहा गया। इस कम्पनी ने 1609 ई॰ में विलियम हॉकिन्ज नामक एक अंग्रेज दूत को भारत भेजा। बादशाह जहांगीर ने उसका स्वागत किया, परन्तु शुरू में अंग्रेजों को व्यापारिक सुविधाएं देने से इन्कार कर दिया। हालांकि बाद में 6 फरवरी 1613 ई॰ के एक शाही फरमान द्वारा अंग्रेजों को भारत में एक कोठी (फैक्टरी) बनाने तथा मुगल दरबार में एक दूत रखने की अनुमति प्रदान कर दी गई।[4] इस प्रकार अंग्रेजों ने धीरे–धीरे भारत में अपना व्यापार बढ़ाना शुरू कर दिया। शीघ्र ही उन्होंने भारतीय हुकूमत की आज्ञा लेकर यहां कई बस्तियां कोठियां स्थापित की ताकि भारत से माल खरीदकर दूसरे देशों में बेचा जा सके।[5]

1698 ई॰ में भारत के साथ व्यापार करने के लिए एक नई कम्पनी गठित की गई जिसका नाम 'दी इंग्लिश कम्पनी ट्रेडिंग टू दी ईस्ट इण्डिया' रखा गया। शीघ्र ही कम्पनी की पुरानी कम्पनी से प्रतिस्पर्धा आरम्भ हो गई। परन्तु 1708–09 ई॰ में इन दोनों कम्पनियों का आपस में विलय हो गया।[6]

1664 ई॰ में फ्रांसीसी सम्राट लुई चौदहवें तथा उसके वित्त मन्त्री कोलबर्ट के प्रयासों से 'फ्रांसीसी ईस्ट इण्डिया कम्पनी' की भी स्थापना की गई।[7] शीघ्र ही फ्रांसीसियों ने भी भारत के सूरत, मूसलीपट्टनम, माही तथा मद्रास आदि स्थानों पर अपनी बस्तियाँ स्थापित कर ली। ब्रिटिश कम्पनी तथा फ्रांसीसी कम्पनी दोनों ही एक–दूसरे को पूर्वी व्यापार में पछाड़ना चाहती थी। परिणामस्वरूप दक्षिण भारत में व्यापारिक (एवं बाद में राजनीतिक) सर्वोच्चता स्थापित करने के लिए अंग्रेजों तथा फ्रांसीसियों

के मध्य संघर्ष आरम्भ हो गया जो लगभग 20 वर्ष (1744 ई॰ से 1763 ई॰) तक चला। इस अवधि के दौरान दोनों के मध्य कर्नाटक के तीन युद्ध लड़े गए। कर्नाटक का प्रथम युद्ध एक्स–ला–शैपल की सन्धि द्वारा 1748 ई॰ में समाप्त हुआ। इस सन्धि द्वारा भारत में मद्रास अंग्रेजों को तथा अमेरिका में लूबर प्रदेश फ्रांसीसियों को मिले। [8] कर्नाटक के दूसरे युद्ध का अन्त दिसम्बर 1754 ई॰ को अंग्रेजों और फ्रांसीसियों के बीच हुई पांडिचेरी की सन्धि के बाद हुआ। कर्नाटक के दो युद्ध लड़े जाने के बाद भी भारत में दोनों शक्तियों के बीच शान्ति स्थापित नहीं हुई। 1754 ई॰ यूरोप में इंग्लैंड और फ्रांस के बीच सप्तवर्षीय युद्ध आरम्भ हो गया।[9] अतः भारत में भी दोनों देशों की कम्पनियों के बीच युद्ध आरम्भ हो गया। आखिर 1763 ई॰ में दोनों के मध्य हुई पेरिस की सन्धि के पश्चात् अंग्रेजों की भारत में सर्वोच्चता स्थापित हो गई। अंग्रेजों का अब भारतीय व्यापार पर एकाधिकार स्थापित हो गया था।[10]

अब अंग्रेज धीरे–धीरे भारतीय देशी राज्यों के मामलों में भी हस्तक्षेप करने लगे। दरअसल, 1707 ई॰ में औरंगजेब की मृत्यु के पश्चात् मुगल साम्राज्य का विघटन आरम्भ हो गया था। इसी स्थिति का फायदा उठाकर अंग्रेजों ने भारतीय राज्यों को हड़पने के लिए षड्यन्त्र रचने शुरू कर दिए। इनकी शुरूआत अंग्रेजों ने बंगाल से उस समय की, जब बंगाल के नवाब अलवर्दी खां की मृत्यु के बाद सिराजुदौला रियासत का नया नवाब बना। अनेक कारणों एवं परिस्थितियों के परिणामस्वरूप उसकी अंग्रेजों से अनबन हो गई। इस कारण अंग्रेजों एवं सिराजुदौला के बीच जून 1757 ई॰ में प्लासी का युद्ध हुआ। यह युद्ध ऐतिहासिक दृष्टि से काफी महत्त्वपूर्ण था। इस युद्ध में अंग्रेजों को सफलता मिली। इसके बाद उन्होंने भारतीय राजनीतिक मामलों में बढ़–चढ़कर भाग लेना आरम्भ कर दिया।[11] प्लासी के युद्ध के पश्चात् अंग्रेजों की सहायता से मीर जाफर बंगाल का नया नवाब बना किन्तु वह अयोग्य तथा दुर्बल शासक था। 1760 ई॰ में अंग्रेजों ने उसे राजगद्दी से हटाकर मीर कासिम को बंगाल का नया नवाब बनाया।

यद्यपि वह भी अंग्रेजों की कृपा से ही नवाब बना था, परन्तु शीघ्र ही उसकी ईस्ट इण्डिया कम्पनी के उच्च अधिकारियों से अनबन हो गई।[12] अतः 1764 ई॰ में अंग्रेजों ने मीर कासिम के स्थान पर मीर जाफर को पुनः बंगाल का नवाब घोषित कर दिया। परिणामस्वरूप अंग्रेजों और मीर कासिम के बीच

बक्सर के युद्ध की पृष्ठभूमि तैयार हो गई। सितम्बर 1764 ई० में लड़े गए बक्सर के युद्ध में अंग्रेजों ने मीर कासिम, अवध के नवाब शुजाउद्दौला तथा मुगल बादशाह शाह आलम तीनों की संयुक्त सेनाओं को पराजित कर दिया। यह युद्ध भारतीय इतिहास के निर्णायक युद्धों में से एक था। अब बंगाल पर अंग्रेजों का सीधा शासन स्थापित हो गया था।[13]

इसके बाद अंग्रेजों ने भारत में खुलेआम साम्राज्यवादी मंसूबों को दिखाना आरम्भ कर दिया। वे अब अन्य राज्यों पर भी अधिकार करने की चेष्ठा करने लगे। शीघ्र ही उन्होंने कई अन्य युद्धों के द्वारा भारत के काफी बड़े हिस्से पर अधिकार कर लिया। इन युद्धों में मैसूर, मराठों आदि के साथ लड़े गए युद्ध महत्त्वपूर्ण थे। इसके अलावा उन्होंने कालान्तर में सिंध, पंजाब, अवध आदि अनेक मित्र राज्यों का अपने साम्राज्य में विलय कर लिया। सहायक सन्धि तथा लैप्स की नीति की आड़ में बहुत सारी भारतीय रियासतों को भी अंग्रेजी साम्राज्य में मिला लिया गया। [14]

अंग्रेजों की इन साम्राज्यवादी कारगुजारियों से भारतीय शासकों में उनके प्रति असंतोष उत्पन्न हो गया। उन्होंने अंग्रेजों से अपने छीने हुए राज्य वापस लेने का निश्चय किया। वास्तव में कम्पनी के राज्य की स्थापना के समय से ही भारत में अंग्रेजों के प्रति विरोध का वातावरण तैयार होने लगा था। भारतीयों में उनके प्रति घृणा तथा रोष की आग काफी समय से अन्दर ही अन्दर सुलग रही थी। केवल विस्फोटक हेतु एक चिंगारी की ही आवश्यकता थी। 1857 ई० में सेना में चर्बी वाले कारतूसों के चलन ने यह कमी भी पूरी कर दी। अतः 1857 ई० में देश में प्रथम स्वतन्त्रता संग्राम का आरम्भ हुआ।[15] 1857 ई० का विद्रोह भारतीय इतिहास की एक अति महत्त्वपूर्ण तथा कभी न भूलने वाली घटना मानी जाती है। इस विद्रोह के परिणामस्वरूप 1757 ई० से देश में चला आ रहा ईस्ट इण्डिया कम्पनी का शासन समाप्त हो गया और भारत का शासन सीधे ब्रिटेन की महारानी के हाथों में चला गया। लेकिन इससे अहम् बात यह थी कि इस महान विद्रोह ने भारतीयों के लिए स्वतन्त्रता का मार्ग प्रशस्त किया। अब ब्रिटिश राज के अधीन भारतीयों में राष्ट्रीय जागृति एवं स्वतन्त्रता की भावना का उदय हुआ।[16]

1757 में ईस्ट इण्डिया कम्पनी की प्लासी की लड़ाई में विजय के साथ ही भारत में ब्रिटिश औपनिवेशिक शोषण के एक युग की भी शुरूआत हुई थी। इस युग में अंग्रेजों ने भारत में अपनी औपनिवेशिक व्यवस्था को लादा जिसके अन्तर्गत भारतीयों का जमकर शोषण किया गया।[17]

इतिहासकार आर० सी० दत्त के अनुसार कम्पनी का शासन प्रारम्भ होने से पहले अर्थात् 18वीं शताब्दी में भारत एक विशाल कृषि प्रधान और औद्योगिक देश था और भारत के बने हुए कपड़े एशिया और यूरोप के बाजारों को निर्यात किए जाते थे। यहाँ पर कृषि और उद्योग का संतुलन था। इस कारण भारत अंतराष्ट्रीय व्यापार में अपनी महत्त्वपूर्ण स्थिति बनाये रख सका क्योंकि भारत के पास निर्यात करने के लिए बहुत कुछ था जबकि आयात करने के लिए कुछ ही चीजें थीं। उस समय भारत संसार के कुछ धनी देशों में से एक था।[18] परन्तु भारत में ईस्ट इण्डिया कंपनी का राज शुरू होने पर यह स्थिति बदलने लगी। कम्पनी का मुख्य उद्देश्य अब भी वही था जो किसी व्यापारिक कंपनी का होता है। अर्थात् कंपनी अपने माल को अधिक–से–अधिक कीमत पर बेचने तथा भारतीय माल को कम से कम कीमत पर खरीदने पर जोर देती थी ताकि अधिक मुनाफा कमा सके।[19]

तत्कालीन भारतीय उद्योगों को हम मुख्यतः दो भागों में बांट सकते हैं :

(i) असंगठित उद्योग (ii) संगठित उद्योग। असंगठित उद्योगों में मुख्यतः कपास, हथकरघा, बुनाई व काश्तकारी संबंधी उद्योग शामिल थे। जबकि संगठित उद्योगों में सूती कपड़ा उद्योग, पटसन, कोयला तथा लोहा–इस्पात उद्योग थे[20] उस समय संगठित उद्योगों में सूती कपड़ा उद्योग प्रमुख था। भारत में पश्चिमी क्षेत्र में विस्तृत रूप से यह उद्योग फैला था। जहाँ तक पूंजी निवेश और उत्पादन के मूल्य का संबंध है, सूती कपड़ा उद्योग भारत के निजी उद्यमियों द्वारा चलाया जाने वाला सबसे बड़ा कारखाना उद्योग था।[21] औपनिवेशिक व्यवस्था के अधीन असंगठित उद्योगों में सबसे अधिक आर्थिक पतन हस्तशिल्प उद्योग में हुआ था। कम्पनी की औपनिवेशिक सरकार की नीतियों के चलते हस्तशिल्प और हथकरघा उद्योग पतनोनमुख होने लगें। गांवों के बुनाई उद्योग ने विदेशी कारखानों के माल के सामने घुटने टेक दिये थे। असंगठित उद्योगों के पतन का मुख्य कारण ब्रिटिश सरकार की औपनिवेशिक आर्थिक नीतियां थी जिनका उद्देश्य यहां से ज्यादा से ज्यादा कच्चा माल हासिल कर उसे ब्रिटिश

कारखानों तक पहुंचाना था। औपनिवेशिक काल में असंगठित और संगठित उद्योगों का प्रत्यक्ष व अप्रत्यक्ष रूप से लाभ उठाने वाले मुख्यतः विदेशी (अंग्रेज) थे। फलतः भारत से होने वाला अधिकांश मुनाफा देश से बाहर जाने लगा।[22] औपनिवेशिक काल में ब्रिटेन से निर्मित वस्तुओं के आयात तथा भारतीय कच्चे माल के निर्यात में भेदभाव किया जाता था। भारतीय माल को एक स्थान से दूसरे स्थान तक ले जाने के लिए ब्रिटिश सरकार अधिक कर लेती थी। औपनिवेशिक राज का आर्थिक शोषण क्रमशः करों और मालगुजारी वसूली से ऊपर उठकर उन्मुक्त व्यापार और सीधी लूटखरोट का रूप धारण करता जा रहा था। ब्रिटिश उपनिवेशवाद ने भारत की हैसियत महज एक बाजार व कच्चे माल के आपूर्ति कर्त्ता की बना दी थी। [23] औपनिवेशिक काल में व्यापारिक क्षेत्र तो औद्या`गिक क्षेत्र से भी उपेक्षित नजर आता है। अन्तर्राष्ट्रीय वैदेशिक व्यापार राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था का महत्त्वपूर्ण क्षेत्र होता है। किसी भी देश की उत्पादन की स्थिति से उसके निर्यात की प्रकृति और दिशा का ज्ञान होता है। भारतीय व्यापार यहां की कृषि–प्रधान अर्थव्यवस्था पर निर्भर था।[24] 1813 से 1858 की अवधि पूर्ण रूप से मुक्त व्यापार पूंजीवाद के शोषण का युग रही। इस दौरान बड़ी तेजी से भारत को मैनचेस्टर के कपड़ों के आयातक एवं कच्चे माल के निर्यातक के रूप में परिवर्तित कर दिया गया।[25]

1857 तक भारतीय निर्यात व्यापार में मुख्यतः नील, कपड़े, कच्चा रेशम, कपास, चीनी, अफीम आदि शामिल थे। 1858 में ब्रिटेन की महारानी द्वारा भारतीय प्रशासन अपने हाथ में लेने लेने के बाद विदेशी व्यापार में एक नया मोड़ आया। इस समय भारतीय विदेशी व्यापार मूल्य और आकार दोनों ही दृष्टियों से बढ़ रहा था। इस बढ़ते व्यापार हेतु मुख्यतः रेलवे का विकास, 1869 में स्वेज नहर का खुलना, यातायात में सुधार, विदेशी मुद्रा में सुधार आदि कारण थे।[26]

1870 से 1939 तक भारत से लगातार निर्यात अधिक हुआ और आयात कम। परन्तु निर्यात में लगातार हुई यह वृद्धि देश की खुशहाली का चिन्ह नहीं था। यह ब्रिटिश राज के हितों को ध्यान में रखकर किया गया था। इसका मुख्य कारण भारत का औपनिवेशिक स्वरूप था। ज्यादातर निर्यात कच्चे माल का होता था, भारत को उन सेवाओं और खर्चों का भी बोझ सहन करना पड़ता था जो इग्लैण्ड

भारत पर डालता था। अतः भारत का विदेशी व्यापार भारत के औद्योगिक पिछड़ेपन का प्रमुख कारण बनता गया।[27]

ब्रिटिश औपनिवेशिक काल में विदेशी पूंजी निवेश के परिणामस्वरूप भारत में रेलवे का विकास हुआ। वस्तुतः देश में रेलमार्गों का विकास भी वाणिज्यिक लाभ की दृष्टि से किया गया। हालांकि विजित क्षेत्रों पर नियन्त्रण बनाये रखने और कानून व्यवस्था स्थापित करने के लिए भी रेलवे का इस्तेमाल किया जाता था। परन्तु रेलवे का अधिक इस्तेमाल व्यापारिक हितों के लिए ही किया गया।[28] इस कारण रेल मार्गों के विकास का भारतीय अर्थव्यवस्था और उसके विभिन्न पहलुओं पर गहरा प्रभाव पड़ा। रेलवे में निवेश की गई पूंजी ब्रिटिश पूंजीपतियों की थी। इसमें भारतीय पूंजी का योगदान नाममात्र का ही रहा। फलतः रेलवे ने यहां ब्रिटिश पूंजी को ही बढ़ावा दिया और भारतीय हितों की अनदेखी की। भारतीय व्यावसायियों ने रेलवे के ऐसे इस्तेमाल का विरोध किया था। उनके अनुसार खाद्यान और कच्चे माल को देश के विभिन्न भागों से इक्ट्ठा कर बंदरगाहों पर पहुंचाया जाता था जहां से इन्हें जहाजों द्वारा ब्रिटेन भेजा जाता था।[29]

ब्रिटिश युग में रेलवे के अलावा अर्थव्यवस्था के अन्य क्षेत्रों में भी विदेशी पूंजी का वर्चस्व बढ़ा। भारतीय बाजारों में विदेशी पूंजी के आने से भारतीय पूंजी के फलने–फूलने की कोई गुंजाइश नहीं बची। बल्कि यहां से पूंजी निचोड़ कर विदेशों में ले जाई जा रही थी जिसके कारण भारतीय अर्थव्यवस्था पर विदेशी पकड़ दिनों–दिन मजबूत होती जा रही थी। भारत में अपने शासन के दौरान अंग्रेजों ने अपनी पूंजीवादी अर्थव्यवस्था को अपने स्वार्थों की पूर्ति के लिए खूब प्रयोग किया। भारत से बटोरी गई दौलत ने जहां एक ओर ब्रिटेन के पूंजीवादी औद्योगिक विकास में योगदान किया, वहीं दूसरी ओर इसने भारत को एक ऋणग्रस्त पिछड़ा हुआ देश बना दिया।[30]

देहातों में परम्परागत आत्मनिर्भर अर्थव्यवस्था नष्ट हो गई और एक नई 'राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था' का जन्म हुआ। ब्रिटिश शासन के दौरान कृषि का वाणिज्यिकरण हुआ। इस व्यापारीकरण से कुछ भारतीय उद्योगों का विकास हुआ। फलस्वरूप उपनिवेशवाद के प्रभावों की वजह से भारतीय पूंजीपति वर्ग उभरा।

इस वर्ग में मुख्यतः व्यापारी, सूदखोर, उद्योगपति, वित्तिय पूंजीपति और गैर–काश्तकार जमींदार तथा कुछ पेशेवर लोग थे

ब्रिटिश शासन की आर्थिक नीतियों के कारण गांवों के करोड़ों लोगों को बेरोजगारी का सामना करना पड़ा। लाखों कारीगर और हस्त शिल्पी ब्रिटिश उद्योगों द्वारा निर्मित माल के आगमन के कारण आर्थिक संकट में फंस गये। इस प्रकार ब्रिटिश शासन का प्रभाव भारतीय अर्थव्यवस्था पर यह पड़ा कि परम्परागत अर्थव्यवस्था छिन्न–भिन्न होने लगी और शीघ्र ही भारत ब्रिटेन का कृषि–उपनिवेश बन गया ।[31]

जल्दी ही भारतीय सामाजिक परिवेश पर भी औपनिवेशिक अर्थव्यवस्था का प्रभाव दिखाई देने लगा। औपनिवेशिकरण की प्रक्रिया के दौरान भारत के परम्परागत सामाजिक–आर्थिक ढांच` के स्थान पर एक नया सामाजिक–आर्थिक ढांचा कायम हो रहा था। इस कारण ग्रामीण व शहरी क्षेत्रों में कई सामाजिक संक्रमण शुरू हुए ।[32]

19वीं शताब्दी में औपनिवेशिक पराधीनता एवं शोषणतन्त्र का शिकार बन चुका भारत सामाजिक दृष्टि से भी पतनोन्मुख हालात से जूझ रहा था। समूचा भारतीय समाज, विशेषकर हिन्दू समाज, पूरी तरह धार्मिक अन्धविश्वासों के जाल में जकड़ा हुआ था। इस सन्दर्भ में महान पाश्चात्य सामाजिक चिन्तक मैक्स वेबर ने लिखा है, “हिन्दू धर्म दरअसल जादू–टोना, अन्धविश्वास और अध्यात्मवाद की खिचड़ी बनकर रह गया था।”[33] दरअसल हिन्दू धर्म में अनेक कुरीतियों जैसे मूर्ति पूजा, बहु–देववाद, धार्मिक आडम्बर, अन्धविश्वास, सती प्रथा, बाल विवाह, कन्या वध, विधवा प्रथा, विदेश यात्रा का निषेध, ब्राह्मणों का प्रभुत्व एवं जन्म पर आधारित जातिभेद का बोलबाला था। सबसे ज्यादा दुर्भाग्यपूर्ण बात थी छुआछूत जिसके चलते ‘अस्पृश्यों’ को नागरिक तक का दर्जा भी हासिल नहीं था। निर्विवाद रूप से यह कहा जा सकता है कि हमारे अध्यायनकाल में हिन्दू समाज व्यवस्था काफी हद तक जड़तापूर्ण हो चुकी थी ।[34]

औपनिवेशिक भारत में विद्यमान सामाजिक जड़ता की सर्वव्यापकता के सम्बन्ध में बंगाल के विख्यात समाज सुधारक राजा राममोहन राय ने बताया है कि भारतीय समाज पर अंधविश्वासों का असर

इस हद तक फैला हुआ था कि धर्म के नाम पर पशु बलि, नर बलि और शारीरिक यातनाओं तक का सिलसिला चल रहा था। जन–मानस पर पुजारियों तथा धर्माचारियों का जबरदस्त असर था।

धार्मिक रिवाजों के नियमों की वे मनमाने ढंग से व्याख्या करते थे। इन पुजारियों ने धर्म को एक प्रकार की धोखाधड़ी और पाखण्ड में बदल दिया था। धर्मभीरू लोग विभिन्न देवी–देवताओं को तो पूजनीय मानते ही थे, इन पुजारियों की इच्छा, आज्ञा और मर्जी को भी 'ईश्वरीय आदेश' की तरह सिर झुका कर स्वीकार करते थे।[35] धर्म के नाम पर जादू–टोनों एवं तंत्र–मंत्र भी काफी फैले थे। तांत्रिकों के आचार–विचार तो बिल्कुल ही अनैतिक थे। वे समाज में भूत–प्रेतों का अंधविश्वास फैलाते थे और अपने झाड़–फूंक से उन्हें 'नियंत्रित' करने का दावा करते थे।[36] ऐसा कोई भी पारलौकिक या लौकिक काम नहीं था जिसे धर्म का नाम लेकर न कराया जा सके। हालात इतने खराब थे कि पुजारियों व धर्माचारियों की यौन तुष्टि के लिए महिलाएं खुद अपने आपको उन्हें 'देवदासी प्रथा' के नाम पर समर्पित कर देती थीं। कवि रवीन्द्रनाथ टैगोर के शब्दों में "भारत के इतिहास में रूके या बन्धे पानी की तरह स्थिर–परस्त होकर धर्मज्ञों ने सत्य के चिंतन और स्वतन्त्र जिज्ञासा के पथ को त्याग दिया था।"[37]

हमारे अध्ययनकाल में विभिन्न धर्मों के व्यक्तिगत कानूनों और धार्मिक प्रथाओं ने स्त्रियों को बहुत ही निम्न स्तर पर धकेल दिया था। परम्परागत दृष्टि से औरतों की माँ और पत्नी के रूप में तो प्रशंसा की जाती थी, लेकिन एक व्यक्ति के रूप में उनका स्थान पुरुषों से बहुत नीचे था।[38] सती हो जाना या किया जाना, नदियों में कन्याओं का 'अर्पण', भगवान जगन्नाथ के रथ के पहिए के नीचे पिसकर मर जाना आदि कृत्य धार्मिक दृष्टि से 'पुण्य–कार्य' समझे जाते थे समाज में महिलाओं को व्यक्तिगत स्वतन्त्रता नहीं थी, न ही उन्हें अपने व्यक्तित्व को विकसित करने का अधिकार ही था। उदाहरण के लिए हिन्दुओं में औरतें केवल एक बार विवाह कर सकती थी, जबकि हिन्दू पुरुषों को अपनी इच्छा अनुसार कितनी ही बार विवाह करने की स्वतन्त्रता थी। बंगाली समाज में 'कुलीन प्रथा' प्रचलित भी जिसके अन्तर्गत अर्थात् अभिजात्य वर्ग के लोगों द्वारा बहुत–सी स्त्रियों से विवाह करने का चलन था। ब्रिटिश–कालीन भारतीय समाज में पुरुषों के लिए बहु–विवाह की प्रथा मुसलमानों में भी मान्य थी। औरतों को पर्दे या बुरके में रहना पड़ता था। लड़कियों की बहुत कम उम्र में किसी भी उम्र

के व्यक्तियों से शादी कर दी जाती थी। हिन्दू महिलाओं को पैतृक सम्पत्ति हासिल करने का अधिकार नहीं थी। न ही विषम परिस्थितियों में उन्हें विवाह को समाप्त करने का अधिकार था। मुस्लिम औरतों को पुरुषों की तुलना में केवल आधी सम्पत्ति हासिल करने का अधिकार था। उन्हें सैद्धान्तिक रूप से तलाक का अधिकार तो था, पर इस मामले में उनका अधिकार पुरुषों के समान नहीं था।[39]

एक प्रसिद्ध मिसाल के अनुसार बंगाल के एक 80 वर्ष ब्राह्मण की करीब दो सौ पत्नियाँ थी। उसकी सबसे छोटी पत्नी की उम्र मात्र आठ साल थी।[40] ऐसी स्थितियों के कारण ही भारत में विधवाओं की संख्या बढ़ती चली गई। परन्तु विधवाओं को पुनः विवाह करने का अधिकार नहीं था। संक्षेप में, 19वीं शताब्दी में अधिकांश भारतीय महिलाएँ आर्थिक एवं सामाजिक तौर पर पुरुषों पर निर्भर थी। औरतों को लगभग किसी भी तरह की स्वतन्त्रता नहीं थी। सामान्यतः उन्हें पढ़ने–लिखने भी नहीं दिया जाता था।[41]

भारतीय समाज में जातिभेद लिंगभेद के समान एक बड़ी समस्या के रूप में पाया जाता था। जाति व्यवस्था पर आधारित भारतीय समाज की जड़ें प्राचीन–कालीन वर्ण व्यवस्था में पाई जाती थी। प्रसिद्ध मध्यकालीन यात्री अलबेरूनी के अनुसार हिन्दू अपनी जातियों को 'वर्ण' अथवा 'रंग' कहते थे। वे जाति का निर्धारण जन्म के आधार पर बताते हैं।[42] उनके अनुसार वर्ण आरम्भ में चार थे। सबसे उच्च वर्ण ब्राह्मणों का था। उसके बारे में हिन्दू धर्म ग्रन्थ कहते हैं कि वे "ब्रह्मा के सिर से उत्पन्न" हुए हैं। चूंकि शरीर का सबसे ऊँचा अंग सिर होता है, इसीलिए "ब्राह्मण सारी जातियों में श्रेष्ठ हैं।" दूसरा वर्ण क्षत्रियों का था जोकि "ब्रह्मा के कन्धों और हाथों से उत्पन्न हुए हैं।" उनकी प्रतिष्ठा ब्राह्मणों से कम नहीं थी। उनके पश्चात् वैश्य आते थे उनकी उत्पत्ति "ब्रह्मा की जांघों" से हुई थी। उनके पश्चात् शूद्रों का स्थान था, जिन्हें "ब्रह्मा के पैरों" से जन्मा बतलाया गया। प्रारम्भ में वैश्यों और शूद्रों के बीच कोई बहुत बड़ी दूरी नहीं थी। किन्तु कालान्तर में वैश्य अपनी आर्थिक हैसियत के कारण उच्च जातियों में गिने जाने लगे।[43] वर्ण के आधार पर प्राचीन काल में समाज का इस प्रकार किया गया विभाजन सिर्फ चार जातियों तक ही नहीं रुका। कालान्तर में वर्ण व्यवस्था ने जाति व्यवस्था को जन्म दिया जिसके अन्तर्गत न केवल वर्ण व्यवस्था जन्म आधारित हो गई , अपितु चार वर्णों के स्थान पर चार हजार से भी अधिक

जातियाँ अस्तित्व में आई। जातियों व्यवस्था के अन्तर्गत में काफी जटिल सामाजिक स्तरीकरण उत्पन्न हुआ।

जाति व्यवस्था की ऊँच–नीच की अवधारणा के चलते अस्पृश्यता की घृणित सामाजिक संस्था भी अस्तित्व में आई जिसके अन्तर्गत अनेकों निम्न जातियों को 'अस्पृश्य' वर्ग का दर्जा दे दिया गया।[44] हमारे अध्ययनकाल में 'अस्पृश्यों' का एक बहुत बड़ा वर्ग देश में पाया जाता था। वे लोग शूद्रों के बाद आते थे तथा 'अन्त्यज' कहलाते थे। वे समाज की तरह–तरह की सेवाएं करते थे उनकी गिनती किसी वर्ण में नहीं होती थी। वे अपने–अपने व्यवसायों के नाम से जाने जाते थे उनके मेहतर, धोबी, मोची, बाजीगर, टोकरी और ढाल बनाने वाले, मल्लाह, मछुवारे, जंगली पशु–पक्षियों का शिकार करने वाले, जुलाहे आदि मुख्य थे ं। वे लोग प्रायः गांवों एवं कस्बों से बाहर रहते थे।[45]

इस तरह छुआछात तथा जाति–पांति की भ्रान्त धारणाओं ने समाज में भाईचारे और एकता की भावनाएं समाप्त कर दी। वस्तुतः "वर्ण व्यवस्था का सिद्धान्त मनुष्य की मनुष्य के प्रति घृणा को दर्शाता था।"[46] इस प्रकार की मिथ्या धारणाओं ने भारतीय समाज को खोखला और आधारहीन बना दिया था। हिन्दुओं के बारे में अलबेरूनी ने लिखा है कि उनकी यह धारणा थी कि उनके जैसा देश, उनके जैसा समाज, उनके जैसा धर्म, ज्ञान और विज्ञान संसार में कहीं भी नहीं है। अलबेरूनी के अनुसार अगर कोई हिन्दू मुसलमान का कैदी बन जाता था, तो हिन्दू समाज उसे वापस नहीं लेता था। हिन्दू नहीं चाहते थे कि किसी 'अपवित्र' को फिर से 'पवित्र' किया जाए।[47]

श्रम का विशिष्टीकरण होने के फलस्वरूप ग्रामीण अर्थतन्त्र में परम्परागत जातिगत विचारधारा के आधार पर उपजातियों की संख्या में इजाफा हुआ। इसके चलते किसी ग्राम का संगठित रूप में विकसित होना कठिन हो गया, क्योंकि विविध जातियों एवं उपजातियों में अपने आपको पृथक् संगठन मानने की प्रवृत्ति पाई जाती थी।[48] चार मुख्य वर्ण अब भी एक छाते के समान थे जिसकी छाया में उपजातियाँ जन्म लेती और अपने अंतःजातिय सम्बन्ध बनाती रही। यद्यपि मोटे रूप से वे वर्ण व्यवस्था के प्राचीन सैद्धान्तिक ढांचे के अनुकूल थीं। परन्तु साथ ही स्थानीय जरूरतों और औचित्य के अनुसार इस ढांचे में संशोधन भी होते रहें। इस तरह भारतीय समाज का स्तरीकरण एवं वर्गीकरण वर्गों पर

आधारित न होकर पूर्णतः जातियों पर आधारित होकर रह गया था। साथ ही 19वीं शताब्दी तक भारतीय समाज में जातिया ें की संख्या इतनी अधिक बढ़ चुकी थी कि उन्हें निश्चित वर्ण विभाजन के अनुसार वर्गीकृत करना कठिन था। एक प्रान्त की कई जातियां दूसरे प्रान्त में अनुपस्थित थी या वहाँ की जातियों से भिन्न थी। विभिन्न प्रान्तों में जातिय नाम भी एक दूसरे से अलग–अलग थे ं। डी॰ एच॰ बुकानन के अनुसार दक्षिण भारत में ब्राह्मण समुदाय में ही दो हजार से अधिक श्रेणियां थी।[49] इस तरह 19वीं शताब्दी में हिन्दुस्तान के समाज को चातुवर्ण व्यवस्था के आधार पर समझा नहीं जा सकता था। अब देश में वैदिक कालीन वर्ण व्यवस्था विद्यमान नहीं थी। परम्परा, रीति, वंश, धर्म, पूजा, स्थानान्तरण, आर्थिक गतिविधियों आदि ने जातिगत ढांचे को अत्याधिक जटिल बना दिया था।[50]

भारत के परम्परागत जाति आधारित समाज पर इस्लाम के प्रभाव के सम्बन्ध में कुछ रोचक बातें सामने आते हैं। इस्लाम धर्म का हिन्दू समाज व्यवस्था पर दो प्रकार से प्रभाव पड़ा। प्रथम तो यह कि जिस तरह से कुछ मुस्लिम शासकों द्वारा हिन्दुओं को मुसलमान बनाने के प्रयास किए गए थे, उससे हिन्दू धर्मगुरुओं ने सोचा कि इस्लाम से बचाने का एकमात्र साधन यही है कि हिन्दुओं के आचार–विचार को इतना कट्टर बना दिया जाए कि हिन्दुओं द्वारा आसानी से धर्म परिवर्तन नहीं किया जा सके। इसलिए जाति–बंधन और धार्मिक नियम अत्यन्त कठोर बना दिए गए। दूसरा प्रभाव यह हुआ कि इस्लाम के सामाजिक सिद्धान्तों को कुछ हिन्दुओं ने अपनाना शुरू कर दिया। उदाहरण के लिए कई हिन्दू सन्तों ने आध्यात्मिक दृष्टि से सभी धर्मों एवं जातियों की समानता पर बल दिया और कहा कि मोक्ष प्राप्ति के लिए किसी विशेष जाति में जन्म लेना आवश्यक नहीं है। इसके फलस्वरूप निम्न जातिय हिन्दुओं की दशा में थोड़ा सुधार हुआ और उन्हें समाज में कुछ बेहतर स्थान प्राप्त हुआ।[51] परन्तु यह स्थिति ज्यादा देर तक नहीं बनी रह सकी। शीघ्र ही पहली प्रवृत्ति ज्यादा हावी हो गई, जिस कारण भक्ति आंदोलन जैसी धाराएँ क्षीण हो गई तथा 19वीं शताब्दी तक आते–आते निम्न जातियों की दशा वैसी ही आलोच्य होती गई।

उन्नीसवीं शताब्दी में अधिकांश भारतीयों का सामाजिक जीवन पूर्णतः 'वर्ण–धर्म' के नाम पर जाति प्रथा से संचालित था। इसका स्वरूप देश के विभिन्न क्षेत्रों में अलग–अलग था। एक जाति के

लोग अपने से नीची जाति के लोगों द्वारा पकाया भोजन नहीं ख ाते थे। विभिन्न जातियों में परस्पर वैवाहिक सम्बन्ध निषिद्ध थे ं। छोटे–छोटी बातों पर 'धर्म भ्रष्ट होने के खतरे' से अन्तर्जातिय सम्बन्ध असम्भव हो गए थे, जिससे समाज अनेक खांचों में बंटने लगा था।[52] जातियों के कुछ व्यापक 'वर्ग' अस्तित्व में आ गए थे। जैसे 'सवर्ण जातियां', 'द्विज जातियां' या 'उच्च जातियां', 'प्रभुत्वशाली जातियां', 'निम्न जातियां', 'अस्पृश्य जातियां' 'आदिवासी जातियां' आदि। प्रत्येक वर्ग में अनेक जातियां और उपजातियां शामिल थी। हिन्दुस्तान के अधिकांश प्रान्तों में ब्राह्मणों एवं उच्च जातियों ने जहां सामाजिक प्रतिष्ठा व सुविधाओं पर एकाधिकार हासिल कर रखा था, वहीं निम्न जातियों को इनसे वंचित रखा गया था। इस व्यवस्था में न केवल भारतीय समाज को संगठित नहीं होने दिया, बल्कि यह सामाजिक समरसता के विकास के मार्ग में बाधक बन गई।[53] भारत में जाति प्रथा ने कई सामाजिक विकृतियों एवं दोषों को जन्म दिया था। जाति किसी भी व्यक्ति के कार्य, परिस्थिति तथा उसके लिए उपलब्ध अवसरों के साथ–साथ उसकी कठिनाइयों को भी निर्धारित करती थी। विभिन्न जातियों , विशेषकर ऊँची व नीची जातियों के मध्य काफी भेदभाव व वैमनस्य विद्यमान था।[54] जात–पांति के कारण समाज में ऊँच–नीच को 'ईश्वरीय विधान' माना जाने लगा था। ऊँच–नीच का यह भेदभाव जन्म पर आधारित था।

लगभग हरेक विद्वान् इस बात पर सहमत प्रतीत होता है कि भारतवर्ष में जाति प्रथा को सार्वभौम बनाने में ब्राह्मणवादी विचारधारा की केन्द्रीय भूमिका रही है। जाति को धर्म का अंग बनाकर इस विचारधारा ने जाति प्रथा और हिन्दू धर्म को 'आविभाज्य' बना दिया।[55] जाति व्यवस्था नैतिक रूप से एक घिनौनी व्यवस्था थी। इससे हिन्दू सामाजिक संगठन बिल्कुल जड़वत हो गया। इसके कारण सामाजिक एकता छिन्न–भिन्न हो गई। आर्थिक व सामाजिक विकास के प्रायः सभी साधन और सुअवसर ऊँची जातियों के हाथ में थे। अतः कालान्तर में नीची जातियों का बहुसंख्यक समुदाय दरिद्र, अशिक्षित और पिछड़ा बन गया। इसका परिणाम थाः पूरे देश का पिछड़ापन और कमजोरी।[56] जाहिर है, जाति व्यवस्था ने भारत में देश प्रेम या राष्ट्रवाद जैसी भावना को उत्पन्न ही नहीं होने दिया था। इसी तरह, लोकतान्त्रिक विचारों के विकास में भी जाति व्यवस्था सबसे बड़ी बाधा बनी हुई थी।

जाति–आधारित समाज के बारे में स्वामी विवेकानन्द ने एक जगह लिखा था कि जाति भेद और जातिय अभिमान की मिथ्य ा भावना ने भारतीयों को अनगिनित वर्गों और उपवर्गों पर आधारित सैंकड़ों तरह के धार्मिक रीति–रिवाजों, आडम्बरों और शुद्धिकरण के नियमों में इस कदर बांध रखा था कि वे कोई जोखिम का काम हाथ में लेने लायक रह ही नहीं गए थे। जाति भेद एवं अस्पृश्यता की विकरालता को देखते हुए उन्होंने यहां तक कहा था कि ऐसा लगता है कि हमारा सारा अध्यात्मवाद मात्र 'मुझे मत छुओ–वाद' बन कर रह गया है।[57] जाहिर है, जाति और परम्परा का दबाव इतना व्यापक था कि समाज सुधारकों के अनुयायी तक इस जुए को उतार फेंकने में असमर्थ थे।

जैसा कि पहले जिक्र किया गया है, जाति व्यवस्था जनित भेदभाव के कारण सबसे अधिक दुर्दशा का शिकार निम्न जातियों में सबसे निचले पायदान पर मौजूद 'अस्पृश्यों' को बनना पड़ रहा था। अस्पृश्यों को अत्यन्त हीन दृष्टि से देखने के अतिरिक्त प्रताड़ित भी किया जाता था। वास्तव में अस्पृश्यता एक अनोखी व घिनौनी सामाजिक संस्था थी, जो भारत के अलावा संसार में कहीं भी नहीं पाई जाती थी। यद्यपि रोम में दासता, अफ्रीका में नस्लीय रंगभेद, जर्मनी में यहुदी–विरोध भी मिलती–जुलती प्रथाएं थी, परन्तु अस्पृश्यता की संस्था अपने आप में अनोखी व सबसे घृणित थी।[58] हमारे अध्ययनकाल में अस्पृश्यों को देश के विभिन्न हिस्सों में विभिन्न घृणित नामों से पुकारा जाता था। उन्हें 'बहिष्कृत',

'अस्पृश्य', 'पेरिया', 'पंचम', 'अतिशूद्र', 'अवर्ण', 'अन्त्यज', 'नामशूद्र' आदि कहा जाता था।[59] सार्वजनिक पनघटों व कुओं पर उन्हें पानी भरने से रोका जाता था। उनके बच्चों का पाठशालाओं में प्रवेश वर्जित था। स्वयं को 'हिन्दू' मानने वाले इन अभागे लोगों को हिन्दू मंदिरों में जाकर अपने ही अराध्य देवों के दश ार्न के लिए भी मनाही थी। उन्हें सुन्दर कपड़े व आभूषण पहनने, अच्छा भोजन करने और खाने हेतु बढ़िया बर्तन इस्तेमाल करने तक की भी मनाही थी। अछूतों को छूना, देखना, यहां तक की उनकी परछाई के पास जाना तक 'अधर्म' व 'पाप' समझा जाता था। शताब्दियों तक अछूत इस प्रकार के क्रूर सामाजिक दलन का शिकार बनाए गए। सवर्ण हिन्दुओं की कठोरता और नीची जाति में

जन्म लेने के दुर्भाग्य की वजह से अस्पृश्य समुदाय की दशा अत्यन्त हेय बन गई थी जिसे आसानी से बदला नहीं जा सकता था।[60]

ब्रिटिश राज ने अपने प्रशासन के द्वारा भारतीयां के लिए खोले। किंतु यहां भी अस्पृश्यों व अन्य निम्न जातियों के लोगों को पीछे ही रह जाना पड़ा। उन्हें अच्छी सरकारी नौकरियों, इज्जतदार धंधों या पुलिस व सेना जैसे विभाग में प्रवेश नहीं मिलता था।[61] उन्हें न अंग ढकने के लिए पूरे कपड़े मिलते थे, न भर पेट खाना, न आवास, और न ही वे राज्य या समाज में कोई प्रतिष्ठित स्थान हासिल कर सकते थे ऐसे में आश्चर्यजनक रूप से सामाजिक अन्याय एवं छुआछूत के विरुद्ध संघर्ष का नेतृत्व ब्रिटिश सरकार ने नहीं बल्कि प्रगतिशील भारतीयों ने ही किया जिनमें स्वामी विवेकानन्द जैसे प्रबुद्ध सुधारक अग्रणी थे।

भारतीय समाज सुधारकों में राजा राममोहन राय से लेकर स्वामी विवेकानन्द तक सभी ने देश में विद्यमान जातिभेद व लिंगभेद का विरोध किया। महात्मा ज्योतिबा फुले एवं डॉ॰ बी॰ आर॰ अम्बेडकर जैसे कुछ सुधारकों ने तो वर्ण व्यवस्था को लोकतंत्रात्मक व्यवस्था और मानवता की विरोधी तक ठहराया। [62] स्वामी विवेकानन्द ने भी बेशक तत्कालीन समाज में विद्यमान जाति पांति व छुआछूत जैसी प्रथाओं का विरोध किया।

इतना नहीं, उन्होंने हिन्दू धर्म एवं समाज के उत्पन्न हो चुकी तमाम विकृतियों एवं कुरीतियों का खण्डन किया तथा हिन्दू धर्म को पुनजीर्वित करने के गम्भीर प्रयास किए। उनका मानना था कि हिन्दू धर्म एवं संस्कृति के पुनर्जीवन का भारत के राष्ट्रीय पुनर्जीवन से गहरा सम्बन्ध है क्योंकि सांस्कृतिक राष्ट्रवाद हेतु हिन्दू धर्म एवं संस्कृति ही एक बड़े आधार शिला का काम कर सकती है। इससे पहले कि हम इस विषय में विवेकानन्द के योगदान पर चर्चा करें पहले हमें उनके जीवनवृत के विषय में जान लेना उपयुक्त होगा।

स्वामी विवेकानन्द : संक्षिप्त जीवन परिचय

आधुनिक भारत के समाज सुधारकों में स्वामी विवेकानन्द का नाम प्रमुख रूप से लिया जाता है। विवेकानन्द का जन्म 12 जनवरी 1863 ई0 को कलकत्ता में एक प्रसिद्ध वकील श्री विश्वनाथ दत्त और

मां भुवनेश्वरी के घर में हुआ था। बचपन में उनका नाम नरेन्द्र दत्त रखा गया। पिता ने प्रारम्भ से ही उनकी तार्किक बुद्धि को विकसित किया तथा मां ने पौराणिक इतिहास के प्रसंगों को सुनाकर उन्हें धार्मिक बनाया। नरेन्द्र एक बहुत ही चंचल और शरारती बालक थे। वे पढ़ाई और खेल दोनों में होशियार थे। उन्होंने वाद्य और गायन का भी प्रशिक्षण लिया। बहुत ही छोटी आयु में वे ध्यान लगाने का अभ्यास किया करते थे। बचपन से ही नरेन्द्र जाति और धर्म पर आधारित अंधविश्वासों और भेदभाव पर प्रश्न उठाया करते थे। बचपन में उनके मन में सन्यासियों के प्रति बहुत श्रद्धा व आदर के भाव थे। किसी साधु अथवा भिखारी द्वारा भीख मांगे जाने पर उनके पास जो भी होता, वे दे दिया करते थे। जाहिर है, अल्प आयु से ही उनमें दया भावना व करूणा जैसे महान गुण मौजूद थे[63]

छः वर्ष की अवस्था में नरेन्द्र को पाठशाला भेजा गया जहां उन्होंनें एक वर्ष के भीतर ही संस्कृत व्याकरण *मुग्धबोध* तथा *रामायण* और *महाभारत* के बहुत से श्लोकों को कंठस्थ कर लिया। सात वर्ष की अवस्था में उन्हें ईश्वरचन्द्र विद्यासागर द्वारा स्थापित एक शैक्षणिक संस्था में प्रवेश दिलाया गया, जहां उन्होने अंग्रेजी, बांग्ला साहित्य और भारतीय इतिहास का ज्ञान प्राप्त किया। प्रथम श्रेणी में हाई स्कूल परीक्षा पास करने के बाद वे कलकत्ता के प्रेसीडेन्सी कालेज में प्रविष्ट हुए।[64] यह उस समय का जाना–माना कालेज था और उमदा शिक्षा का केन्द्र माना जाता था।

नरेन्द्र ने कलकत्ता के ही स्कॉटिश चर्च कालेज में दर्शन शास्त्र का अध्ययन किया। इसी कालेज में उन्होंने पश्चिमी सोच, पश्चिमी दर्शनशास्त्र एवं यूरोपीय देशों का इतिहास पढ़ा। उच्च शिक्षा ग्रहण करने के साथ उनकी विचारधारा भी प्रगाढ़ होती रही।[65] वे आरम्भ से ही प्रतिभाशाली छात्र रहे। अपनी असाधारण बुद्धि और प्रतिभा से उन्होंने अपने भारतीय और अंग्रेज प्राध्यापकों को प्रभावित किया। उसके सभी अध्यापक उनकी प्रतिभा पर मंत्रमुग्ध थे। उनके एक अध्यापक विलियम हेस्टी दर्शनशास्त्र व साहित्य के अच्छे ज्ञाता थे ं।

एक दिन कालेज की दार्शनिक कल्ब में नरेन्द्र ने जिस प्रकार से किसी मत का सूक्ष्म विश्लेषण किया, उसे देखकर वे झूम उठे वे बोले, "नरेन्द्र दर्शनशास्त्र का सर्वश्रेष्ठ छात्र है। भारत, जर्मनी और

इग्लैण्ड के तमात विश्वविद्यालयों में सम्भवतः एक भी ऐसा छात्र नहीं है, जो इसके सामान मेधावी हो।"[66]

1884 में नरेन्द्र नाथ दत्त ने बी॰ए॰ पास कर लिया। दुर्भाग्यवश इसी वर्ष उनके पिता का स्वर्गवास हो गया। यद्यपि उनके पिता सम्पन्न थे, परन्तु अपरिमित व्यय एवं दान आदि के कारण वे परिजनों के लिए ज्यादा सम्पत्ति छोड़कर नहीं जा सके, बल्कि कुछ ऋण ही रख गए थे ऐसे में अब नरेन्द्र के जीवन में एक संकटमय परिस्थिति आन खड़ी हुई। उनके सम्मुख पहला प्रश्न था : माता, भाई–बहन आदि छह–सात लोगों के गुजारे की व्यवस्था कैसे हो? समय देखकर लेनदार आदि भी आ धमके। नरेन्द्र के जीवन में निर्धनता के साथ यह पहला सामना था। इस संकट की घड़ी में विचलित होकर वे कलकत्ता के दक्षिणेश्वर मन्दिर में देवी काली के समक्ष '**संकट–निवारण प्रार्थना**' करने भी गए।[67]

नरेन्द्र केवल मेधावी ही नहीं, जिज्ञासु और विचारश ील भी थे। जहां भी वे जाते, उन्हें प्रथम स्थान मिलता। हर बात में 'निजी अनुभव' का उनका आग्रह बाल्यकाल से ही था। उनका एक ओर अध्यात्मिकता के प्रति जन्मजात झुकाव था तो दूसरी ओर प्रखर मेधायुक्त अपनी विचारशील तार्किक बुद्धि के चलते वे हर चीज को अनुभव से जानना चाहते थे।[68] इस कारण उनके मन में ईश्वर के अस्तित्व पर शंकाएं उठने लगीं। इसके चलते वे ब्रह्म समाज से जुडे, जो केशवचन्द्र सेन के नेतृत्व में उस समय बंगाल की एक महत्वपूर्ण धार्मिक संस्था बन गई थी। परन्तु समाज द्वारा आयोजित सामूहिक प्रार्थना, सभाएं व भजन कीर्तन ईश्वर के प्रति नरेन्द्र के मन की जिज्ञासा को शांत नहीं कर पाए। वस्तुतः ब्रह्म समाज की विचारधारा विवेकानन्द की अनंत आध्यात्मिक भूख को तृप्त नहीं कर पायी। बड़ी बेबाकी से वे लोगों से पूछते कि क्या उन्होंने कभी भगवान को देखा है? सबका उत्तर नहीं में होता।

इसी दौरान नरेन्द्र को दक्षिणेश्वर मन्दिर के रामकृष्ण परमहंस के बारे में पता चला जो कि माता काली के मन्दिर में पुजारी थे ं।[69] परमहंस के साथ नरेन्द्र का प्रथम मिलन 1881 में सुरेन्द्रनाथ के मकान पर हुआ। प्रारम्भ में अपनी संशयवादी दृष्टि के अनुरूप उन्होनें परमहंस की बातों को भी संयश की दृष्टि से देखा। हालांकि परमहंस ने अपने अनुभव के बल से नरेन्द्र की क्षमताओं को तुरन्त पहचान लिया था। उन्होंने कहा कि "मैं जानता हूँ आप स्वयं नारायण के अवतार हैं, जिसने मानवता का उद्धार

करने के लिए इस पृथ्वी पर जन्म लिया है।"[70] स्पष्ट है कि रामकृष्ण ने नरेन्द्रनाथ को 'दरिद्र नारायण के उद्धारक' के रूप में पहचान लिया था।

बेशक नरेन्द्रनाथ भी रामकृष्ण से प्रभावित हुए। लेकिन वे गुरू की आवश्यकता, मूर्तिपूजा और कर्मकाण्ड को नहीं मानते थे । रामकृष्ण ने धैर्य के साथ उन्हें कहा कि वे समय आने पर बताएँगे कि उपरोक्त बातों की क्यों आवश्यकता है? एक बार रामकृष्ण ने उनसे पूछा कि "जब तू मेरी बातों पर विश्वास नहीं करता तो मेरे पास आता ही क्यों है?" नरेन्द्र ने उन्हें तत्काल उत्तर दिया, "क्योंकि मैं आपसे प्यार करता हूँ । पर इसका मतलब यह नहीं कि बिना सोचे विचारे मैं आपकी बातों को मान लूँ।"[71]

प्रारम्भिक संशय, उलझन एवं प्रतिवाद के बाद उन्होनें स्वामी रामकृष्ण परमहंस को ही अपने गुरू एवं मार्ग–प्रदर्शक के रूप में स्वीकार किया।[72] उनके मार्गदर्शन में उन्होंने पांच साल तक अद्वैत वेदान्त के दर्शन का गहन प्रशिक्षण लिया। रामकृष्ण अपने शिष्य में सोई हुई आध्यात्मिक चेतना को जगाने में सफल रहे। उन्होंने अपने आचरण से नरेन्द्र को मानव तथा जीव के प्रति दया तथा करुणा का पाठ पढ़ाया। यही कारण है कि जब नरेन्द्र 'विवेकानन्द' बने, तो उन्होनें दरिद्र को 'दरिद्र नारायण' कहा और पापी को 'पापी रूपी ईश्वर' कहा।[73]

ऐसा प्रतीत होता है कि रामकृष्ण परमहंस के आध्यात्मिक पथ–प्रदर्शन से कहीं अधिक उनके असीम स्नेह ने नरेन्द्र का हृदय जीत लिया था। गुरूदेव की बीमारी के समय वे उन्हें चिकित्सा के लिए कलकत्ता के निकट काशीपुर ले गए। रामकृष्ण ने अपने युवा शिष्यों को नरेन्द्र के नेतृत्व में इकट्ठा करने हेतु इस अवसर का प्रयोग किया। उन्होंने यहीं पर नरेन्द्र को अपना उत्तराधिकारी घोषित करते हुए कहा कि "तुम्हें संसार में महान कार्य करने होंगें।"[74] 1886 ई0 में रामकृष्ण के निधन के बाद उन्होंने अपने जीवन का मिशन गुरू के आदेश को पूरा करना बना लिया।[75]

नरेन्द्रनाथ ने कुछ दिन दृढ़तापूर्वक गुरुकुल का संचालन किया। वे सभी साथियों के साथ दार्शनिक और धार्मिक समस्याओं पर वाद–विवाद करते थे। उसको शीघ्र ही अहसास हुआ कि एक 'महान लक्ष्य' उनकी प्रतिक्षा में है। 1890 में वे अपने गुरु भाइयों से विदा लेकर एक अज्ञात परिव्राजक

सन्यासी के रूप में गुरूकुल से निकल गए। अब तक उनके दृष्टिकोण में एक विलक्षण परिवर्तन आ चुका था।[76] भारत की विशालता में स्वयं को विलीन कर देने की इच्छा से अपना परिचय गोपनीय रखते हुए वे भिन्न–भिन्न नाम ग्रहण करते हुए भ्रमण करते रहे। पहले वह हिन्दुओं के पवित्रतम तीर्थ स्थल वाराणसी गये। वाराणसी से वे लखनऊ, आगरा, वृन्दावन, हाथरस तथा ऋषिकेश में कुछ समय बिताने के बाद वे आगे बढ़ गए।

इस भ्रमणकाल से नरेन्द्रनाथ ने संयुक्त प्रदेश, राजस्थान, गुजरात, बम्बई (महाराष्ट्र), मद्रास (तमिलनाडु), कर्नाटक, हैदाराबाद और केरल के अनेक धार्मिक तथा ऐतिहासिक स्थानों की यात्रा की। सभी जगह प्राचीन भारत का धार्मिक, ऐतिहासिक और सांस्कृतिक गौरव उनके समक्ष प्रत्यक्ष होता रहा। परन्तु साथ ही उन्होंने भारत के दरिद्र लोगों की दुर्दशा भी जगह–जगह देखी।[77] नरेन्द्र के लिए व्यक्तिगत मोक्ष पर्याप्त नहीं था। उनका मन भारत की गरीबी भोग रही जनता के लिए तड़पता था। उनको अहसास हुआ की मानवता की सेवा ही प्रभु–सेवा का उत्तम मार्ग है। इसी कारण बाद में उन्होंने रामकृष्ण मिशन के सिद्वान्तों में सामाजिक सेवा को महत्वपूर्ण स्थान दिया।[78]

भारत–भ्रमण के दौरान ही उन्हें भारत की आध्यात्मिकता व सांस्कृतिक एकता का ज्ञान हुआ। साथ ही समकालीन भारत की पत्तनोमुख धार्मिक–सामाजिक स्थितियों से भी वे रूबरू हुए। इस दौरान नरेन्द्रनाथ की अनेक देशी राज्यों के राजाओं तथा प्रमुख व्यक्तियों से भेंट हुई। इनमें से एक खेतड़ी के राजा अजीत सिंह भी थे जो उनके धनिष्ट मित्र तथा शिष्य बन गए। ऐसा माना जाता है कि उन्हें 'विवेकानन्द' का नाम उनके अच्छे और बुरे में फर्क करने के गुण के कारण खेतड़ी के राजा द्वारा ही दिया गया। अपनी इस यात्रा के दौरान विवेकानन्द ने महलों के साथ–2 गरीबों की झोपडियों में भी वक्त गुजरा। उनका वास्ता भारत के विभिन्न क्षेत्रों की संस्कृतियों और विभिन्न वर्गों के लोगों से पड़ा। उन्होंने महसूस किया कि यदि भारत को अपना अस्तित्व बनाए रखना है तो राष्ट्रीय स्तर पर एकजुटता की आवश्यकता है।

24 दिसम्बर 1892 को स्वामी विवेकानन्द कन्याकुमारी पहुंचे जो भारतीय उपमहाद्वीप के सुदूर दक्षिण में स्थित है। वे सागर में तैरकर एक विरान चट्टान पर जा पहुंचे और साधना में लीन हो गए।

तीन दिन साधना में बैठे रहने के बाद उन्होंने भारत के भूत, वर्तमान और भविष्य पर चिंतन किया था। यह चट्टान अब विवेकानन्द के स्मारक के रूप में जानी जाती है। अपनी इस यात्रा के दौरान उन्होंने अपनी आंखों से देखा कि वह भारत, जो प्राचीनकाल के सुख–समृद्वि व सभ्यता के उच्च शिखर पर था, आज अज्ञानता, दरिद्रता व बीमारी में डूबा हुआ है। इसी अहसास के चलते उन्होंने भारत की इन बुराईयों को दूर करने का प्रण लिया।[79]

अपनी यात्रा के बीच मे जब वे खंडवा थे, उन्हें पता चला कि अमेरिका के शिकागो नगर में 'धर्म संसद' हो रही है। मद्रास में उनके कुछ उत्साही शिष्यों ने उन्हें हिन्दू धर्म के प्रतिनिधि के रूप में इस सम्मेलन में सम्मिलित होने का आग्रह किया। यहां तक कि उन्होंने धनराशि भी एकत्र कर ली। जब विवेकानन्द को पता चला तो उन्होंने अपने शिष्य अलसिंगा पेरूमल से कहा कि "अभी मुझे मां का आदेश नहीं मिला है, अतः यह धनराशि गरीबों में बांट दो।" यह सुनकर शिष्य बहुत निराश हुए। परन्तु गुरू की आज्ञा का पालन करना ही था, इसलिए पैसे दान कर दिए। अचानक हैदराबाद रियासत से उन्हें निमंत्रण आया। वे हैदराबाद पहुंचे और वहां के प्रधानमन्त्री तथा अन्य अधिकारियों से मिले। सबने सहायता करने का वचन दिया। सबसे महत्वपूर्ण मिलन हुआ नवाब सर खुर्शीद जाह से। स्वभाव से उदार जाहसाहब ने को अपनी ओर से एक हजार रूपए की सहायता देने का वचन दिया।[80] इस तरह सबने मिलकर विवेकानन्द को अमेरिका जाने के लिए मानसिक रूप से तैयार किया। किंतु वे अभी भी संकोच में थे।

हैदराबाद से निकल कर विवेकानन्द मैसूर पहुंचे। यहीं एक दिन उन्हें स्वप्न आया कि उनके गुरू रामकृष्ण परमहंस समुद्र की लहरों पर चलते हुए उन्हें अपने पीछे–पीछे आने के लिए कह रहे हैं। उन्हें लगा की नियति उन्हें विश्व धर्म संसद की ओर खींच रही है। अब उनके उत्साही शिष्य अलसिंगा पेरूमल को उन्होंने आदेश दिया :

"यदि जगन्माता की इच्छा है कि मैं शिकागो जाऊं तो मुझे जाना ही होगा। मैं वहां हिन्दू धर्म का प्रतिनिधित्व करूं, यह भी अनुचित नहीं है। पर क्या हिन्दू साधारणजन मुझे वहाँ भेजना चाहते हैं?

केवल राजा–महाराजाओं से सहायता न लेकर जन साधारण से सहयोग लेकर धन संग्रह करो।"[81]

फलतः लोगों से धन एकत्रित किया गया।[82] इसी बारे में उन्होंने एक अन्य स्थान पर कहा :

"मैं सारे भारत में घूम रहा हूं। पर हे बन्धुओं,

यह मेरे लिए दारूण कष्टदायी था, मैने जनसाधारण की भंयकर निर्धनता और पीड़ा को अपनी आंखों से देखा और अपने आँसू न रोक सका। अब मेरा यह दृढ़ विश्वास है कि बिना पहले उनकी गरीबी और कष्टों को दूर किए, उनमें धर्म का प्रचार करना व्यर्थ है। इसी कारण दरिद्र भारत की मुक्ति के साधन जुटाने के लिए मैं अमेरिका जा रहा हूं।"[83]

अन्ततः विवेकानन्द का शिकागो जाना निश्चित हुआ। वे खेतड़ी गए। वहां उनके मित्र राजा ने अपने दीवान को उनके साथ बम्बई भेजा। वहां उन्हें समुद्री जहाज पर सवार होना था। प्रस्थान के समय उन्होनें लाल रेशम का अंगरखा और गेरूई पगड़ी पहनी हुई थी। विवेकानन्द एक अनजान पथ पर बेझिझक आंख मूंद कर चल पड़े थे[84] उन्होंने सिर्फ इतना सुना था कि अमरिका में किसी दिन किसी स्थान पर सर्वधर्म सम्मेलन होने जा रहा है। न उन्हें तारीख का पता था न उसमें सम्मिलित होने की शर्तों का। वे अपने साथ एक प्रमाण पत्र तक न ले गए थे। खेतड़ी के महाराजा ने उन्हें जहाज का टिकट ले दिया था। उन्होनें 31 मई 1893 को बम्बई छोड़ा। वे श्रीलंका, देनांग, सिंगापुर, हांगकांग व कैंटन होते हुए नागासाकी पहुंचें। यहां से वे भूमि मार्ग से योकोहामा, ओसाका देखते हुए क्योटो और टोकियो गए। वे जापान से वेकुंवर गए और वहां से रेलगाड़ी द्वारा जुलाई के मध्य में बदहवास हालत में शिकागो पहुंचे।[85]

शिकागो पहुंचने पर विवेकानन्द अमेरिका की शक्ति, सृजनात्मक प्रतिभा और समृद्धि को देखकर आश्चर्यचकित हुए। वहां जाकर उन्हे पता चला कि धर्म सम्मेलन सितम्बर के पहले सप्ताह तक स्थगित कर दिया गया है। उन्हें यह भी ज्ञात हुआ कि किसी प्रतिष्ठित संस्था का प्रमाण पत्र लाये बिना

कोई व्यक्ति इस सभा का प्रतिनिधि नहीं बन सकता। उन्हें यह भी बताया गया कि प्रतिनिधियों के लिए नामाकंन पत्र भरने की तिथि अब निकल गई है। यह सब उनके लिए अप्रत्याशित था। उन्हें यह चिंता सताने लगी कि आखिर शिकागो सम्मेलन में किस प्रकार भाग लिया जाए।[86]

अब वे बोस्टन चले गए जो शिकागो की तुलना में कम खर्चीला शहर था। एक दिन बोस्टन में एक ट्रेन से यात्रा कर रहे थे, तभी उसमें मैसेच्युसेटस की एक धनी महिला से उनकी भेंट हुई जो हिन्दू दर्शन व भारत में रूचि रखती थी। उस महिला ने स्वामी से धर्म व ईश्वर के विषय में कुछ प्रश्न किए। विवेकानन्द के उत्तर सुनकर उनके ह्दय में उनके प्रति श्रद्धा उत्पन्न हो गई। वृद्ध महिला ने उनको अपना आतिथ्य स्वीकार करने की प्रार्थना की और इस तरह वे उसके अतिथि बन गए।[87] इस महिला ने स्वामीजी का परिचय हावर्ड विश्वविद्यालय के यूनानी विभाग के प्रोफेसर जे॰ एच॰ राइट से

कराया। प्रो॰ राइट विवेकानन्द की विद्वता और ज्ञान से इतने अधिक प्रभावित हुए कि उन्होंने अपने मित्र और धर्म संसद के प्रतिनिधियों की चयन समिति के अध्यक्ष डा॰ वैरो के नाम एक पत्र लिखा। उन्होनें स्वामीजी को शिकागो के लिए एक रेलवे टिकट और चयन समिति के लिए एक संस्तुति पत्र दिया जिसमें कहा गया था कि "स्वामी जी धर्म संसद में हिन्दू धर्म का प्रतिनिधित्व करेंगें।"[88] परन्तु धर्म संसद कार्यालय का पता खो जाने पर वे नहीं जानते थे कि अब वे कहां जाऐं। किसी से कोई सहायता मिलने की आशा भी नहीं थी। रात्री को भयानक ठण्ड से बचने के लिए उन्होंने शिकागो स्टेशन पर ही कोने में पड़े लकड़ी के एक खाली बक्से में आश्रय लिया। सुबह होते ही वे स्वयं मार्ग की तलाश में निकले। भारतीय होने के कारण उन्हें अपमान भी सहना पड़ा। काफी देर भटकने के बाद एक गली में बैठ गए। ऊपर की खिड़की से किसी ने देखा और पूछा कि वह सर्वधर्म सम्मेलन के प्रतिनिधि तो नहीं हैं? उन्हें अन्दर बुलाया गया और भाग्य ने उन्हें एक ऐसा अनुयायी दिया जो उनके अमेरिकी शिष्यों में सबसे निष्ठावान सिद्व हुआ। जिस महिला ने उन्हें बुलाया था वे मिसेज जार्ज डब्लयू0 हेल थी। उन्होनें उन्हें भोजन कराया और फिर वे उन्हें धर्म महासभा कार्यालय ले गई। वहां उन्हें सहर्ष प्रतिनिधि के रूप में स्वीकार किया गया और अन्य प्राच्य प्रतिनिधियों के साथ ठहरा दिया गया।[89]

सोमवार 11 सितम्बर 1893 को **धर्मसंसद** का प्रथम अधिवेशन शिकागो के नगर हाल में प्रारम्भ हुआ। यहां पर सभी धर्मों के प्रतिनिधि उपस्थित थे। 'आर्ट इंस्टीटयूट' का विशाल भवन लगभग 7000 प्रतिनिधियों से भरा था।[90] इस सम्मेलन के आयोजन से सम्बन्धित अनेक ऐसे व्यक्ति भी थे जो किसी विशेष धर्म के बंधन में नहीं बंधे थे और '**मानव धर्म**' पर विश्वास करते थे जब विवेकानन्द बोले तो उन्होंने श्रोताओं को झकझोर कर रख दिया। "मेरे अमेरिका के बहनों और भाईयों"— मुश्किल से वे ये सरल प्रांरम्भिक शब्द कह पाये थे कि सैकड़ो लोग अपने स्थानों पर खड़े होकर करतल ध्वनि करने लगें।[91] विवेकानन्द को आश्चर्य हुआ, क्या वे वास्तव में उनका अभिननदन कर रहे थे? वे सचमुच पहले व्यक्ति थे जिसने सम्मेलन की औपचारिकता तोड़ फेंकी और जनता से सहज भाषा में बात की जिसकी वह प्रतीक्षा कर रही थी। [92] वे पहले व्यक्ति थे जिसने श्रोताओं से इतनी मधुर भाषा में बात की थी। जब मौन छा गया उन्होंने **"धर्मों में सबसे पुरातन हिन्दू धर्म की ओर से राष्ट्रों में तरुणतम् राष्ट्र अमेरिका"** का अभिनन्दन किया।[93] उन्होंने सनातन धर्म को 'सब धर्मों की जननी' के रूप में प्रस्तुत किया, जिसकी शिक्षा थी :

"एक दूसरे को समझो और स्वीकार करो । किसी भी रूप में जो मेरे (ईश्वर के) पास आएगा, उसको मिलूंगा। सब मनुष्य विभिन्न मार्गों से मुझ तक पहुंचने के लिए प्रयास कर रहे हैं सब अन्त में मेरे पास ही पहुंचेगें।"[94]

अन्य सभी वक्ताओं ने अपने ही ईश्वर और अपने ही सम्प्रदाय की बात की थी। सिर्फ विवेकानन्द ही अकेले थे, जिन्होनें 'सबके ईश्वर' की चर्चा की। दूसरे दिन समाचार पत्रों ने उन्हें "धर्म महासभा का सर्वश्रेष्ठ प्रतिनिधि" घोषित किया। *न्यूयार्क हेराल्ड* ने विवेकानन्द के बारे में लिखा :

"वे धर्म सम्मेलन के निसंदेह सबसे महान व्यक्ति हैं। उनको सुनने के बाद हमें यह अहसास हुआ कि वे इतने ज्ञानवान देश में धर्म प्रचारकों को भेजना हमारी कितनी बड़ी भूल थी।"[95]

इसी तरह इण्डियन मिरर नामक पत्रिका ने लिखा था :

“स्वामी विवेकानन्द के बड़े–बड़े चित्र शिकागो नगर में रास्तों पर लटका कर रखे गए हैं। और उनके नीचे लिखा है : सन्यासी विवेकानन्द, विभिन्न सम्प्रदायों के हजारों व्यक्ति इन चित्रों के प्रति भक्ति के साथ सम्मान प्रदर्शित करते हुए चले जा रहे हैं।”[96]

धर्म सभा की समाप्ति के साथ–साथ विवेकानन्द ‘स्वामी’ के नाम से भी जाने जाने लगे। इसके पश्चात् वे प्रायः अमेरिका के अनेक भागों में निरंतर व्याख्यान देने में व्यस्त हो गए।

शिकागो सम्मेलन में सफलता प्राप्त होने के कारण विवेकानन्द का उत्साह और बढ़ गया। वह अमेरिका में तीन वर्ष तक रुके रहे और यहां–वहां भ्रमण करते हुए लोगों में वेदांत की शिक्षा का प्रचार किया। इसी बीच वह तीन मास के लिए इंग्लैण्ड चले गए। इंग्लैण्ड में भी अनेक लोगों ने उनका शिष्यत्व ग्रहण किया था जिसमें सेवियर और उनकी पत्नी भागिनी नेवेदिता एवं ई॰ टी॰ स्टर्डी के नाम उल्लेखनीय है। उनके इंग्लैण्ड प्रवास के समय प्रो॰ मैक्स मूलर ने भारतीय दर्शन के विशेष के रूप में उन्हें विशेषज्ञ रूप से निमंत्रण देकर अपने घर बुलाया।

विवेकानन्द अमेरिका में अपने कार्य को संगठित करना चाहते थे अतः वे वहां पुनः लौट आए और न्यूयार्क में *‘वेदान्त सोसायटी’* की स्थापना की। इस सोसायटी द्वारा कर्मयोग, भक्तियोग और ज्ञानयोग पर उनके दिए हुए भाषणों का पुस्तकाकार प्रकाशन हुआ।[97]

1896 के ग्रीष्मकाल में यूरोप यात्रा के दौरान प्रसिद्व जर्मन प्राच्यविद पॉल डॉयसन से उनकी भेंट हुई। 1896 के अंतिम दिनों में वे भारत के लिए रवाना हुए। अपने अमेरिकी तथा अंग्रेज शिष्यों के अतिरिक्त अपने गुरू भाईयों ‘शारदानन्द’ तथा ‘अभेदानन्द’ को भी वे पश्चिम में ‘वेदांत कार्य’ चलाने के लिए अपने पीछे छोड़ आए।[98] स्वामी विवेकानन्द की स्वदेश वापसी की खबर भारत में शीघ्र ही फैल गई। बड़े–बड़े नगरों में समाज के सभी वर्गों ने मिलकर उनके स्वागत के लिए समितियाँ गठित की। सड़कों पर विजय तोरण बनाए गए। 15 जनवरी 1897 को उनके आगमन पर कोलम्बों के बन्दरगाह पर एकत्रित विराट भीड़ के तुमुल जयघोष से आकाश गूंज उठा। मद्रास की जनता ने नौ दिन तक उनके स्वागत में उत्सव मनाया।[99] विवेकानन्द भारत की नैतिक–आध्यात्मिक विश्व विजय के प्रतीक बन चुके थे। उन्होंने घोषणा की :

"मैं उन सभी धर्मों को स्वीकार करता हूं जो पहले से चले आ रहे हैं और उन सब की पूजा करता हूं। इन धर्मों में जिस तरह भी भगवान की पूजा होती है, मैं भी उस रूप मे उसे पूजूंगां। मैं मुसलमानों की मस्जिद में जाऊंगा, ईसाईयों के गिरजे में जाकर सलीब के सामने सिर झुकाऊंगा, बुद्ध विहार में भगवान बुद्ध और उनके धर्मचक्र की शरण लूंगा। मैं वन में जाकर उस हिन्दू साधु के साथ बैठकर साधना करूंगा जो उस ज्योति को देखने का प्रयत्न कर रहा है जिससे सब ह्दय आलोकित है। मैं केवल यहीं सब नहीं करूंगा बल्कि भविष्य में जो कुछ आने वाला है उसके स्वागत के लिए अपने मन के द्वार खुले रखूगां। *बाईबल, वेद, कुरान* और अन्य सभी धर्मग्रन्थों में बहुत सारे पृष्ठ हैं, और अभी कई और पृष्ठ भी खुलने वाले हैं। मैं अपना ह्दय इन सब के लिए खुला रखूगां।"[100]

1897 में विवेकानन्द ने रामकृष्ण मिशन का गहन किया। इस मिशन को तीन कार्य सौंपें गए: पहला वेदान्त के अध्यात्मवाद का संदेश दूर–दूर तक प्रसारित करना; दूसरा, विभिन्न धर्मों और सम्प्रदायों के बीच समन्वय और सद्भाव स्थापित करना; और तीसरा, मानव सेवा को ईश्वर सेवा समझना ।[101] सन् 1898 के आरम्भ में स्वामी विवेकानन्द ने गंगा के पश्चिमी घाट पर बेलूर नामक स्थान पर मठ बनाने के लिए भूमि का एक बड़ा हिस्सा खरीद लिया। पहले इस मठ का संचालन बारानगर से होता था। दो साल बाद स्वामी ने इसे 'रामकृष्ण मठ' के नाम से पंजीकृत करवाया। इस मठ में उन्होंने जीवन शैली का एक नायाब ढंग शुरू किया जिसमें प्राचीन सन्यासी जीवन का संगम आधुनिक जीवन शैली के साथ किया गया।[102]

20 जून, 1899 को विवेकानन्द तुरीयानन्द तथा भागिनी निवेदिता के साथ दूसरी बार विदेश यात्रा को रवाना हुए। इस विषय में निवेदिता ने लिखा था :

"प्रारम्भ से अन्त तक प्रवचनों, दृष्टांतो तथा कथाओं का प्रवाह सा चलता रहा। इस अवधि में उनका कार्यक्रम अत्यन्त व्यापक रहा। अब उन्हें यह दृढ़ विश्वास हो गया था कि पूर्व और पश्चिम को पारस्परिक सहयोग करने की अत्यन्त आवश्यकता है।"[103]

विवेकानन्द के स्वास्थ्य की दृष्टि से यह यात्रा लाभप्रद रही। आगामी जून तक विवेकानन्द ने पश्चिम तट की विस्तृत यात्रा की तथा अनेक व्याख्या दिये। अपनी प्रथम यात्रा में उपेक्षित रहे इस भाग की मानो इस बार उन्होंने क्षतिपूर्ति कर दी। इस अवधि में उनका कार्यक्रम अत्यन्त व्यापक रहा।

स्वामी तुरीयानन्द के संचालन में उत्तर केलिफोर्निया के सेन फ्रांसिस्कों में 'वेदांत–केन्द्र' की स्थापना की गई। 1 अगस्त 1900 को वे पेरिस पहुंचें। पेरिस में 'कांग्रेस ऑफ हिस्ट्री ऑफ रिलिजंस' (धर्मों के इतिहास का सम्मेलन) में भाग लिया।[104] अक्तूबर में वे कुछ मित्रों के साथ पेरिस से हंगरी, रोमानियाँ, सर्बिया तथा बुल्गारिया होते हुए कान्सटेंटिनोपल पहुंचें। वहां से वे एथेन्स तथा काहिरा गए। काहिरा से विवेकानन्द अकस्मात् भारत जाने के लिए आतुर हो उठे। बिना किसी पूर्व सूचना के वे 9 दिसम्बर 1900 को बेलूर मठ पहुंचे।[105]

इसी बीच श्री सेवियर नामक उनके शिष्य का देहांत 24 अक्तूबर 1900 को हिमालय में उनके बनाए हुए आश्रम में हो गया था। विवेकानन्द ने यह समाचार अपने लौटने पर सुना। श्रीमति सेवियर को सांत्वना देने के लिए ने तत्काल मायावती के लिए रवाना हुए। 3 जनवरी 1901 को वे मायावती पहुंचे। पर्वत शिखर पर खड़े होकर आश्रम के सौंदर्य को निहारने के बावजूद वे वहां एक पखवाड़े से अधिक नहीं ठहर सके। दमा का रोग उनका दम घोट रहा था।[106] थोड़े से ही शारीरिक श्रम से वे थक जाते थे। उन्होंने लिखा, **"मेरा शरीर अपना कार्य कर चुका है।"** 18 जनवरी 1901 को उन्होनें मायावती छोड़ा। 24 जनवरी को बेलूर मठ में पुनः प्रवेश लिया। 4 जुलाई 1902 को उन्होनें प्रातः आठ से ग्यारंह बजे तक ध्यान किया। शाम को अपने कमरे में जाकर उन्होंने लगभग एक घण्टे पुनः ध्यान किया। फिर वे शांत भाव से लेट गए तथा कुछ समय पश्चात् श्वास लेकर अनन्त शान्ति में लीन हो गए।[107]

स्वामी विवेकानन्द अपने समय पर अपनी अमिट छाप छोड़ गए थे वे अपने समय की आवश्यकता थे वे नये भारत की नव चेतना के प्रतीक थे उन्होनें सांस्कृतिक राष्ट्रवाद का नवसृजन किया, भूले हुए आध्यात्मवाद को पुर्नजीवित किया और सामाजिक सुधार का मार्ग प्रशस्त किया। इस प्रकार आधुनिक भारत के लिए वे प्रेरणा, विश्वास और राष्ट्रीय गर्व के स्त्रोत बने।[108]

शोध का महत्व एवं आवश्यकताः

प्राचीन काल में और मानव की आदि संस्कृतियों में राष्ट्रवाद की भावना विद्यमान रही है। मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है जिसके कारण उसमें मिलजुल कर रहने की भावना रही है। जिन लोगों की नस्ल, धर्म, भाषा, रीति–रिवाज एवं ऐतिहासिक परम्परायें समान रही हैं, वे एक संगठन के अन्तर्गत रहे। पहले इनका नाम जन या कबीले हुआ और काफी समय बाद एक निश्चित स्थान पर बस जाने के कारण राज्य का धीरे–धीरे विकास हुआ। इन राज्यों के अंतर्गत जो निवासी रहते थे, उनमें राज्य की 234 स्वतंत्रता की रक्षा, राज्य की बाहरी आक्रमण से रक्षा आदि की भावना अर्थात् आधुनिक अर्थ में राष्ट्रीयता की भावना रहती थी। प्राचीन भारत एक राष्ट्र था। प्राचीनकाल से हिन्द ुओं को चार धाम–बद्रीनाथ, सेतुबंध रामेश्वर, जगन्नाथपुरी तथा द्वारिकापुरी एवं गंगा यमुना, गोदावरी, सरस्वती, नर्मदा, सिंधु, कावेरी आदि सात प्रमुख नदियों से स्मरण कराया जाता था कि हम एक हैं और हमारा एक धर्म, एक संस्कृति, एक भाषा, एक ही रीति–रिवाज तथा सांस्कृतिक परम्परायें हैं।

भारत में उन्नीसवीं शताब्दी में राष्ट्रवाद के उत्थान के अनेक कारण है जिनमें सामाजिक–धार्मिक आन्दोलन तथा आर्थिक कारण प्रमुख हैं। सामाजिक धार्मिक आन्दोलनों के अग्रदूत राजा राम मोहन राय हैं। इन आन्दोलनों में स्वामी दयानन्द सरस्वती और विवेकानन्द ने भी अपना योगदान दिया। विकास यात्रा के वैश्विक एवं भारतीय प्रतिमान को देखते हुए यह कहना उचित ही होगा कि राष्ट्रवाद का इतिहास भाषा और संस्कृति के प्रश्नों के समान और उनसे अभिन्न होकर, ग्रहण और त्याग, संघर्ष और सहमति, और संघटन और विघटन के आख्यानों से बना है। यह आख्यान भारतीय संदर्भ में औपनिवेशिक दौर में से अधिक वर्षों से अपनी भौगोलिक सीमाओं और सभ्यतागत इतिहास से जुड़े प्रश्नों के अधीन आत्मगत पहचान के प्रयासों का सिलसिला रहा है।

राष्ट्रवाद पर विवेकानंद के विचार भौगोलिक या राजनीतिक या भावनात्मक एकता पर आधारित नहीं थे, न ही इस भावना पर कि 'हम भारतीय' हैं। राष्ट्रवाद पर उनके विचार गहन आध्यात्मिक थे उनके अनुसार यह लोगों का आध्यात्मिक एकीकरण, आत्मा की आध्यात्मिक जागृति था। उन्होंने प्रचलित विविधता को विभिन्न आधारों पर पहचाना और सुझाव दिया कि भारतीय राष्ट्रवाद पश्चिम की तरह

पृथकतावादी नहीं हो सकता है। उनके अनुसार भारतीय लोग गहन धार्मिक प्रकृति के हैं और इससे एकजुट होने की शक्ति प्राप्त की जा सकती है। राष्ट्रीय आदर्शों के विकास से उद्देश्य और कार्यवाही में एकता प्राप्त की जा सकती है। उन्होंने करुणा सेवा और त्याग को राष्ट्रीय आदर्शों के रूप में मान्यता दी। इसलिए विवेकानंद के लिए राष्ट्रवाद सावैभौमिकता और मानवता पर आधारित था।

उनका मानना था कि प्रत्येक देश में एक ऐसा प्रभावी सिद्धांत होता जो उस देश के जीवन में समग्र रूप से परिलक्षित होता है और भारत के लिए यह धर्म था। धर्मनिरपेक्षता पर आधारित पश्चिमी राष्ट्रवाद के विपरीत स्वामी विवेकानंद के राष्ट्रवाद का आधार धर्म भारतीय आध्यात्मिकता और नैतिकता थी। भारत में आध्यात्मिकता को सभी धार्मिक शक्तियों के संगम के रूप में देखा जाता है। यह माना जाता है कि यह उन सभी शक्तिओं को राष्टªीय प्रवाह में एकजुट करने में सक्षम है।

उन्होंने मानवतावाद और सार्वभौमिकता के आदर्शों को भी राष्ट्रवाद के आाधार के रूप में स्वीकार किया। इन आदर्शों ने लोगों का स्व–प्रेरित बंधनों और उनके परिणामी दुखों से मुक्त होने हेतु पथप्रदर्शन किया है।

पिछली दो शताब्दियों के दौरान राष्ट्रवाद विभिन्न चरणों से गुजरा है और सर्वाधिक आकर्षक शक्तियों में से एक के रूप में उभरा है। इसने लोगों को एकजुट करने के साथ–साथ विभाजित भी किया है। उन्नीसवीं शताब्दी में इसने यूरोप के एकीकरण तथा एशिया और अफ्रीका में उपनिवेशों की समाप्ति में प्रमुख भूमिका निभाई थी। हालांकि, वर्तमान विश्व में कट्टरपंथी राष्ट्रवाद का उदय हो रहा है। अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के स्थापित सम्मेलनों से संयुक्त राज्य अमेरिका का अलग होना, ब्रेक्जिट. स्कॉटलैंड की स्वतंत्रता के लिए दूसरे जनमत संग्रह की मांग इत्यादि इसके कुछ उदाहरण हैं। ऐसे में राष्ट्रवाद के एक संकीर्ण दृष्टिकोण ने अनेक समूहों में पैठ बना ली है। ये समूह दूसरों पर अपने अधिकार और अपने विशेषाधिकारों को सुनिश्चित करना चाहते हैं। ऐसा राष्ट्रवाद राष्ट्रों को विभाजित करता है, उन्हें अलग करता है और असमानता बढ़ाने वाली अर्थव्यवस्थाओं को जन्म देता है। साथ ही यह अनेक ऐसे लोगों को देश से दूर कर देता है जो देश के लिए योगदान दे सकते हैं। आधुनिक राष्ट्रवाद की विभाजनकारी शक्तियों के विपरीत स्वामी विवेकानंद का दृष्टिकोण सार्वभौमिक पहुँच और आध्यात्मिक पहचान की

एकता पर केंær था। यह समय उनकी प्रबुद्ध ''राष्ट्रवाद'' की धारणा को आम्तसात करने का है जो इस बात पर बल देता है कि किसी एक देश का दसरे देश पर अधिग्रहण करने का कोई आध्यात्मिक या नैतिक औचित्य नहीं हो सकता है।

स्वामी विवेकानंद के जन्म को डेढ़ सदी बीत चुकी है। लेकिन आज भी उनके संदेश युवाओं के लिए प्रेरणा के स्रोत बने हुए हैं। संपूर्ण राष्ट्र के भविष्य की दिशा तय करने में भी उनके विचार निर्णायक भूमिका का निर्वहण करने की क्षमता रखते हैं। आज वेदांत–दर्शन को विज्ञान की मान्यता मिलने लगी है, जिससे स्वामीजी के विचार और भी प्रासंगिक हो गए हैं।

स्वामीजी ने युवाओं का आह्वान करते हुए कहा था कि निराशा, कमजोरी, भय, आलस्य तथा ईर्ष्या युवाओं के सबसे बड़े शत्रु हैं। उन्होंने युवाओं को जीवन में लक्ष्य निर्धारण करने के लिए स्पष्ट संदेश दिया और कहा कि तुम सदैव सत्य का पालन करो, विजय तुम्हारी होगी। आनेवाली शताब्दियाँ तुम्हारी बाट जोह रही हैं। उन्होंने कहा था कि हमें कुछ ऐसे युवा चाहिए, जो देश की खातिर अपना सर्वस्व न्योछावर करने को तैयार हों। ऐसे युवाओं के माध्यम से वे देश ही नहीं, विश्व को भी संस्कारित करना चाह रहे थे

स्वामीजी प्रखर राष्ट्रवाद के प्रबल समर्थक थे उनका मानना था कि राष्ट्र के प्रति गौरवबोध से ही राष्ट्र का कल्याण होगा। हिंदू संस्कृति, समाजसेवा, चरित्र–निर्माण, देशभक्ति, शिक्षा, व्यक्तित्व तथा नेतृत्व इत्यादि के विषय में स्वामीजी के विचार आज अधिक प्रासंगिक हैं।

प्रस्तुत संदर्भ में स्वामी विवेकानंद जी का उल्लेख महत्वपूर्ण है। स्वामी विवेकानंद जी वह प्रभावशाली व्यक्तित्व हैं जिन्होनें स्वतन्त्रता पूर्व के राष्ट्रवाद पर आघात करने वाली आन्तरिक और बाह्य चुनौतियों की ओर संकेत किया। इस प्रकार भारतीय राष्ट्रवादियों में स्वामी विवेकानंद जी का राष्ट्रवादी चिंतन भारतीय जनता को उनकी एक अमूल्य देन है। स्वामी विवेकानंद जी मे राष्ट्रीयता की भावना कूट–कूट कर भरी हुई थी तथा ऐसी ही भावना को वे भारतीय जनता में जाग्रत करना चाहते थे उनका प्रमुख कार्य राष्ट्र और जन के मध्य की दूरियों को पाटना था।

राष्ट्रवाद के स्वरूप में आने वाले इस परिवर्तन के मूल में एक ही कारण नजर आता है वह यह है कि स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद आम जनता ने अपने नैतिक और राष्ट्रीय मूल्यों का त्याग कर दिया है जिसके कारण हमें अनेक समस्याओं–साम्प्रदायिकता, भाषावाद, वैश्वीकरण की चुनौतियों, भ्रष्टाचार, आतंकवाद इत्यादि का सामना करना पड़ रहा है। अतः इन सब समस्याओं के समाधान का एक ही हल, एक ही विकल्प है, वह है स्वामी विवेकानंद के राष्ट्रवादी मूल्यों को आत्मसात करना। भारतीय स्वतंत्रता के बाद वर्तमान में भी हिन्दू–मुस्लिम के मध्य पारम्परिक अविश्वास, प्रतिशोध, कटुता एवं तनाव की स्थिति बनी हुई है। समय-समय पर होने वाले साम्प्रदायिक दंगे, धर्म परिवर्तन की घटनाएं इसकी पुष्टी करती है। इसके समाधान हेतु स्वामी विवेकानंद के राष्ट्रवादी दर्शन जिसमें सद्भावना, सहिष्णुता, पारस्परिक सम्पर्क, सर्वधर्म समान की भावना, हिंदू संस्कृति, समाजसेवा, चरित्र–निर्माण, देशभक्ति, शिक्षा, व्यक्तित्व तथा नेतृत्व का संदेश निहित है, एक कारगर उपाय है। अतः प्रस्तुत शोध ग्रन्थ में स्वामीजी के संपूर्ण मानवता और राष्ट्र को समर्पित प्रेरणाप्रद जीवन का अनुपम वर्णन करने का प्रयास किया गया है साथ ही स्वामी विवेकानंद जी के राष्ट्ररक्षा, राष्ट्रगौरव एवं राष्ट्राभिमान का पाठ पढ़ानेवाले, राष्ट्रवाद का अलख जगानेवाले विचारों को उजागर करने का प्रयास किया गया है।

शोध अध्ययन के उद्देश्य (Objectives of the Study)

प्रस्तुत अध्ययन के निम्नांकित उद्देश्य हैं –

1. स्वामी विवेकानन्द जी के जीवन परिचय और बहुमुखी व्यक्तित्व के विषय में जानकारी प्राप्त करना।
2. स्वामी विवेकानन्द जी के राष्ट्रवाद सम्बन्धि विचारों का अध्ययन करना।
3. वर्तमान युग में स्वामी विवेकानन्द जी के राष्ट्रवाद सम्बन्धि विचारों की उपादेयता एवं प्रासंगिकता का अध्ययन करना।

शोध की परिकल्पना (Hypothesis)

❋ स्वामी विवेकानन्द द्वारा प्रस्तावित राष्ट्रवाद सम्बन्धि विचार आध्यात्मिक दृष्टिकोण पर आधारित है।

❋ राष्ट्रवाद सम्बन्धि चितंन के क्षेत्र में विवेकानन्द का महत्वपूर्ण अनुदान उनकी स्वतंत्रता विषयक अवधारणा है।

❋ वर्तमान युग में स्वामी विवेकानन्द जी के राष्ट्रवाद सम्बन्धि विचारों की उपादेयता एवं प्रासंगिकता उतनी ही है जितनी की उनके समयकाल में थी।

शोध योजना एवं शोध प्रविधि (*Research Design and Methodology*) %&

जो बीत चुका है, अतीत बन चुका है उसका वर्णन, लेखन एवं अध्ययन इतिहास के नाम से जाना जाता है इतिहास के क्षेत्र में ऐसा बहुत कुछ है जो अतीत की घटनाओं तक फलौ है अतः उसके वर्तमान स्वरूप को पूर्णतया समझने के लिए उसके इस अतीत को जानना भी आवश्यक है ऐसा ना भी हो तो भी ऐतिहासिक प्रक्रियाओं के अतीत स्वयं में महत्वपूर्ण एवं जानने योग्य होते है। वे स्वयं माननीय जिज्ञासा उत्पन्न करते है। अनेक बार अतीत के अध्ययन भविष्य में वांछनीय परिवर्तनों की दिशा की ओर संकेत करते है अतः ऐतिहासिक अनुसंधान की परिभाषा कई विद्वानों शास्त्रियों ने अपने–अपने अनुसार निम्न रूप में दी है :–

जॉनॅन डब्ल्यू बेस्ेस्ट के अनुसार, ''ऐतिहासिक अनुसंधान का सम्बन्ध ऐतिहासिक समस्याओं के वज्ञौनिक विश्लेषण से है। इसके विभिन्न पद भूत के सम्बन्ध में एक नयी सूझ पदौ करते है जिसका संबंध वर्तमान और भविष्य से होता है।''

करलिंगंगर के अनुसार, ''ऐतिहासिक अनुसंधान अतीत की घटनाओं विकासक्रमों तथा अनुसंधानों का यह सूक्ष्मतम अन्वेषण होता है, जिससे अतीत से सम्बन्धित सूचनाओं के सम्बन्धों तथा प्राप्त संतुलित विवेचना की वधैता का सावधानीपवूर्क परीक्षण सम्मिलित रहता है।''

स्मिथ एवं स्मिथ के अनुसार, ''ऐसे अनुसंधान जिसमें उन घटनाओं प्रक्रियाओं एवं परम्पराओं का अध्ययन किया जाता है जो अतीत में घटी रहती है ऐतिहासिक अनुसंधान होते है''

शोधकर्ता ने प्रस्तुत शोध में शोध उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए ऐतिहासिक, वर्णनात्मक एवं दार्शनिक शोध पद्धति का प्रयोग किया गया है।

अध्ययन की परिसीमायें (Limitations of the Study)

कोई भी समस्या जब मस्तिष्क में जन्म लेती है तो अपने साथ अनेक तत्वों को शामिल किये होती है। अतः किसी भी समस्या का समाधान करने से पूर्व उस समस्या के क्षेत्र को सीमित करना अत्यन्त

बुद्धिमानी पूर्ण कार्य तथा आवश्यक होता है। शोधार्थी को अपने शोध का सीमांकन करना आवश्यक है अन्यथा शोध का स्वरूप विस्तृत होता जायेगा और वह अपने मुख्य बिन्दुओं से हट जायेगा। प्रस्तुत शोध–कार्य के द्वारा 'स्वामी विवेकानन्द जी के राष्ट्रवाद सम्बन्धि विचारों का अध्ययन एवं वर्तमान युग में उनके राष्ट्रवाद सम्बन्धि विचारों की उपादेयता एवं प्रासंगिकता' का अध्ययन विभिन्न पक्षों के आधार पर किया गया है। प्रस्तुत अध्ययन हेतु चयनित पक्ष निम्नांकित हैं जिन पर ध्यान केन्द्रित किया गया है –

आधुनिक शिक्षा एवं भारतीय पुनर्जागरण, भारत में राष्ट्र निर्माण की चुनौतियाँ, राष्ट्रीय पुननिर्माण के लिए विवेकानन्द के प्रयास, स्वामी विवेकानन्द जी के द्वारा चलाए गए भारत के लिए राष्ट्र–निर्माण कार्यक्रम, आध्यात्मिक एवं सांस्कृतिक पुर्नजागरण, राष्ट्रीय आन्दोलन पर स्वामी विवेकानन्द जी के प्रभाव, राष्ट्रीय चेतना पर स्वामी विवेकानन्द जी के प्रभाव आदि।

इन सभी पक्षों के अतिरिक्त अन्य पक्ष जैसे सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक क्षेत्रों में इनके द्वारा किये गये कार्यों का अति संक्षिप्त अध्ययन भी किया गया है।

अध्ययन की शोध विधि एव आंकड़ों का संग्रहण (Research Methodology and Data Collection)

यदि किसी कार्य को करने की उचित विधि न ज्ञात हो तो उस कार्य को पूर्णरूपेण सही प्रकार से सम्पन्न करना असम्भव है। अध्ययन विधि उस मार्ग को सूचित करती है जिस पर चलकर सत्य की खोज की जाती है। यूँ तो अनुसन्धान में अनेक विधियाँ हैं, इन विधियों में ऐतिहासिक विधि का अपना अलग ही महत्व है और समाज की वर्तमान समस्याओं व विचार धाराओं के विशिष्ट स्वरूप को ज्ञात करने के लिये ऐतिहासिक अनुसधांन का आश्रय लिया जाता है तथा समाधानार्थ एक नया हल प्रस्तुत किया जाता है। ऐतिहासिक अनुसंधान सभी अन्य अनुसंधान विधियों से भिन्न होता है, क्योंकि वह ऐसे निरीक्षणों के प्रतिवेदन पर आधारित होता है, जो सामान्य घटनायें घटित होने पर फिर दोहराये नहीं जा सकते। ऐतिहासिक साधनों को सामान्यतः दो प्रमुख वर्गों में वर्गीकृत किया जा सकता है :–

1. प्राथमिक स्त्रोत –

भौतिक अभिलेख अवशेषों को जो किसी भी घटना अथवा तथ्य के प्रत्यक्ष साक्षी होते हैं प्रमुख स्त्रोत की संज्ञा दी जाती है। इस स्त्रोत को दो भागों में बाँट सकते हैं –

अ – ज्ञात रूप से संचरित सूचनायें।

ब – मौखिक अथवा लिखित प्रमाणपत्रों के रूप में।

2. द्वितीयक स्त्रोत

एक व्यक्ति जो ऐतिहासिक तथ्य के विषय में तत्कालीन घटना से सम्बन्धित व्यक्ति के मुँह से सुनाये वर्णन को अपने शब्दों में व्यक्त करता है, ऐसे वर्णन को माध्यमिक या द्वितीयक साधन कहते हैं–जैसे भिन्न–भिन्न लेखकों द्वारा लिखी गयी पुस्तकें, साहित्यिक लेख आदि। शोधार्थी ने अपने चयनित शोध विषय हेतु ऐतिहासिक साधनों में प्राथमिक एवं द्वितीयक दोनों साधनों को एकत्र किया ताकि दूसरों के भी विचारों को जानने में सरलता हो सके।

तथ्य संकलन स्रोत्र

अनुसन्धान हेतु विषय वस्तु के संकलन या एकत्रीकरण में जितनी सावधानी रखी जाती है, प्राप्त निष्कर्ष उतना ही विश्वसनीय तथा वैद्य होता हैं। प्रस्तुत अध्ययन मूल रूप में ऐतिहासिक एवं दार्शनिक कहा जा सकता है और ऐतिहासिक एवं दार्शनिक अध्ययन बहुधा पुस्तकालीय अध्ययन होता है जो मुख्य रूप से सूचना के द्वितीय स्त्रोत पर आधारित होता है। यह अध्ययन महापुरूषों के मूलग्रन्थों के अध्ययन पर आधारित है। इसके लिये स्वामी जी के समकालीन तथा सम्बन्धित परवर्ती लोगों के प्रलेखों तथा संस्करणों के माध्यम से भी तथ्य संकलित किये गये हैं।

प्रस्तुत अध्ययन में अनुसंधानकर्ता ने स्वामी विवेकानन्द जी द्वारा रचित पुस्तकों का हिन्दी अनुवाद, अंग्रेजी अनुवाद, विभिन्न विद्वानों की लिखित पुस्तकों, प्रकाशित पत्र–पत्रिकाओं द्वारा विषय–वस्तु का संग्रह किया है। इन पुस्तकों के अतिरिक्त शोध–प्रबन्धों, शोध पत्रिकाओं, पत्रों, संस्मरणों, डायरियों, विषय–लेखों ज्ञान कोषों, अन्य पत्र–पत्रिकाओं में उनसे सम्बन्धित लेखों आदि के द्वारा भी विषय–वस्तु का संग्रह किया गया है।

अध्ययन कार्य के मध्य उपलब्ध अन्य लिखित व अलिखित स्रोतों को भी सम्मिलित किया गया है।

पाठ्य् योजना (*Chapter Plan*)

शोधकार्य को निम्नलिखित शीर्षकों में विवेचित किया गया है ताकि सुविधा से सभी पक्षों पर विस्तृत प्रकाश डाला जा सके।

अध्ययन की सुविधा व वैज्ञानिकीकरण के लिए प्रस्तुत इस शोध–प्रबन्ध को 5 अध्यायों में बाँटा गया है।

प्रथम अध्याय 'प्रस्तावना' शीर्षक के अन्तर्गत स्वामी विवेकानन्द द्वारा प्रस्तावित राष्ट्रवाद सम्बन्धि अवधारणा की व्याख्या करने का प्रयास किया गया है।

प्रथम अध्याय में सामान्य परिचय के साथ–साथ शोध की परिकल्पना, शोध अध्ययन के उद्देश्य, शोध विधि व आंकड़ो का स्त्रोत आदि विषयों पर विस्तार से चर्चा की गई है एवं अन्त में पाठ्य् योजना दी गई है।

द्वितीय अध्याय में **साहित्य पुनरावलोकन** के अर्न्तगत विभिन्न विद्वानों **स्वामी विवेकानन्द के विचारों** पर साहित्यिक समीक्षा प्रस्तुत की गई है।

तृतीय अध्याय में **भारतीय पुनर्जागरण एवं राष्ट्र निर्माण में स्वामी विवेकानन्द की प्रासंगिकता एवं भूमिका** का अध्ययन किया गया है।

चतुर्थ अध्याय में **आधुनिक भारत के आध्यात्मिक व सांस्कृतिक पुर्नजागरण, राष्ट्रीय चेतना एवं राष्ट्रवाद पर स्वामी विवेकानन्द के प्रभाव का ऐतिहासिक विश्लेषण** किया गया है।

पंचम अध्याय और आखिरी अध्याय में **सारांश** के साथ **उपसंहार** दिया गया है। अध्याय के अन्त में **संदर्भ सूची** दी गई है।

अध्याय 2
साहित्य पुनरावलोकन

साहित्य पुनरावलोकन *(Review of Literature)*

संबंधित शोध साहित्य का अध्ययन, अनुसंधान कार्य को आवश्यक सैद्धांतिक पृष्ठभूमि प्रदान करता है तथा प्रत्येक प्रत्यय और धारणाओं को स्पष्ट करता है। इसके कारण यह स्पष्ट हो जाता है कि इस समस्या के क्षेत्र में अनुसंधान की स्थिति क्या है, इस विषय पर क्या कार्य हुये हैं? किसने कार्य किया एवं कहॉ कार्य किया है? किस तरीके से अनुसंधान कार्य को पूरा किया गया है। संबंधित साहित्य के अध्ययन के बिना अनुसंधानकर्ता का कार्य दिशाहीन होगा जब तक उसे यह ज्ञान नहीं होगा कि इस दिशा में कितने कार्य हो चुके हैं और उनके क्या निष्कर्ष है? किसी विधि से किस प्रकार कार्य किया गया है, तब तक वह न उनकी रूपरेखा बना सकता है, और न ही उस दिशा में अपना सुझाव दे सकता है। किसी भी समस्या का चयन करने के पश्चात् वैज्ञानिक अध्ययन में पूर्व में किए गए विभिन्न शोधकर्ताओं एवं विद्वानों द्वारा किये गये शोधकार्य का अध्ययन आवश्यक हो जाता है।

डब्ल्यू. आर. बोर्ग के अनुसार – किसी भी क्षेत्र का संबंधित साहित्य उस आधार शिला के समान है जिस पर भावी कार्य आधारित होता है। यदि संबंधित साहित्य अध्ययन व सर्वेक्षण के द्वारा हम नींव को दृढ़ नहीं कर लेते है तो हमारा कार्य प्रभावहीन और महत्वहीन होने की संभावना है अथवा पुनरावृत्त भी हो सकता है।

संबंधित साहित्य से तात्पर्य अनुसंधान की समस्या में संबंधित उन सभी प्रकार की पत्र पत्रिकाओं, पुस्तकों, अभिलेखों, ज्ञानकोषों तथा प्रकाशित व अप्रकाशित शोध प्रबंध से है जिनके अध्ययन से अनुसंधानकर्त्ता को शोध के क्षेत्र तथा क्षेत्र से संबंधित समस्या के चयन समस्या के सीमांकन, परिकल्पना के निर्माण तथा अनुसंधान की रूपरेखा तैयार करने में सहायता मिलती है। सभी प्रकार के विज्ञान तथा शास्त्रों में पूर्व के अनुसंधान कार्य का आधार होता है, इसके बिना अनुसंधानकर्ता एक इंच भी नहीं बढ़ सकता है। पूर्व के अनुसंधान, शोध प्रबंध के एक महत्वपूर्ण अंग के रूप में अनुसंधानकर्ता

का ज्ञान, स्पष्टता तथा कुशलता को स्पष्ट करता है, अब तक पूर्ण हो चुके परिशुद्ध, वस्तुपरक व विश्वसनीय ऑकड़ों का संकलन, वर्तमान व्यापक और विस्तृत अध्ययन में सहायक होते है। इससे अध्ययन की विधि में सुधार आता है और समय व श्रम की बचत होती है। अनुसंधानकर्ता में आत्मविश्वास उत्पन्न होता है।

महत्वः– बेस्ट, जॉन डब्ल्यू के शब्दों में – ''जीवन के विभिन्न पहलुओं में प्राप्त किया गया ज्ञान हमें अध्ययन करने व ज्ञान प्राप्त करने का आधार प्रदान करता है, इसलिए अनुसन्धान प्रक्रिया का महत्वपूर्ण चरण है।''

उपरोक्त बिन्दुओं को देखते हुए शोधकर्ता ने उपलब्ध सम्बन्धित साहित्य का गहन अध्ययन किया। यहां केवल समस्या से सम्बन्धित साहित्य के अध्ययन से प्राप्त महत्वपूर्ण तथ्य रखने की चेष्टा की जा रही है।

सम्बन्धित साहित्य का अर्थ

सम्बन्धित साहित्य का अर्थ से तात्पर्य अनुसन्धान की समस्या से सम्बन्धित उन सभी प्रकार की पुस्तकों, पत्रिकाओं, विभिन्न कोषों तथा अभिलेख आदि से है। अनुसन्धानकर्ता इस सामग्री की सहायता से समस्या का चयन, उसकी परिकल्पना तथा रूपरेखा तैयार करता है। सम्बन्धित साहित्य में संचित ज्ञान अनुसन्धानकर्ता को समस्या की वस्तुस्थिति की जानकारी देता है।

सम्बन्धित साहित्य के पुनरावलोकन की आवश्यकता

सम्बन्धित साहित्य के पुनरावलोकन की आवश्यकता को निम्नांकित ढ़ग से प्रस्तुत किया जा सकता है –

1. साहित्य के अध्ययन से समस्या के सीमांकन करने में सहायता प्राप्त होती है।
2. शोधकार्य की योजना बनाने में प्रारम्भिक पदों में से एक रूचि के अनुरूप विशेष क्षेत्र में किए गए शोध कार्यों का पुनरावलोकन करना शोध के लिए गुणात्मक दृष्टि से प्रभावित होता है।
3. इस अध्ययन से अनुसन्धानकर्ता अन्य पक्षों पर अनुसन्धान के लिए अपनी अनुशंसाएं दे सकता है।
4. पूर्ण रूप से स्थापित निष्कर्षों पर पुनः अनुसन्धान करने से बचा जा सकता है।

5. साहित्य अध्ययन से अनुसन्धानकर्ता परिकल्पनाओं का निर्माण अत्यधिक सुगमता से कर सकता है।

6. इसके माध्यम से सम्बन्धित विषय के विद्धानों तथा सम्बन्धित सामग्री के स्रोतों का ज्ञान भी प्राप्त होता है।

सम्बन्धित साहित्य के पुनरावलोकन के उद्देश्य सम्बन्धित साहित्य के पुनरावलोकन के उद्देश्य सम्बन्धित साहित्य के पुनरावलोकन के उद्देश्य सम्बन्धित साहित्य के पुनरावलोकन के उद्देश्य निम्नलिखित हैं–

1. सम्बन्धित साहित्य का पुनरावलोकन परिकल्पनाएं प्रदान करता है, जो नई समस्या के कथन के लिए उपयोगी हो सकती हैं।

2. यह प्रोब्लम सोल्व हेतु अनुसन्धान की समुचित विधि उपलब्ध कराता है।

3. यह परिकल्पना के लिए साधन प्रदान करता है, जिस पर शोधकर्ता अपने शोध के लिए परिकल्पना बनाता है।

4. समस्या से सम्बन्धित विभिन्न साहित्यों का अध्ययन, अनुसन्धानकर्ता के ज्ञान के स्तर को बढ़ा देता है।

5. तुलनात्मक आंकड़ों को प्राप्त करने तथा उनके विश्लेषण में सहायक होता है।

6. यह शोधकार्य का स्पष्ट रूप बनाने में सहायक होता है।

7. क्या उपलब्ध सभी प्रमाण समस्या का पूर्णता के साथ समाधान देने में सक्षम है ? यह साहित्य पुनरावलोकन से ही ज्ञात हो सकता है।

सम्बन्धित साहित्य के अध्ययन का महत्व

सम्बन्धित साहित्य के अध्ययन का महत्व वर्तमान मानव के जीवन में साहित्य प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष रूप से अपना परिणामदायक महत्व रखते हैं, ऐसी स्थिति में अनुसन्धान कार्य में साहित्यों के अभाव की कल्पना करना भी भयानक अनुभूति होती है अर्थात् अनुसन्धान में साहित्यों के अध्ययन के महत्व को निम्नालिखित बिन्दुओं द्वारा समझा जा सकता है।

1. यह पुनरावृत्ति से बचाव करता है।

2. यह अनुसन्धान में विधि के निर्धारण में सहयोगी है।

3. यह अनुसन्धानकर्ता का समय, पैसा व परिश्रम बचाता है।

4. यह अनुसन्धानकर्ता में सूझ पैदा करता है।

5. यह समस्या का समाधान करने तथा उसका सीमांकन करने में सहायक होता है।

6. अनुसन्धानकर्ता को सावधान रखता है तथा गलतियों से बचाता है।

7. शोध प्रबन्ध में एक महत्वपूर्ण अंग के रूप में भूमिका निभाता है।

8. शोध साहित्य का अवलोकन करने से अनुसन्धानकर्ता के विचारों, परिकल्पनाओं व परिसीमाओं के निर्माण में तार्किकता आ जाती है।

9. अनुसन्धानकर्ता पूर्व में प्राप्त तथ्यों से अवगत हो जाता है।

सन्दर्भ साहित्य का जितना अधिक ज्ञान प्राप्त किया जाये उतना ही विषय को समझने में सहायता मिलती है। पूर्व शोध साहित्य के आधार पर ही शोधकर्ता अपने शोध का विषय, क्षेत्र, सीमा व विधि का निर्माण करता है। पूर्व में हुये अध्ययनों के आधार पर उसे भावी शोध में परिणाम ज्ञात करने में भी सहायता मिलती है। जहां शोधकर्ता के लिये नवीन मार्ग, नवीन दिशा की खोज का महत्व है वहीं उसे इस मार्ग पर विकास पाने व सफलता प्राप्त करने के लिये पूर्व में हुये शोध साहित्य का ज्ञान होना भी अत्यन्त आवश्यक है। संबंधित साहित्य के सर्वेक्षण के बिना यह ज्ञात नहीं हो सकता कि किस विषय में कौन सी समस्या अनुसंधान के लिये शेष हैं विभिन्न लेखकों ने सन्दर्भ साहित्य के बारे में लिखा है – वेस्ट, जान डब्ल्यू के अनुसार, ''वास्तव में समस्त मानवीय ज्ञान पुस्तकों एवं पुस्तकालयों में उपलब्ध हो सकता है अन्य जीवधारियों से भिन्न जो कि नई पीढ़ी के साथ पुनः नये सिरे से प्रारंभ करते है। मनुष्य के अतीत से संचित एवं आलेखित ज्ञान के आधार पर नवीन ज्ञान का सृजन करता है। मनुष्य के ज्ञान में अटूट क्रमिकता एवं प्रगतिशीलता होती है तथा अन्य जीव जन्तुओं के ज्ञान में प्रगतिशीलता एवं पुनरावृति होती है।

गुड, बार एवं स्केट्स के अनुसार, ''एक कुशग्र चिकित्सक जरूरत इस बात की है कि उसके विशय में हो रही औषधि संबंधी आधुनिकतम खोजों से परिचित होता रहे, उसी प्रकार शिक्षा के जिज्ञासु

छात्र अनुसंधान के क्षेत्र में कार्य करने वाले तथा अनुसंधानकर्त्ता के लिये भी उस क्षेत्र से संबंधित सूचनाओं एवं खोजों से परिचित होना आवश्यक है।

सन्दर्भ साहित्य से लाभ

सन्दर्भ साहित्य के अध्ययन से अनुसंधानकर्ता को निम्न लाभ होते हैं–

1. संदर्भ साहित्य वर्तमान तक हमें अनुसंधान कार्य की जानकारी प्रदान करता है।
2. सन्दर्भ साहित्य ही अनुसंधानकर्ता को अनावश्यक पुनरावृत्ति से बचाता है।
3. किसी निश्चित क्षेत्र में अब तक हुऐ कार्यों की सूचनाएं देता है।
4. समस्या के चुनाव एवं विश्लेषण में सहायता देता हैं।
5. सन्दर्भ साहित्य समस्या के अध्ययन में गहरी सूझ पैदा करता है।
6. अनुसंधानकर्ता उसकी स्पष्टता एवं कुशलता को स्पष्ट करता है।
7. सन्दर्भ साहित्य अनुसंधानकर्ता को समय की बर्बादी से बचाता है।
8. सन्दर्भ साहित्य अनुसंधानकर्ता को संभावित त्रुटियों से सावधान करता है।
9. सन्दर्भ साहित्य पूर्व के कार्य में एकत्रित किये आँकड़े वर्तमान में हो रहे अनुसंधान कार्य में सहायता देते है।

सम्बन्धित साहित्य के पुनरावलोकन के कार्य

सम्बन्धित साहित्य के पुनरावलोकन के कार्य निम्नलिखित हैं –

1. सम्बन्धित समस्या के अन्तर्गत अनुसन्धान की स्थिति कैसी है ? कब, कहाँ, क्या तथा कैसे अनुसन्धान कार्य किये जाते है ?
2. यह अध्ययन इस तथ्य का ज्ञान प्रदान करता है कि अनुसन्धान कार्य किस सीमा तक सफलता प्राप्त कर सकेगा।
3. यह अध्ययन अनुसन्धान कार्य के लिए आवश्यक पृष्ठभूमि तैयार करता है तथा अनुसन्धानकर्ता को एक सुगम मार्ग पर प्रेरित करता है।

4. इससे अनुसन्धान में अपनायी जाने वाली विधि, प्रयोग में लाने योग्य उपकरण तथा समंको के विश्लेषण के लिए प्रयोग में आने वाली उचित तथा सही विधियों को पूर्ण रूप से स्पष्ट करता है।

5. इसके माध्यम से समस्या का परिभाषीकरण, अवधारणा के निर्माण, समस्या के सीमांकन तथा विभिन्न परिकल्पनाओं के निर्माण में अत्यन्त सुगमता प्राप्त होती है।

सम्बन्धित साहित्य के पुनरावलोकन की सीमाएं

सम्बन्धित साहित्य की सीमाओं का ज्ञान होना भी अनुसन्धाकर्ता के लिए आवश्यक है। इस विषय की सम्बन्धित प्रमुख सीमाएं इस प्रकार हैं –

1. साहित्य के अध्ययनकर्ता पर, साहित्य के लेखक की विचारधारा अथवा चिन्तन का प्रभाव पड़ता है, जो कि अनुसन्धान की दिशा को असन्तुलित कर सकता है। अतः अनुसन्धानकर्ता को साहित्य का अध्ययन करते समय अपना पक्ष निष्पक्ष रखना चाहिए।

2. प्रायः अन्य अनुसन्धानकर्ताओं के द्वारा विभिन्न प्राप्त निष्कर्षों के आधार पर ही अपने अध्ययन में प्राप्त निष्कर्षों की तुलना करते समय अनुसन्धानकर्ता जिन महत्वपूर्ण तथ्यों की उपेक्षा कर देता है, वे निम्नालिखित हैं –

अ. उसके न्यादर्श की कौन सी सीमाऐं थी ?

ब. पूर्व के अनुसन्धानकर्ताओं ने किस विचाराधारा का प्रयोग किया या और क्यों किया था ?

स. उनके द्वारा प्रयोग में लाये गये उपकरणों की क्या वैधता थी ?

द. अनुसन्धाकर्ताओं ने किन–किन परिकल्पनाओं का निर्माण किया था?

अतः अनुसन्धानकर्ता को अपने अध्ययन में इन तथ्यों के बारे में विचार करना चाहिए।

सम्बन्धित साहित्य के स्रोत

अनुसन्धानकर्ता समस्या सम्बन्धी सूचनायें विभिन्न अनुसन्धाकर्ता से प्राप्त करता है, जिनमें मुख्यतः पत्र–पत्रिकायें, सामाजिक साहित्य के पत्र, आर्टिकल आदि पुस्तकें, किसी विषय पर लेख, शोध प्रबन्ध विद्यालयी प्रकाशन इत्यादि हो सकते है। इसके अलावा सम्बन्धित साहित्य प्राप्त करने के स्रोत निम्नालिखित हैं–

1. सामयिक प्रकाशन– इसके अन्तर्गत उन साहित्यों अथवा ग्रन्थों को सम्मिलित किया जाता है, जिनका कि प्रकाशन एक निश्चित अवधि पर होता है इसके पश्चात् यह अनिश्चितकाल तक प्रकाशित होते रहते हैं। उदाहरण– वार्षिकी, लघु पुस्तकें, जन्त्री निर्देशिकाएं, राजकीय अभिलेख, पत्र–पत्रिकाएं आदि।

2. पुस्तकें और पाठ्यपुस्तकें – विभिन्न प्रकार की पुस्तकें, पाठ्यपुस्तकें एक महत्वपूर्ण साधन हैं। इनके माध्यम से शोधकर्ता अपनी समस्या क्षेत्र से सम्बन्धित पक्षों को देख सकता है।

3. सारांश – प्रायः शोध अध्ययनों का संक्षिप्तिकरण सारांश के रूप में दिया जाता है। जैसे – शैक्षिक शोध सारांश, अन्तर्राष्ट्रीय शोध सारांश।

4. विश्वकोष – विश्वकोषों में विशेषज्ञों द्वारा लिखे गए विभिन्न विषयों पर संक्षिप्त सूचनायें होती हैं। उनके अन्तर्गत सूचनाओं के अनुकूल साधन, उद्धरण और सन्दर्भ पुस्तकें होती हैं। शैक्षिक शोध का विश्व कोष न्यूयार्क में प्रत्येक दस वर्ष बाद प्रकाशित होता है।

5. विशिष्ट शब्दकोष – शिक्षा शास्त्र शब्दकोष, समाज शास्त्र शब्दकोष, व्यवसायिक और तकनीकी क्षेत्र के शब्दकोष इत्यादि विशिष्ट शब्दकोष के अन्तर्गत आते हैं।

6. लघुशोध प्रबन्ध और शोध प्रबन्ध – यह भी सम्बन्धित साहित्य के पुनरावलोकन का एक मुख्य स्रोत है भले ही यह प्रकाशित है या अप्रकाशित परन्तु शोधकर्ता इनसे महत्वपूर्ण सहायता प्राप्त करते हैं।

7. पत्रावली, पुस्तकें, वार्षिक पुस्तकें और सहायक पुस्तकें तथा निर्देशिका सन्दर्भों की इन श्रेणियों के अन्तर्गत वे प्रकाशन आते हैं जो दिये गये उद्देश्यों से सम्बन्धित विभिन्न विषयों की नवीनतम सूचनाओं के विवरण प्रस्तुत करते हैं।

8. समाचार पत्र– प्रचलित समाचार–पत्र शिक्षा के नये विकास, सम्मेलन, अभिलेख और भाषणों की नवीनतम सूचनायें देते हैं। यह भी साहित्य के पुनर्निरीक्षण के स्रोतों में से एक हैं।

9. शैक्षिक वार्षिकी – शैक्षिक वार्षिकी प्रकार के ग्रन्थों का प्रकाशन प्रायः वर्ष में एक बार होता है। अतः इन्हें वार्षिकी कहा जाता है।

अध्ययन के स्त्रोतः– उपलब्ध अध्ययन साहित्य के स्त्रोत निम्न है – 1. प्रत्यक्ष स्त्रोत, 2. अप्रत्यक्ष स्त्रोत

1. प्रत्यक्ष स्त्रोत :–

(अ) पत्र–पत्रिकाएँ

(ब) ग्रन्थ, एक ही विषय पर निबन्ध, पुस्तिकाएँ, वार्षिक पुस्तिकाएँ तथा बुलिटिन।

(स) स्नातक, डॉक्टरल तथा अन्य शोध प्रबन्ध

2. अप्रत्यक्ष स्त्रोत :–

(अ) शिक्षा का विश्व ज्ञान कोष

(ब) शिक्षा सूची पत्र

(स) शिक्षा सार

(द) संदर्भ ग्रन्थ सूची एवं पत्रिकाएँ

(य) उद्वरण स्त्रोत एवं अन्य स्त्रोत

शोधकर्ता ने अपनी समस्या से संबंधित सामग्री हेतु विभिन्न पत्र–पत्रिकाओं पुस्तकों, ज्ञानकोषों आदि का अध्ययन किया है। शोधकर्ता ने इसी उद्देश्य से समस्या का चयन करने के पश्चात् संबंधित शोध के बारे में विभिन्न विद्वानों द्वारा किये गये शोध कार्यों का अध्ययन व संकलन किया है। अतः प्रस्तुत शोध कार्य के लिए शोधकर्ता द्वारा समस्या से संबंधित शोध का अध्ययन भारतीय और विदेशी वैज्ञानिकों द्वारा किये गये अध्ययन संक्षिप्त वर्णन इस प्रकार है –

रामधारी सिंह 'दिनकर' ने अपनी पुस्तक 'संस्कृति के चार अध्याय' में लिखा है कि –''अभिनव भारत को जो कुछ कहना था वह विवेकानन्द के मुख से उद्गीर्ण हुआ। अभिनव भारत को जिस दिशा की ओर जाना था, उसका स्पष्ट संकेत विवेकानन्द ने दिया। विवेकानन्द वह सेतु हैं, जिस पर प्राचीन और नवीन भारत परस्पर आलिंगन करते हैं। विवेकानन्द वह समुद्र हैं, जिसमें धर्म और राजनीति, राष्ट्रीयता और अंतराष्ट्रीयता तथा उपनिषद् और विज्ञान, सबके सब समाहित होते हैं।''

रवीन्द्रनाथ ने कहा है, 'यदि काई भारत को समझना चाहता है, तो उसे विवेकानन्द को पढ़ना चाहिए।'' महर्षि अरविंद का वचन है कि 'पश्चिमी जगत में विवेकानन्द को जो सफलता मिली, वही इस

बात का प्रमाण है कि भारत केवल मृत्यु से बचने को नहीं जगा है, वरन वह विश्व विजय करके दम लेगा।''

भगिनी निवेदिता के अनुसार स्वामी विवेकानन्द भारत का नाम लेकर जीते थे वे मातृभूमि के अनन्य भक्त थे और उन्होंने भारतीय युवकों को उसकी पूजा करना सिखाया।

जोशी, पी.सी. (1986), ने सामाजिक परिवर्तन एवं राष्ट्रीय एकता पर संस्कृति की भूमिका पर अध्ययन कर निष्कर्ष निकाला कि 'वर्तमान भारत में अव्यवस्था का मुख्य कारण संस्कृति एवं राजनीतिक अर्थव्यवस्था, मूल्य तथा रूचियों के बीच अलगाव है। आधुनिक सम्प्रेषण तकनीकी परिमाणात्मक रूप गुणवत्ता के स्वरूप में अलगाववाद को, उसकी व्यवस्था को यथार्थ रूप प्रदान करता है। 'वर्तमान में नैतिक मूल्य और मूल्यों की समाप्ति का मुख्य कारण आधुनिक संस्कृति, सम्प्रेषण और विकास है। 'मूल्यों का संग्रहण करने के लिए आवश्यक है कि अपनी संस्कृति की योजना का विकास सही ढंग से किया जाए। संस्कृति को इस प्रकार से नियोजित किया जाए कि इस द्वितीयक समाज में अर्थव्यवस्था तथा राजनीति के कारण कोई विवाद उत्पन्न न हो।

रोमां रोलां (1998), **विवेकानन्द की जीवनी,** एक उल्लेखनीय पुस्तक है। यह पुस्तक स्वामी विवेकानन्द के जीवन चरित्र और उनके जीवन के समस्त घटनाक्रम को प्रदर्शित करती है। इस पुस्तक के माध्यम से हिन्दू धर्म और भारतीय संस्कृति को समझाया गया है।

स्वामी विवेकानन्द (2001), **विवेकानन्द – राष्ट्र को आह्वान,** इस पुस्तक में स्वामी विवेकानन्द की शिक्षाओं, सन्देश तथा राष्ट्रीय जीवन के विभिन्न पहलू का अध्ययन किया गया है। इस पुस्तक को पढ़कर हमें वह उत्साह तथा आलोक प्राप्त होता है जिससे हम राष्ट्र निर्माण सही अर्थों में और ठीक ढंग से कर सकते हैं। इससे सम्बन्धित प्रश्नों का हल इसमें किया गया है।

डॉ० शिखा अग्रवाल (2003), **स्वामी विवेकानन्द और सांस्कृतिक राष्ट्रवाद,** संस्कृति, धर्म, इतिहास, भाषा आदि की एकता राष्ट्रवाद के आवश्यक तत्व माने जाते हैं। इस पुस्तक में भारतीय राष्ट्रवाद और धर्म का अन्तर्सम्बन्ध के संबंध में स्वामी विवेकानन्द के विचारों को व्यक्त किया गया है ताकि भारतीय संस्कृति का विघटन, विच्छेदन न हो सके जिसमें राष्ट्रीय एकता को बनाए रखा जा सके।

शिवा कुमार एम०वी० (2008), **भारतीय राष्ट्रीय एकता में स्वामी विवेकानन्द का योगदान**, इसमें स्वामी विवेकानन्द के राष्ट्रीय एकीकरण में योगदान का वर्णनात्मक विश्लेषण किया गया है।

यादव, अनिल (2010), ने भारत में राष्ट्रीय एकता की समस्या पर अध्ययन किया और निष्कर्ष निकाला कि 'भारत में राष्ट्रीय एकता की छः महत्वपूर्ण समस्या है –(1) जातिवाद (2) साम्यवाद (3)भाषा में कट्टरपन (4) धर्मवाद (5) सामाजिक समानता (6) आर्थिक असमानता। 'सभी समस्याओं का समाधान हमारी जागरूकता, शिक्षा, मीडिया, राजनीतिक व्यवस्था हमारी उन्नत सोच पर आधारित है। 'भारत में जाति, धर्म, भाषाएँ, संस्कृति में विभेद हैं कुछ सामाजिक तत्व इन सभी में एकता बनाये रखने में बाधा उत्पन्न करते हैं। 'भारत देश में 15 अलग–अलग प्रकार की कार्यालयीन भाषा का प्रयोग होता है।

विजय सौफथ (2011) द्वारा प्रस्तत शोध प्रबन्ध **'स्वामी विवेकानन्द के विचार और राष्ट्रीय जागरूकता'** में स्वामी विवेकानन्द के राजनीतिक, सामाजिक विचारों के साथ–साथ देश के नागरिकों में जागरूकता पैदा करने सम्बन्धी विचारों का विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है।

लाल, अरूण (2011), ने राष्ट्रीय एकता में युवा पर अध्ययन किया और निष्कर्ष निकाला कि 'सभी देशों के पास अपनी–अपनी विशिष्ट विशेषताएँ होती है। 'युवा पीढ़ी आज की ताकत हैं जो अपनी भावनाओं को गर्व के साथ व्यक्त करने में विश्वास रखती हैं कि हम सब भारतीय हैं।' आज की पीढ़ी के पास अपनी क्षमता एवं अभियोग्यता है जिसका उपयोग वे किसी भी समस्या का डटकर मुकाबला करने तथा समाधान खोजने में करते हैं। 'विकास की प्रक्रिया विभिन्न दिशाओं से प्राप्त की जा सकती है परंतु जब उनमें एकता हो, सभी की सोच एक समान हो, वे सभी अपने आपको राष्ट्र के एक परिवार की भाँति समझे, सभी अपनी–अपनी क्षमताओं के साथ हर मुश्किल को पार करने की सोच के साथ हर कदम साथ में बढ़ाएं, तभी हमारा देश आगे बढ़ेगा।

देबनाथ, संगमित्रा (2012), ने स्वामी विवेकानंद एवं भारतीय राष्ट्रीय एकता पर अध्ययन किया और निष्कर्ष निकाला कि 'किसी देश के नागरिकों में राष्ट्रीय एकता की जागरूकता उनके पहचान का प्रत्यक्ष आधार होता है। विभिन्न प्रकार के व्यक्तियों को एक राह में चलाने के लिए यह एक आसान रास्ता विभिन्नता में एकता का सशक्त स्वरूप है। 'स्वामी विवेकानन्द ने समस्त मानव और मानव जाति की एकता के लिए व्याख्यान दिया वार्तालाप किया और लिखा।

शुक्ला, राजेश (2012) ने राष्ट्रीय एकता की संकल्पनापर अध्ययन किया। इन्होंने न्यादर्श के रूप में भारत के विभिन्न क्षेत्रों के 300 लोगों पर प्रश्न सूची तैयार करके शोध किया और निष्कर्ष निकाला कि 'भारत में सामाजिक आर्थिक विषमता भी राष्ट्रीय एकता को प्रभावित करती है। 'भारत में विभिन्न जाति के विरोधाभासी प्रवृत्ति पायी गयी। 'परम्परात्मक समाजों में जन्मजात एवं वंशगत श्रेष्ठता का भाव देखने को मिलता है। 'यदि किसी समाज में स्वतंत्रता एवं समानता है, मानव व्यक्तित्व की गरिमा की स्वीकारोक्ति है और भाई चारे की भावना पायी जाती है, तो वहॉ सामाजिक न्याय भी है। 'भारत में जाति व्यवस्था और सामाजिक न्याय में मौलिक विरोध पाए गए है।

अभिनव (2012) ने राष्ट्रीय एकता पर अध्ययन कर निष्कर्ष निकाला कि महात्मा गाँधी जी ने एक बार कहा था कि 'हम उन लोगों के लिए भिन्न समाज का दावा करते हैं जो विभिन्न जाति से हैं परन्तु भाइयों की तरह रहते हैं 'भारत में राष्ट्रीय एकता है। दूसरे देशों का मानना है कि भारत जैसे विशाल देश खाद्यान, वस्त्र, भाषा, जाति, धर्म, संस्कृति में भिन्नता होते हुए भी भारत में एकता आश्चर्य जनक है।

जावालोनी जेफरी अलकोतोरी एवं मोहम्मद बस्ती अलबर्न इतिहास प्रभाग इंडोनेशिया – यह शोध उस लेख को लक्ष्य में रखकर किया गया था जो 1968–1998 में इंडोनेशिया के समाचार पत्रों में इंडोनेशिया के राष्ट्रीय एकता पुननिर्माण एवं विश्लेषण कर रहे नारों को प्रकाशित किया गया था। इस प्रपत्र के शोध प्रश्न निम्नलिखित थे क्या नारे उपयोग किये गये थे ? नये नियमानुसार क्यों और कैसे राष्ट्रीय एकता के नारों का प्रचार किया गया था। यह लेख उस खोज पर आधारित था कि कैसे नये नियम वाले क्षेत्र बहुतायत में राष्ट्रीय एकता के संबंध में नारे बना रहा था।

वर्ष 2013 के प्रमुख ग्रन्थ ''राष्ट्रीय चैतन्य के प्रकाश में भारत में राष्ट्रीयता का स्वरूप : प्रारम्भ से मुस्लिम–काल तक'' में **डॉ. सतीश चन्द्र मित्तल** ने वेदों से लेकर मुगलों के शासन में भारतीय राष्ट्रीयता अथवा राष्ट्रवाद की संकल्पना, राष्ट्रवाद की भारतीय अवधारणा, वैशिष्ट्य के साथ इसके क्रमिक विकास का संक्षेप में विश्लेषण किया गया है। मातृभूमि के प्रति अटूट प्रेम तथा सांस्कृतिक जीवन–मूल्यों के विभिन्न तत्वों के संक्षिप्त वर्णन के साथ इसके सन्दर्भ में पाश्चात्य भ्रांतियों को भी स्पष्ट किया गया है।

इसके साथ ही समय–समय पर वैदेशिक आक्रमणों के साथ इसकी अस्मिता की रक्षा के लिए किए गए प्रयासों की चर्चा की गई है।

एम.एल.धवन (2008) की पुस्तक ''भारत का राष्ट्रीय आन्दोलन एवं स्वतत्रंता संघर्ष (1857–1914) भाग–1'' इस पुस्तक में राष्ट्रीय जागरण की स्थिति का वर्णन किया गया है तथा राष्ट्रीयता की भावना के जागरण में राष्ट्र की राजनीतिक एकता तथा स्वतंत्रता को महत्वपूर्ण माना है। ब्रिटिश साम्राज्य के घातक परिणामों तथा विद्रोहों का वर्णन किया है जिसमें विनाशकारी राजनीतिक परिणामों को प्रदर्शित करने के साथ–साथ विद्रोहों में सन्यासी आन्दोलन, सामन्तों के विद्रोह, किसानों के विद्रोह आदिवासी किसानों के विद्रोह, सिपाही विद्रोह आदि का वर्णन है तथा सन् 1857 ई. का विद्रोह व उसके पश्चात ब्रिटिश नीतियों में परिवर्तन को दर्शाते हुए राष्ट्रीय जागरण का अर्थ व भारत में राष्ट्रीय जागरण का उद्भव व उसके धार्मिक राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक कारणों का वर्णन किया है।

स्वामी विवेकानन्द – शिक्षा संस्कृति और समाज चुस्तक के अनुसार स्वामी जी का राष्ट्रवाद दो मुख्य आधार लेकर खड़ा हैं। धर्म ने उसे गति दी है और कर्म ने उसे प्रेरणा। वेदान्त की व्याख्या करने वाले इस महान सन्त की जिज्ञासा यह रही, कि मनुष्य को सदाचरण के लिये ही जीना चाहिये। धर्म मनुष्य संस्कृति को संरक्षण दे सकता है, यदि मनुष्य विवेक के साथ कार्य करे। किसी प्रकार के अंधानुकरण की प्रवृति मनुष्य में पैदा नहीं होनी चाहिये। स्वामी जी जापान के नागरिकों की देश–भक्ति कर्तव्यपरायणता, प्रगति के प्रति घोर आस्था के विचारों से बहुत अधिक प्रभावित थे, किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि स्वामी जी जापान का अंधानुकरण करने की स्वीकृति देते हों। जो राष्ट्र अथवा जो जाति घोर परिश्रम किये बिना फल की प्राप्ति का आग्रह करे, वह जातिकभी प्रगति नहीं कर सकती। अन्धानुकरण जातीय प्रगति को अवरूद्ध कर देता है। एक सम्पादकता का प्रश्न तथा स्वामी जी का उत्तर उल्लेखनीय महत्व रखता है। ''क्या आपकी यह इच्छा है कि भारत जापान के समान हो जाये? निश्चय ही नहीं। भारत को वही रहना चाहिए, जो वह है।

नटराजन एस.–सैन्चुरी ऑफ सोशल रिफार्म इन इण्डिया, के अनुसार विवेकानन्द हेगल की तरह राष्ट्र की महत्ता के प्रतिपादक थे उनके अनुसार भारत को अपने अध्यात्म से पश्चिम को विजित करना होगा। उनका कहना था ''एक बार पुनः भारत को विश्व की विजय करनी है। उसे पश्चिम की

आध्यात्मिक विजय करनी है। हीगलवादी परम्परा का अनुगामी होने के कारण स्वामी जी राष्ट्र को साध्य और व्यक्ति को साधक मानते हैं। उनका कहना था कि राष्ट्र ही सर्वोपरि है। वे भारत को एक राष्ट्र के रूप में देखना चाहते थे– उन्होंने कहा कि हम सभी अपने आपको भारतीय समझें न कि बंगाली, बिहारी, पंजाबी, गुजराती या मद्रासी। हम लोग सोचे तो सम्पूर्ण भारतवर्ष के लिए देखें तो सम्पूर्ण भारतवर्ष के लिए जो भी कार्य करें वह सम्पूर्ण भारत वर्ष के लिये। स्वर्गादीप गरीयसी के सिद्धान्त को देव पूजा से बढ़कर मानते थे उन्होंने कहा– ''हे जननी में मुक्ति नहीं चाहता तुम्हारी सेवा ही मेरे जीवन का एक मात्र अवशिष्ट कर्म है।''

डॉ. नरेन्æ कुमार, 2018 के अनुसार विवेकानंद राष्ट्रवादी थे परंतु उनका राष्ट्रवाद, समावेशी और करूणामय था। जब भी वे देश के भ्रमण पर निकलते, वे घोर गरीबी, अज्ञानता और सामाजिक असमानताओं को देखकर दुःखी हो जाते थे वे भारत के लोगों को एक नई ऊर्जा से भर देना चाहते थे वे चाहते थे कि आध्यात्म, त्याग और सेवाभाव को राष्ट्रवाद का हिस्सा बनाया जाए। उन्होंने भारत के लिए एक आध्यात्मिक लक्ष्य निर्धारित किया था।

उन्होंने लिखा,

''हर राष्ट्र की एक नियति होती है, जिसको वह प्राप्त होता है। हर राष्ट्र के पास एक संदेश होता है, जो उसे पहुंचाना होता है। हर राष्ट्र का एक मिशन होता है, जिसे उसे हासिल करना होता है। हमें हमारी नस्ल का मिशन समझना होगा। उस नियति को समझना होगा, जिसे हमें पाना है। राष्ट्रों में हमारा क्या स्थान हो हमें वह समझना होगा और विभिन्न नस्लों के बीच सौहार्द बढ़ाने में हमारी भूमिका को जानना होगा।''

विवेकानंद का राष्ट्रवाद, मानवतावादी और सार्वभौमिक था। वह संकीर्ण या आक्रामक नहीं था। वह राष्ट्र को सौहार्द और शांति की ओर ले जाना चाहता था। वे मानते थे कि केवल ब्रिटिश संसद द्वारा प्रस्ताव पारित कर देने से भारत स्वाधीन नहीं हो जाएगा। यह स्वाधीनता अर्थहीन होगी, अगर भारतीय उसकी कीमत नहीं समझेंगे और उसके लिए तैयार नहीं होंगे। भारत के लोगों को स्वाधीनता के लिए तैयार रहना होगा।

विवेकानंद 'मनुष्यों के निर्माण में विश्वास' रखते थे इससे उनका आशय था शिक्षा के जरिए विद्यार्थियों में सनातन मूल्यों के प्रति आस्था पैदा करना। ये मूल्य एक मजबूत चरित्र वाले नागरिक और एक अच्छे मनुष्य की नींव बनते। ऐसा व्यक्ति अपनी और अपने देश की मुक्ति के लिए संघर्ष करता। विवेकानंद की मान्यता थी कि शिक्षा, आत्मनिर्भरता और वैश्विक बंधुत्व को बढ़ावा देने का जरिया होनी चाहिए।

अनिता शर्मा, 2018, के अनुसार विवेकानंद जी अपनी मातृभूमि के उत्थान के लिये जिस राष्ट्रवाद की कल्पना करते हैं, उसके मूल में मानवतावाद, आध्यात्मिक विकास और सांस्कृतिक नवजागरण है। इसे हासिल करने के लिये उन्होने वेदांतिक दर्शन को अपना उपकरण बनाया। विवेकानंद जी जिस भूमिका को समझने की बात करते थे, वह नए मनुष्य और नए समाज की भूमिका थी। करुणा, व्यक्तिगत स्वतंत्रता, समानता और विश्वबंधुत्व पर आधारित आधुनिक शक्तिशाली भारत के निर्माण की भूमिका थी।

शिकागो धर्मसभा के विदाई भाषण में विवेकानंद जी ने कहा था,

धर्मों के बीच एकता के बारे में बहुत कुछ कहा गया है लेकिन अगर कोई ये सोचता है कि एक धर्म के दूसरे धर्म पर जीत स्थापित करने से एकता स्थापित होगी तो ये गलत है। मैं उन्हे कहना चाहता हूँ कि बंधु आप गलत उम्मीद लगा बैठे हैं। क्या मुझे यह उम्मीद लगानी चाहिये कि क्रिश्चियन हिंदू हो जाये या फिर हिंदू और बौद्धों को क्रिश्चियन हो जाना चाहिये। ईश्वर माफ करे।

'स्वामी विवेकानंद एंड मॉडर्नाइजेशन ऑफ हिन्दुज़्म' में हिलटुड रुस्टाव ने लिखा है कि, विवेकानंद एक ऐसा समाज चाहते थे, जहाँ बडे से बडा सत्य उद्घाटित हो सके और हर इंसान को देवत्व का अहसास हो। विवेकानंद सच को अपना देवता मानते थे और कहते थे कि पूरी दुनिया मेरा देश है। राष्ट्रवाद और राष्ट्रीयता उनके लिये किसी संकीर्णता का नाम नही था।

विवेकानंद जी तो ऐसे राष्ट्रवादी संत थे, जिन्हे भारत की मिट्टी के कण–कण से प्यार था। उनका कहना था,

मैं भारतीय हूँ और हर भारतीय मेरा भाई है। अज्ञानी हो या फिर गरीब हो, अभावग्रस्त हो या ब्राह्मण या फिर अछूत हो वो मेरा भाई है। भारत का समाज मेरे बचपन का पालना है और मेरे जवानी के आनंद का बगीचा है। मेरे बुढापे की काशी है। भारत की मिट्टी मेरे लिये सबसे बडा स्वर्ग है।

विवेकानन्द के अनुसार भारत में स्थायी राष्ट्रवाद का निर्माण धर्म के आधार पर किया जा सकता है विवेकानन्द ने राष्ट्रवाद के धार्मिक सिद्धान्त का प्रतिपादन इसलिये किया था कि वह यह मानते थे कि धर्म ही भारत के राष्ट्रीय जीवन का मेरूदण्ड रहा है और आगे भी यह धर्म ही हमारे जीवन का मेरूदण्ड रहेगा।

स्वामी विवेकानन्द के राजनीतिक विचार उनके धार्मिक एवं सामाजिक विचारों के सहगामी हैं। वे राष्ट्रवाद का आध्यात्मीकरण करने के पक्षपाती थे हिन्दू धर्म की महत्ता ने उन्हें राष्ट्रवाद के समीप ला खड़ा किया। वे हिन्दू धर्म को सब धर्मो का प्रमुख श्रोत मानते थे उनके अनुसार धर्म ही व्यक्ति और राष्ट को शक्ति प्रदान करता है।

उपरोक्त विश्लेषण के आधार पर यह कहा जा सकता है कि स्वतंत्रता की प्राप्ति के उपरान्त भारतीय राष्ट्रवाद के आधारभूत तत्वों के अध्ययन का महत्व बहुत बढ़ गया है। विवेकानन्द की रचनाओं तथा भाषणों ने बंगाल के राष्ट्रवाद की नैतिक नींव को सिद्धान्त तथा व्यवहार दोनों ही दृष्टि से सुदृढ़ बनाने में महत्वपूर्ण योग दिया है। जिस समय राष्ट्र उदासीनता निष्क्रियता और निराशा में डूबा हुआ था उस समय विवेकानन्द ने शक्ति तथा निर्भयता के संन्देश की गर्जना की। उन्होंने लोगों को शक्तिशाली बनाने की प्रेरणा दी। शक्ति ही विवेकानन्द की भारतीय राष्ट्र को वसीयत है। जब भारत का बौद्धिक वर्ग पश्चिम का अनुकरण करने में व्यस्त था उस समय उन्होंने निर्भीकतापूर्वक घोषणा की कि पश्चिम को भारत से बहुत कुछ सीखना है। विवेकानन्द की रचनाओं तथा उनके सन्देश को ध्यान में रखे बिना भारतीय राष्ट्रवादी आन्दोलन के जन्म तथा विकास को और 1904 तथा 1907 के बीच राजनीतिक साहित्य के स्वर में जो परिवर्तन हुआ उसे समझना सम्भव नहीं। विवेकानन्द का मत था कि भारत में दृढ़ और स्थायी राष्ट्रवाद का निर्माण धर्म के आधार पर ही किया जा सकता है। किन्तु उन पर पंथवादी संकीर्णता अथवा साम्प्रदायिकता का आरोप नहीं लगाया जा सकता। उनकी दृष्टि में नैतिक तथा आध्यात्मिक प्रगति के शाश्वत नियम ही धर्म है। उन्होंने अपनी निर्भीक दृष्टि द्वारा पहले से ही देख लिया था कि लूट का बँटवारा करने संलग्न यान्त्रिक राष्ट्रवाद स्थायी नहीं हो सकता। राष्ट्र के अवयवी विकास लिये आवश्यक है कि लोगो में उदारता ब्रह्मचर्य, प्रेम त्याग तथा निग्रह के गुण विद्यमान हो। विवेकानन्द जैसी सार्वभौंम सहिष्णुता वाला व्यक्ति किसी धार्मिक पंथ अथवा सम्प्रदाय के विरूद्ध

अत्याचार की अनुमति नही दे सकता था। विवेकानन्द ने कहा ''विश्व में एक ही ईश्वर है, तो एक ही ऐसा ईश्वर है जिसमें मुझे आस्था है, वह ईश्वर सब जातियों के दीन तथा दरिद्र लोग है। विवेकानन्द ने ही भारत को दरिद्रनारायण की धारणा प्रदान की। उन्हें व्यक्तिगत विकास में विश्वास था, वे इस पक्ष में नहीं थे कि किसी पर धार्मिक विश्वास अथवा सामाजिक परिपाटियाँ बलात् थोपी जायें। अतः विवेकानन्द द्वारा प्रतिपादित राष्ट्रवाद का धार्मिक आधार अरविन्द और विपिन चन्द्र पाल की राष्ट्रवादी धारणा के समतुल्य था।

अध्याय 3

भारतीय पुनर्जागरण एवं राष्ट्र निर्माण में स्वामी विवेकानन्द की प्रासंगिकता

3.1 प्रस्तावनाः *(Introduction)*

विचार मनुष्य और समाज की अन्तर्निहित भावनाओं को अभिव्यक्ति देने के साथ–साथ संस्कृति व सभ्यता के रूप में मुखर होते हैं। जिस देश के पास विचार की सामर्थ्य जितनी अधिक होती है, उसकी संस्कृति उतनी ही अक्षुण्य होती है। भारत की सम्पूर्ण ऐतिहासिक एवं शैक्षिक उपलब्धियाँ इसी प्रकार से अनुप्रेरित संस्कृति के मूल में निहित रहीं। इस महान देश का सांस्कृतिक कलेवर इसे पदार्थ के भौतिक मोह से मुक्त करके आत्मा के सामीप्य को सहेजने का कारण बना है। यही कारण है कि प्रत्येक युग में यह देश के विश्व के लिये दिशाप्रेरक और महान संजीवनी शक्ति के रूप में मुखरित रहा है। इतिहास के सभी पृष्ठों पर जिस गौरवमयी गाथा को अंकित कर यह देश जीवन के लिये सघर्ष करता रहा, उसका सिंहावलोकन करना सम्पूर्ण जगत के लिये उपयोगी ही नहीं वरन् आवश्यक भी है। पुनर्जागरण की आँधी का प्रथम वेग इतना अधिक शक्तिशाली सिद्ध हुआ कि भारतीय युवा वर्ग को प्राचीन हिन्दू धर्म से अनास्था हो गयी और वह ईसाइयत की तरफ मुड़ने लगा, साथ ही अपनी मूलभूत परम्पराओं, आदर्शो को ढ़ोग बताने लगा। आवश्यकता इस बात की थी कि इन युवाओं को भारतीय–दर्शन के मूल तत्वों से परिचित कराया जाता।

स्वामी जी ने अपने शैक्षिक विचारों में इन खामियों को दूर करने का प्रयास किया तथा देश के लिये एक ऐसी शिक्षा व्यवस्था बनाने का प्रयत्न किया जो कि आर्थिक, सामाजिक और आध्यात्मिक दृष्टि से कल्याणकारी हो। आज वर्तमान युग में दोषपूर्ण शिक्षा प्रणाली दूर करने में स्वामी जी जैसे महान शिक्षाशस्त्रियों के विचार अत्यन्त ही उपयोगी सिद्ध हो रहे हैं।

आधुनिक शिक्षा एवं भारतीय पुनर्जागरण में स्वामी विवेकानन्द का योगदान

भारत में आधुनिक शिक्षा का प्रारम्भ कर देश के बौद्धिक जीवन में क्रांति लाने का श्रेय एक हद तक अंग्रेजों को भी दिया जा सकता है। जिस समय अंग्रेजों ने बंगाल का शासन अपने हाथों में लिया, उस समय शिक्षा व्यवस्था उपेक्षित थी। उस दौर में देशी शिक्षा प्रणाली अनिश्चित एवं अव्यवस्थित थी। प्रारम्भिक शिक्षा पाठशालाओं और मकतबों में ही दी जाती थी तथा मदरसों आदि में दी जा रही उच्चतर शिक्षा क्लासिकल संस्कृत, अरबी एवं फारसी के अध्ययन तक ही सीमित थी। बाहरी विश्व की ज्ञान प्रणालियों के सम्बन्ध में भारतीयों का ज्ञान नहीं के बराबर था तथा इनमें उनकी अभिरूचि भी कम थी।[1]

भारत में आधुनिक शिक्षा के प्रसार का श्रेय अंग्रेजी सरकार के साथ–साथ ईसाई धर्म प्रचारकों तथा प्रबुद्ध भारतीयों को भी जाता है। अंग्रेजों द्वारा प्रचलित की गई आधुनिक शिक्षा पद्धति का उद्देश्य थाः अंग्रेजी भाषा के माध्यम से पाश्चात्य ज्ञान का प्रसार करना। ऐसे में भारत में देशी शिक्षण संस्थाओं के पुनरुत्थान की ईस्ट इण्डिया कम्पनी और ब्रिटिश पार्लियामेंट ने पूर्ण ातः उपेक्षा की। हालांकि वारेन हेस्टिंग्ज जैसे कुछ प्रशासकों ने अपवादस्वरूप भारतीय विद्या के पुनर्जीवन को प्रोत्साहित किया । हेस्टिंग्ज ने मुस्लिम कानून और सम्बद्ध विषयों के अध्ययन के लिए 1781 ई० में कलकत्ता में एक मदरसा स्थापित किया जिसमें फारसी व अरबी की शिक्षा दी जाती थी। 1791 ई० में ब्रिटिश रेजीडेंट जोनाथन डंकन के प्रयत्नों के फलस्वरूप बनारस में एक संस्कृत कॉलेज भी स्थापित किया गया।[2]

प्रबुद्ध भारतीयों में राजा राममोहन राय आधुनिक चेतना के अग्रदूत माने जाते हैं। उन्होंने पश्चिमी देशों में हो रहे वैज्ञानिक, बौद्धिक और सामाजिक विकासों से प्रभावित होकर अंग्रेजी शिक्षा का स्वागत किया। उन्होंने पाश्चात्य ज्ञान–विज्ञान की सहायता से प्राच्य संस्कृति में सुधार तथा उसके पुनरुद्धार का समर्थन किया। उन्होंने इंलैण्ड की संसद के हाउस ऑफ कॉमन्स की प्रवर समिति के समक्ष भारत में शैक्षणिक विकास सम्बन्धी अपने विचार रखे। राममोहन राय और डेविड हेयर नामक कलकत्ता के ब्रिटिश शिक्षाविद् के सम्मिलित प्रयासों से 1817 में एक हिन्दू कालेज की स्थापना की गई जो आगे चलकर प्रेसीडेन्सी कालेज के रूप में विकसित हुआ।[3]

अधिकांश तत्कालीन प्रबुद्ध लोगों की धारणा थी कि आधुनिक ज्ञान ही देश की सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक समस्याओं का सर्वोत्तम इलाज है। ऐसे में 1813 के चार्टर एक्ट के अनुसार पहली बार शिक्षा के क्षेत्र में सरकारी उत्तरदायित्व घोषित किया गया। इस अधिनियम को पारित करते समय ब्रिटिश संसद ने ईस्ट इंडिया कम्पनी को कहा कि वह भारत में "उपयोगी ज्ञान के प्रवेश तथा धार्मिक एवं नैतिक उन्नति" के लिए उपाय करें। इसके अतिरिक्त उसे यह भी आज्ञा दी गई कि एक लाख रुपये की राशि प्रतिवर्ष बजट में अलग से रखी जाये भारत में ब्रिटिश राज्य के निवासियों के बीच ज्ञान–विज्ञान की उन्नति में लगाया जाय।[4]

1813 के अधिनियम को लागू करने की प्रक्रिया में बंगाल में एक लोक शिक्षा समिति का गठन किया गया। लोक शिक्षा समिति में 10 सदस्य थे। उनके दो दल थे। एक दल प्राच्य विद्या का समर्थक था जिसके नेता एच॰टी॰ प्रिन्सेप थे। दूसरा दल आंग्लवादियों का था जो अंग्रेजी को शिक्षा के माध्यम के रूप में अपनाने पर जोर देता था। दोनों दलों में विवाद होने के कारण यह समिति ठीक ढंग से कार्य नहीं कर पा रही थी। इसकी बैठकों में प्रायः गतिरोध हो जाता था। अन्त में दोनों दलों ने अपने विवाद पर निर्णय के लिए गवर्नर जनरल लार्ड विलियम बैंटिंक से अनुरोध किया। गवर्नर जनरल की आज्ञा से उसकी कार्यकारिणी परिषद का सदस्य होने के अधिकार से उक्त समिति के अध्यक्ष बनाए गए लार्ड मैकाले ने 2 फरवरी 1835 को इस सम्बन्ध में अपना एक महत्त्वपूर्ण स्मरण पत्र (मैकाले मिनट) लिखा और उसे सरकार के सामने रखा। इसमें मैकाले ने अंग्रेजी शिक्षा का समर्थन किया। उसने लिखा कि "हमें भारत में शिक्षित लोगों की इस तरह की श्रेणी पैदा करने का यत्न करना चाहिए जो केवल नस्ल, खून एवं रंग से हिन्दुस्तानी हों, किन्तु अपनी रुचि, भावों और विचारा ें से अंग्रेज हों।" [5] मैकाले की रिपोर्ट को स्वीकृति देते हुए 7 मार्च 1835 को लार्ड विलियम बैंटिक ने निर्णय देते हुए कहा कि जितना भी धन शिक्षा के लिए निश्चित किया गया है, उसका सबसे अच्छा उपयोग यही होगा कि उसे केवल अंग्रेजी शिक्षा पर व्यय किया जाये।[6]

भारत में 1854 से पूर्व का काल शिक्षा नीति के दृष्टिकोण से प्रयोगों का काल था। यह काल विवादों से भी पूर्ण रहा। कुछ लोग मिशनरी प्रयासों का समर्थन कर रहे थे, तो कुछ देशी विद्यालयों को

प्रोत्साहन देने के समर्थक थे ं, जबकि कुछ लोग कंपनी सरकार द्वारा नियंत्रित नए विद्यालयों की स्थापना की सलाह दे रहे थे। अब तक जन शिक्षा एवं स्त्री शिक्षा की ओर अधिक ध्यान नहीं गया था। ऐसे में देश में शिक्षा के विकास में सर चार्ल्स वुड द्वारा 1854 में पेश की गई शैक्षणिक विज्ञप्ति एक महत्त्वपूर्ण घटना बनी। वस्तुत 1853 में कम्पनी के चार्टर के नवीनीकरण के अवसर पर एक संसदीय समिति नियुक्त की गई थी जिसके सुझावों के आधार पर 19 जुलाई 1853 को कम्पनी के संचालकों ने अपनी शिक्षा नीति का एक प्रारूप तैयार किया। बोर्ड ऑफ कंट्रोल के प्रधान चार्ल्स वुड द्वारा प्रस्तुत यह प्रारूप 'वुड के स्मरण पत्र' के नाम से जाना जाता है। इसमें कहा गया कि अंग्रेजी शिक्षा नीति का उद्देश्य होगाः देश में ऐसे योग्य व्यक्ति उत्पन्न करना जिन्हें सरकारी पदों पर रखा जा सकें। वुड स्मरण घोषणा पत्र में पहली बार 'जन शिक्षा' को सरकार का दायित्व घोषित किया और इस दिशा में कुछ नवीन योजनाओं, जिनमें देश में अनेकों स्कूलों और कालेजों के साथ चार विश्वविद्यालय स्थापित करने जैसी बातें शामिल थी, को प्रस्तुत किया गया। इसमें मैकाले के विचारों का समर्थन करते हुए कहा गया कि प्राच्य शिक्षा पद्धति में भारी त्रुटियां है तथा देशी भाषाओं में स्तरीय पुस्तकों का अभाव है इसलिए अंग्रेजी को ही शिक्षा का माध्यम बनाना आवश्यक है। [7] जाहिर है, वुड का स्मरण पत्र भारत के कल्याण की भावना से प्रेरित नहीं था।

1882 की वुड की संस्तुतियों के क्रियान्वयन का मूल्यांकन करने के लिए विलियम विल्सन हंटर की अध्यक्षता में एक आयोग की नियुक्ति की गई। इस आयोग में 8 भारतीय भी थे। इस आयोग ने कहा कि प्राथमिक शिक्षा के विकास पर ध्यान दिया जाना चाहिए तथा यह स्थानीय भाषाओं में दी जानी चाहिए। प्राथमिक शिक्षा का नियंत्रण स्थानीय शासन संस्थाओं विशेषकर जिला बोड़ों तथा नगरपालिकाओं को सौंप दिया जाये। [8] हंटर आयोग की सिफारिशों के आधार पर अगले कुछ वर्षों तक ब्रिटिश सरकार की शिक्षा नीति आगे बढ़ी। इस काल में सरकार ने शिक्षा के क्षेत्र में उदासीनता की नीति त्याग दी। फलस्वरूप देश में 19वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में शिक्षा विशेषकर उच्च शिक्षा का पर्याप्त विकास हुआ। इसके फलस्वरूप शिक्षित एवं प्रबुद्ध भारतीयों का एक नया वर्ग उभरा।

वस्तुतः मैकाले चाहते थे कि भारतीयों को तर्क और विज्ञान पर आधारित पाश्चात्य शिक्षा प्रदान की जानी चाहिए। उन्हें आधुनिक पश्चिमी सभ्यता का ज्ञान होना चाहिए। इसलिए उसने शिक्षा नीति को एक ऐसा साधन बनाने पर जोर दिया जिसके द्वारा भारतीयों के 'मानस का यूरोपीकरण अंग्रेजीकरण' किया जा सकता था।[9] इस तरह 19वीं शताब्दी में शिक्षा में अंग्रेजी भाषा को शामिल किया जाना एक महत्त्वपूर्ण नीति बनी। यह भाषा ही वह खिड़की थी जिसके जरिए भारतीयों ने यूरोप की सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक व्यवस्था को जाना। उस समय अंग्रेजी भाषा प्रबुद्ध वर्ग की भाषा बन गई थी और भारत के शिक्षित बौद्धिक वर्ग ने इसमें जल्दी ही महारत हासिल कर ली थी। तत्कालीन अंग्रेजी साहित्य में वैचारिक आजादी पर विशेष बल दिया जाता था और इस कारण इसने भारतीयों के विचारों में भी परिवर्तन लाना आरम्भ कर दिया। अतः यह सच में ध्यान देने योग्य बात है कि ब्रिटिश युग की किसी एक घटना ने भारतीयों को इतना अधिक प्रभावित नहीं किया होगा जितना कि कम्पनी सरकार के इस निर्णय ने जिसमें कहा गया कि वह अंग्रेजी शिक्षा के लिए आर्थिक सहायता प्रदान करेगी, अंग्रेजी भाषा का समर्थन करेगी और सरकारी स्कूलों के पाठ्यक्रम में अंग्रेजी को शामिल करेगी।[10]

वास्तव में अंग्रेजों की नई शिक्षा प्रणाली का मुख्य लक्ष्य था कि शीघ्र ही अंग्रेजी हर जगह फैल जाए और इसके जरिए अंग्रेजी आचार–विचार, संस्कार एवं मानस भी। बेशक शिक्षा की इस नई पद्धति ने भारतीयों पर गहन प्रभाव डाले। नए अंग्रेजी स्कूलों के विद्यार्थियों ने अंग्रेजों की तरह बोलना, सोचना और कपड़े पहनना शुरू कर दिया था। इन स्कूलों से निकलने वाली नई पीढ़ी अपनी पुरानी पीढ़ी से काफी अलग थी। उनका जीने का तरीका परम्परागत नहीं था बल्कि आधुनिक/अंग्रेजी था। इस चीज ने भविष्य में घटित होने वाले सामाजिक एवं राजनीतिक विकासों पर गहन प्रभाव डाला। यहां से भारतीयों ने पश्चिमी तौर–तरीकों व विचारों को सीखना शुरू कर दिया।[11] परन्तु चूंकि यह शिक्षा प्रबोधन एवं पुनर्जागरण जैसी पाश्चात्य बौद्धिक अवधारणाओं पर आधारित थी, इसलिए इसने भारतीयों को अंग्रेजी मानस का गुलाम नहीं बनाया (जैसा कि मैकाले ने उम्मीद की थी), अपितु उनमें आत्मबोध तथा पुनर्जागरण जैसी भावनाएं उत्पन्न की। अर्थात् अब भारतीयों भी अपने भूतकाल के गौरव के बारे में सोचने लगे। बंगाल की 'एशियाटिक सोसाइटी' ने कालिदास की रचना *अभिज्ञान शकुन्तलम* का अंग्रेजी

में अनुवाद किया। इस तरह भारतीय बौद्धिक परम्पराओं की खोज की जाने लगी। अनेक प्रबुद्ध भारतीय अब अपनी प्राचीन सभ्यता पर गर्व कर रहे थे। वे महसूस करने लगे कि वे न केवल विश्व के बौद्धिक विकास में अपना योगदान दे रहे हैं बल्कि उनकी भी एक गौरवपूर्ण सभ्यता थी।[12]

इस प्रकार अंग्रेजी शिक्षा ने भारतीयों की मनोदशा को काफी प्रभावित किया। इसने उनकी अन्तर्मुखी प्रवृति को भंग कर दिया। यह एक महत्त्वपूर्ण घटना थी। हालांकि ब्रिटिश सरकार की शिक्षा नीति न तो अधिक उदारवादी थी और न ही विकासवादी। फिर भी इसने एक ऐसे बड़े शिक्षित मध्यम वर्ग का निर्माण कर दिया था जो आधुनिक भारतीय संस्कृति का निर्माता और राजनीतिक जागृति का प्रणेता बना। इसी वर्ग ने देश में **सांस्कृतिक पुनर्जागरण** की नींव रखी। सर्वप्रथम यह पुनर्जागरण बंगाल में उभर कर आया जहां आधुनिक शिक्षा की प्रगति सर्वाधिक हुई थी।

भारतीय पुनर्जागरण के इतिहास में कलकत्ता में वारेन हेस्टिंग्ज के काल में हिन्दू कालेज की स्थापना एक महत्त्वपूर्ण घटना मानी जा सकती है। बंगाल और अंततः सम्पूर्ण भारत के जनजागरण का इतिहास वास्तव में हिन्दू कालेज से प्रारम्भ होता है।

हिन्दू कालेज की स्थापना से पूर्व बंगाल में न तो कोई प्रबुद्ध जनमत था औ र न ही किसी प्रकार की जागृति। जीवन पर धर्म का व्यापक प्रभाव था और आधुनिक–राजनीतिक विचारों से भारतीयों का कोई सम्पर्क नहीं था।[13]

वस्तुतः पाश्चात्य शिक्षा के माध्यम से भारतीयों को पाश्चात्य विज्ञान, साहित्य एवं इतिहास के अध्ययन करने का अवसर मिला था जिसके परिणामस्वरूप उनके मस्तिष्क की संकीर्णता दूर हुई और उनका दृष्टिकोण व्यापक हुआ। अब धार्मिक अंधविश्वास का स्थान क्रमशः तार्किक चिन्तन प्रणाली ने ले लिया। जीवन के प्रति आधुनिक, विवेकपूर्ण और वैज्ञानिक दृष्टिकोण अपनाने के फलस्वरूप भारत में धार्मिक–सांस्कृतिक पुनरुद्धार आन्दोलन आगे बढ़ा। [14] इसी दौर में विलियम जोंस जैसे प्राच्यवादी लेखकों ने प्राचीन भारतीय संस्कृति, साहित्य एवं कला को उजागर करते हुए भारतीयों को अपनी प्राचीन सभ्यता तथा संस्कृति की महानता का ज्ञान कराया। परिणामस्वरूप अनेक प्रबुद्ध भारतीयों को सांस्कृतिक पुनर्जागरण की दिशा में आगे बढ़ने की प्रेरणा मिली।

भारतीय पुनर्जागरण आन्दोलन का एक महत्त्वपूर्ण अंग सामाजिक–धार्मिक सुधार आन्दोलन थे। इस सम्बन्ध में सी॰एच॰ हाईमसाथ नामक इतिहासकार ने 'भारतीय पुनर्जागरण तथा हिन्दू समाज सुधार' का विश्लेषण करते हुए भारतीय समाज सुधार आन्दोलन के इतिहास की तीन अवस्थाओं का वर्णन किया है। पहली अवस्था में सुधारकों ने धार्मिक–सामाजिक बंधनों के विरूद्ध व्यक्तिगत रूप से विद्रोह किया। यह अवस्था राजा राममोहन राय के काल से लगभग 1880 तक चली। दूसरी अवस्था में बेहरामजी मेरवानजी मालाबारी और भारतीय सामाजिक सम्मेलन के प्रयत्नों के फलस्वरूप समाज सुधार आन्दोलन राष्ट्रीय स्तर पर उभरकर आया ।

यह अवस्था लगभग 1905 तक चली। तीसरी अवस्था में समाज सुधार के प्रश्न को राष्ट्र के सांस्कृतिक जागरण के साथ ही जोड़ दिया गया। इसे अतिवादी राष्ट्रीय नेताओं के कार्यों से संबद्ध करके देखा जाता है। इसके आगे चौथी अवस्था को हम उस काल से जोड़ सकते हैं जिसमें महात्मा गांधी के नेतृत्व में समाज सुधार भारतीय राष्ट्र के सर्वतोमुखी पुनर्निर्माण आन्दोलन का ही भाग बन गया।[15]

समाजिक–धार्मिक सुधार आन्दोलनों का मुख्य उद्देश्य देश में विद्यमान सामाजिक–धार्मिक कुरीतियों को दूर करना और नागरिकों में सबके हित के लिए भाइचारे, त्याग व कल्याण की भावनाएं जगाना था। इसका एक अहम लक्ष्य यह भी था कि स्त्रियों के प्रति अच्छा व्यवहार किया जाये। अर्थात् सती प्रथा, कन्या शिशु हत्या, बाल विवाह और बहुपत्नी प्रथा जैसी कुरीतियों बन्द की जाय, विधवा–विवाह को लोकप्रिय बनाया जाय, स्त्रियों के लिए शिक्षा का प्रबंध किया जाय व उन्हें आर्थिक क्षेत्र में अग्रसर होने और आत्मनिर्भर बनने के अवसर दिये जाएं। अन्त में, उन्हें भारत के राजनीतिक जीवन में सहयोगी बनाया जाये। समाज सुधार आन्दोलनों का दूसरा मुख्य लक्ष्य हिन्दू समाज में विद्यमान जात–पात के बंधनों पर प्रहार करना और शूद्रों एवं अछूतों के प्रति सामाजिक अन्याय एवं दुर्व्यवहार को समाप्त करना था।[16]

वस्तुतः 19वीं शताब्दी में राममोहनराय व ईश्वर चन्द्र विद्यासागर जैसे भारतीय राजनीतिक और सामाजिक नेताओं का जो समूह उभर कर आया, वास्तव में वह पाश्चात्य उदारवाद के साथ भारतीय

संस्कृति से भी प्रभावित था। इन आधुनिक भारतीय नेताओं ने देश में सांस्कृतिक/राष्ट्रीय चेतना का सूत्रपात किया। इसी दौर ने **विवेकानन्द के उदय** होने का आधार बनाया।

वास्तव में वह समय, जब विवेकानन्द सांस्कृतिक पुर्नजागरण का अनुभव कर रहे थे, पाश्चात्य विचारों के प्रभावस्वरूप उत्पन्न हुआ एक संक्रमण काल था। उस समय भारतीयों का जीने का तरीका बदल रहा था। अंग्रेजी शिक्षा ने भारतीयों की बुद्धि पर गम्भीर असर डाला था। यद्यपि अब भी कट्टरपंथी वर्गों ने अपनी सनातनी परम्पराओं को बनाए रखा था। उन्होंने अंग्रेजी भाषा को नहीं सीखा और आधुनिक विचारों व तौर–तरीकों का प्रभाव अपने ऊपर पड़ने नहीं दिया। साथ ही अपनी प्राचीन परम्पराओं को बनाए रखने हेतु उनके कुछ उत्तेजक प्रयत्न भी चलते रहें। जबकि दूसरी तरफ, अनेक लोग अपने जीवन में पश्चिमी जगत की चीजों बातों को तेजी से अपना रहे थे और पश्चिमीकरण का शिकार बन रहे थे ऐसे लोग मान चुके थे कि भारतीय लोग कई क्षेत्रों के पाश्चात्य लोगों की तुलना में 'असभ्य' हैं। परन्तु एक और तीसरा वर्ग ऐसे प्रबुद्ध लोगों का भी था जो आधुनिक होते हुए भी भारतीय संस्कृति की जड़ों से जुड़े हुए थे वे पश्चिमी की सभी बातों पर आंख मूंदकर विश्वास नहीं कर रहे थे ं। वे पश्चिमी की तरफ आकर्षित अवश्य थे, परन्तु उसके अधीन नहीं थे। ब्रिटिश राज जो बातें प्रचारित कर रहा था, ये लोग उसकी ऐसी बातों की चिन्ता नहीं कर रहे थे क्योंकि वे जानते थे कि भारतीय लोग भूतकाल में भी बहुत सी विदेशी राजनीतिक शक्तियों को सहन कर चुके थे। उनके लिए एक सरकार में बदलाव का मतलब यह नहीं था कि भारतीयों के जीवन मूल्यों में परिवर्तन हो जाता था। इस वर्ग से महसूस किया कि भारतीयों को कथित रूप से 'सभ्य' बनाने के उद्देश्य से भारत में आए अंग्रेज भारतीयों के जीवन में हर तरफ दखलअंदाजी कर रहे थे। वे जबरन लोगों से अपने धर्म और संस्कृति को मनवा रहे थे। इसके कारण भारतीयों के इस वर्ग ने लोगों की सोई हुई चेतना को जगाने हेतु पुनर्जागरण आन्दोलन को आगे बढ़ाया। इसके पहले पड़ाव में राजा राम मोहनराय, स्वामी दयानन्द केशव चन्द्र सेन, श्री अरविन्दो घोष जैसे सुधारकों के आन्दोलन शामिल थे।[17]

जैसा कि बतलाया जा चुका है, राजा राममोहन राय ने 19वीं शताब्दी में भारतीय पुनर्जागरण का सूत्रपात किया। इस कारण उनको 'आधुनिक भारत का जनक' भी कहा जाता है। वे पश्चिमी शिक्षा,

उदारवाद और ईसाई धर्म से प्रभावित थे। उनके सामाजिक सुधार और उदारवादी सामाजिक व्यवस्था को स्थापित करने जैसे कार्य अपनी प्रकृति में धार्मिक कम, राष्ट्रीय ज्यादा थे। इसकी प्रेरणा उन्होंने पश्चिमी उदारवाद से ली थी।[18]

राममोहन राय ने 1928 में 'ब्रह्म समाज' की स्थापना की जिसका विकास देवेन्द्रनाथ टैगोर ने 18 वर्षों के बाद एक बड़े सुधार आन्दोलन के रूप में किया। राममोहन राय कहते थे कि सभी लोग वेदान्त व उपनिषदों के मुख्य सिद्धान्तों की ओर लौट आएं और उन सभी धार्मिक और सामाजिक कुरीतियों को छोड़ द ें जो हिन्दू धर्म को भ्रष्ट कर रही हैं। उनके सुधार मुख्यतः वेदों और उपनिषदों की नई एवं विवादास्पद व्याख्या पर आधारित थे।[19] बंगाल में जन्में राजा राममोहन राय हिन्दू धर्म और समाज के दोषों से परिचित थे तथा उनमें सुधार लाना चाहते थे ं। उनको उपनिषदों का गहरा ज्ञान था और वे सभी धर्मों की मौलिक एकता में विश्वास रखते थे। साथ ही साथ उनके मन में पाश्चात्य दार्शनिक विचारों के लिए भी आदर था। उनका विचार था कि भारत का पुनरुत्थान पाश्चात्य संस्कृति की कतिपय श्रेष्ठ चीज को ग्रहण करने से हो सकता है। राममोहन राय के आन्दोलन के प्रमुख उद्देश्य सती प्रथा का निषेध, जातीय विभेदों की समाप्ति, कन्या शिशु हत्या का अन्त, विधवा विवाह का प्रचलन एवं अंधविश्वास तथा रूढ़िवादिता की समाप्ति आदि थे[20]

राममोहन राय के समय ब्रह्म समाज ने अपनी पहुंच अधिक लोगों तक नहीं बनाई थी। उसकी सदस्यता केवल कुछ विशिष्ट वर्गों तक सीमित थी। ऐसा अनुमान लगाया जाता है कि 1884 तक बंगाल में इसके 1500 से अधिक सदस्य नहीं थे और पूरे देश में कुल 8000 के आस–पास इसके सदस्य थे।[21] ब्रह्म समाज हिन्दू समाज को बदलने पर जोर दे रहा था। परन्तु बहुदेववाद की निंदा तथा मूर्ति पूजा का विरोध जैसी इसकी कई बातें भारतीयों की भावनाओं और दिलों को नहीं छू सकी थी। परन्तु फिर भी इसका भारतीय पुनर्जागरण आन्दोलन में मुख्य योगदान रहा था।

राममोहन राय ने सती प्रथा जैसी क्रूर व अमानवीय प्रथा का घोर विरोध किया। उन्होंने कहा कि यह हत्या है, इसलिए इसे किसी भी शास्त्र के अनुसार उचित नहीं ठहराया जा सकता। उन्हीं के आग्रह एवं प्रयासों के फलस्वरूप तत्कालीन गवर्नर–जनरल लार्ड विलियम बैंटिक ने 1829 में कानून द्वारा इस

प्रथा को समाप्त कर दिया तथा न्यायालयों को आदेश दिया गया कि वे ऐसे मामलों में हत्या की श्रेणी के अपराध की धाराओं को लगाकर मुकदमा चलाये और अपराधियों को कठोर दण्ड दे। प्रारम्भ में यह नियम केवल बंगाल के लिए था, लेकिन 1830 ई॰ में इसे बम्बई एवं मद्रास प्रान्तों में भी लागू कर दिया गया।[22]

राममोहन राय ने बालिका हत्या जैसी क्रूर प्रथा का भी विरोध किया। यह प्रथा सभी भारतीय, विशेषकर बंगालियों और राजपूतों, में प्रचलित काफी थी। इस प्रथा के अनुसार आर्थिक व सामाजिक भार मानकर या अन्य पूर्वाग्रहों के चलते बालिकाओं की बचपन में ही हत्या कर दी जाती थी। अतः राममोहन राय जैसे प्रबुद्ध भारतीयों एवं अंग्रेज दोनों ही ने इस प्रथा की आलोचना की। अन्ततः कानून बनाकर 1834 में शिशु हत्या को साधारण हत्या का अपराध माना गया। भारतीय रियासतों के रेजिडेंटों को भी कहा गया कि वे रियासतों में इस कुप्रथा को बंद करवाने के प्रयास करें। इस प्रथा को रोकने के लिए 1870 ई॰ में भी कुछ कानून बनाये गये। जाहिर है, राममोहन राय एवं उसके उत्तराधिकारियों के नेतृत्व में ब्रह्म समाज ने समाज सुधार के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया।[23]

उन्नीसवीं शताब्दी के तीसरे और चौथे दशक में बंगाल के बुद्धिजीवियों में एक 'रेडिकल' या उग्रवादी प्रवृत्ति का जन्म हुआ। इस प्रवृत्ति की उत्पत्ति में कलकत्ता के हिन्दू कालेज के एक अध्यापक हेनरी विवियन डिरोजियो (1809–30) का अहम योगदान था। डिरोजियो चाहते थे कि भारत के लोगों की आधुनिक राजनीतिक विचारों में रुचि पैदा हो। इस उद्देश्य से प्रेरित होकर उसने हिन्दू कालेज के कुछ मेधावी छात्रों से निकट सम्बन्ध स्थापित किये। वे उन्हें यूरोप के नवीन राजनीतिक विचारों से परिचित कराते थे अमृतलाल मित्र, कृष्णमोहन बैनर्जी, रसिक कृष्ण मल्लिक, दक्षिणा रंजन मुखर्जी, रामगोपाल घोष, शिवचन्द दास, माधवचन्द मलिक आदि कई भारतीय छात्र उनके निकट सम्पर्क में थे। डिरोजियों उनके घरों–मोहल्ले जाया करते थे और वहाँ ऐसी गोष्ठियां की जाती थी जिनमें धर्म, राजनीति, नैतिकता तथा सांस्कृतिक इतिहास जैसे विषयों पर विचार–विमर्श होते थे। इस प्रकार उनसे प्रभावित छात्रों ने बंगाल में एक नया जन–जागरण आन्दोलन चलाया जिसे 'यंग बंगाल आन्दोलन' कहा गया। इसके सदस्य अंधविश्वासों से परे थे और 'राष्ट्रीय नवनिर्माण' की बातें करते थे।[24]

डिरोजियों के विचारों से प्रभावित युवा बंगालियों ने एक 'ऐकेडेमिक एसोसिएशन' की भी स्थापना की। इस एसोसिएशन के तत्वाधान में जगह–जगह सभाएं होती थी जहां खुले दिमाग से तमाम विषयों पर बहस होती थी। अब एसोसिएशन की सभाओं/गोष्ठियों में सिर्फ हिन्दू कालेज के छात्र ही नहीं, वरन् कलकत्ता के शिक्षित और जागरूक वर्ग के लोग भी भाग लेने पहुंचने लगे थे जाहिर है, यंग बंगाल आन्दोलन ने सोए हुए भारतीयों को जागृत किया और वे पुरानी दकियानूसी मान्यताओं की खुलेआम आलोचना करने लगे। पुरातनपंथी भारतीयों को स्वाभाविक रूप से डिरोजियो के ऐसे विचार पसंद नहीं थे। अतः उन्होंने उनका विरोध किया। इस कारण अप्रैल 1831 में डिरोजियो को हिन्दू कालेज से निकाल दिया गया। लेकिन उन्होंने अपने विचारों को फैलाने के लिए *'ईस्ट इण्डिया'* नामक एक दैनिक पत्र का संपादन संभाल लिया। दिसम्बर 1831 में अपनी मृत्यु होने तक वे आन्दोलन का नेतृत्व करते रहें।[25]

यंग बंगाल आन्दोलन पश्चिमी विचारों, विशेषकर 1789 की फ्रांस की क्रान्ति के सिद्धान्तों, से काफी प्रभावित था। साथ ही इस पर मैजिनी के नेतृत्व में चले इटली के एकीकरण और स्वतंत्रता आन्दोलन का भी प्रभाव था। बंगाल के अनेक युवक इस आन्दोलन के विचारों से प्रभावित हुए थे। सुरेन्द्रनाथ बनर्जी तक ने अपने ऊपर इसके प्रभाव को स्वीकार किया था। डिरोजियो के मरने के बाद भी उनके समर्थक/अनुयायी बंगाल में बने रहें और उनके द्वारा बताये मार्ग पर चलते रहें। वस्तुतः बंगाल में लोकप्रिय सार्वजनिक संगठनों के निर्माण का प्रारम्भ डिरोजियो के क्रियाकलापों से माना जाता है।[26]

19वीं शताब्दी के पुर्नजागरण आन्दोलन में ईश्वर चन्द्र विद्यासागर का भी महत्त्वपूर्ण योगदान माना जाता है। उन्होंने बंगाल में शिक्षा का प्रसार किया, संस्कृत पढ़ाने की एक नई तकनीक विकसित की और अपनी रचनाओं द्वारा बांग्ला में आधुनिक गद्य शैली के विकास में सहायता दी। कलकत्ता के संस्कृत कालेज में पढ़ाते हुए उन्होंने पाश्चात्य दर्शन का अध्ययन भी किया। उनका एक महत्त्वपूर्ण कार्य था : संस्कृत कालेज के दरवाजे गैर–ब्राह्मण विद्यार्थियों के लिए खोलना। दरअसल उस समय संस्कृत के अध्ययन पर ब्राह्मण जाति का एकाधिकार था जिसके वे विरोधी थे। वे अपने मानवतावादी कार्यों को बगैर भेदभाव के आगे बढ़ा रहे थे।[27]

विद्यासागर के नेतृत्व में स्त्रियों की स्थिति सुधारने, बाल–विवाह व बहु विवाह का निषेध करने और विधवा विवाह की अनुमति के प्रश्न पर भी आन्दोलन शुरू किया गया। विद्यासागर ने प्रमाण प्रस्तुत करते हुए कहा कि वेद विधवा पुनः विवाह की अनुमति देते हैं। इस सम्बन्ध में उन्होंने लगभग एक सहस्त्र हस्ताक्षरों से अनुमोदित एक प्रार्थना पत्र अंग्रेजी सरकार को भेजा। अंततः यह सुधार आन्दोलन सफल हुआ और 1856 के विधवा पुनर्विवाह अधिनियम द्वारा विधवा विवाह को वैध मान लिया गया और ऐसे विवाह से उत्पन्न बच्चे वैध घोषित किये गये। [28]

विद्यासागर नारी शिक्षा को अत्यावश्यक मानते थे। स्त्रियों में शिक्षा के प्रचार का काम इनसे पहले ईसाईयों ने प्रारम्भ किया था। ईसाई धर्म प्रचारकों ने 1819 में कलकत्ता में 'कलकत्ता तरूण स्त्री सभा' की स्थापना की थी। आगे चलकर बंगाल शिक्षा परिषद के अध्यक्ष जे॰ ई॰ डी॰ बेटन ने 1849 में एक बालिका विद्यालय स्थापित किया। परन्तु ईश्वरचन्द्र विद्यासागर को बंगाल में कम से कम 35 बालिका विद्यालय चलाने का श्रेय जाता है। [29] बम्बई के एलफिंस्टन इन्स्टीट्यूट के विद्यार्थियों का भी स्त्री शिक्षा के प्रचार में योगदान था।

19वीं शताब्दी में भारत एक और धार्मिक आन्दोलन चला जो मुख्यतः शिक्षित भारतीयों की आध्यात्मिक ज्ञान की पिपासा को शांत करने हेतु आगे आया। यह मुख्यतः हिन्दू सिद्धान्तों पर आधारित था जिसे मैडम बलावसेक और कर्नल अलाकॉट ने न्यूयार्क में 1875 में 'थियोसिफकल सोसाइटी' के नाम से शुरू किया। यह आन्दोलन भी पूरे भारतवर्ष में फैला और इसने भारत की नई पीढ़ी को प्रभावित किया, विशेषकर जब 1907 में एनी बेसेंट सोसाइटी की अध्यक्षा बनी। उन्होंने यह घोषणा की कि सार्वभौमिक हिन्दू धर्म का वैश्विक स्तर पर प्रचार किया जाएगा। उनका यह विचार स्कूलों, कालेजों और साहित्यिक हलकों में काफी लोकप्रिय हुआ। [30]

एनी बेसेंट ने कहा कि उसने हिन्दू धर्म की दीक्षा ले ली है और ऐसा इसलिए किया है क्योंकि उसने उसके जरिए प्राचीन आध्यात्मिक ज्ञान को प्राप्त किया था। उसने कहा कि हिन्दू धर्म में कोई त्रुटि नहीं है। हिन्दूवाद भारत की जड़ों में है। इसके बिना भारत का विकास नहीं हो सकता। इसी धर्म की

बदौलत भारतीय सभ्यता बनी रही और भारत बना रहा।[31] इस प्रकार कर्नल ऑलकॉट, मैडम बलावसेक व ऐनी बेसेन्ट के प्रयासों से हिन्दुओं को अपने इतिहास पर गर्व होने लगा।[32]

महाराष्ट्र में पुनर्जागरण एवं सुधार आन्दोलन 1840 में प्रारम्भ हुआ। इस आन्दोलन की शुरूआत 'परमहंस मंडली' की स्थापना से हुई जिसका उद्देश्य थाः मूर्ति पूजा और जाति प्रथा का विरोध एवं विधवा विवाह का समर्थन। प्रारम्भिक धार्मिक सुधारक गोपाल हरि देशमुख (लोकहितवादी) ने हिन्दू धर्म की रूढ़िवादिता पर प्रहार किया और धार्मिक एवं सामाजिक समानता का समर्थन किया। बाद में ब्रह्म समाज के नेता केशव चन्द्र सेन की प्रेरणा से यहां 1867 में पण्डित रमाबाई ने 'प्रार्थना समाज' की स्थापना की। प्रार्थना समाज ने जाति व्यवस्था व पुरोहितों के आधिपत्य की आलोचना की तथा अन्तर्जातीय विवाह, विधवा विवाह, स्त्री शिक्षा आदि का समर्थन किया। कमजोर वर्गों की दशा सुधारने के उद्देश्य से इसने कई कल्याणकारी संस्थाओं का गठन किया, जैसे 'दलित वर्ग मंडल', 'समाज सेवा संघ' एवं 'दक्कन शिक्षा सभा'। इस 'समाज' में डॉ॰आत्माराम पांडुरंग (1823–98), आर॰ जी॰ भंडारकर एवं महादेव गोविन्द रानाडे भी सम्मिलित हुए। रानाडे ने महाराष्ट्र में 'विडो रीमैरिज ऐसोसिएशन' की स्थापना की तथा उन्हीं प्रयत्नों से 'दक्कन एजुकेशन सोसाइटी' का जन्म हुआ। रानाडे के शिष्य गोपाल कृष्ण गोखले ने 'सर्वेन्ट्स ऑफ इण्डिया सोसाइटी' की भी स्थापना की। ब्रह्म समाज के विपरीत प्रार्थना समाजियों ने अपने आपको हिन्दू धर्म से बाहर किसी नवीन समानांतर मत का अनुयायी नहीं माना, अपितु उन्होंने अपने 'समाज' को हिन्दू धर्म के दायरे ही रखकर सुधारों के लिए आन्दोलन किया।[33]

बंगाल की तुलना में पश्चिमी भारत में सुधार आन्दोलन साधारण जनता के अधिक करीब पहुंचा। दरअसल यहां के सुधारक अपनी विवेक शक्ति द्वारा जनमत को प्रभावित कर सुधार पर जोर देते थे। स्थापित व्यवस्था में उनकी आस्था बनी रही। वे पश्चिमी उदारवादी विचारों के माध्यम से मात्र सामाजिक कुरीतियों का निषेध करना चाहते थे, सामाजिक जीवन में आमूल परिवर्तन नहीं। इस वजह से उनका कट्टरपंथी तत्त्वों के साथ ज्यादा संघर्ष नहीं हुआ और उनके सुधारों को शीघ्र एवं आसानी से स्वीकृति मिली।[34] हालांकि इस स्थिति के कारण वहां महात्मा ज्योतिबा फुले (1827–1890) तथा बाद में डॉ॰ बी॰ आर॰ अम्बेडकर (1891–1956) जैसे निम्न जातिय समाज सुधारकों को भी आगे आना पड़ा और स्थापित

समाज व्यवस्था के विरूद्ध जुझारू प्रतिरोध आन्दोलन चलाने पड़े। इन निम्न जातिय सुधार आन्दोलनों ने भारतीय नवजागरण आन्दोलन में एक नया आयाम जोड़ा। दरअसल उन्होंने समाज को जड़ बना देने वाली जाति व्यवस्था के खिलाफ संघर्ष छेड़ा। जाति व्यवस्था न सिर्फ नैतिक रूप से एक घिनौनी व्यवस्था थी, बल्कि इसने लोगों में देश प्रेम की भावना को खत्म कर दिया था। देश में लोकतांत्रिक विचारों के प्रसार में यह सबसे बड़ी बाधा बनी हुई थी। महात्मा फुले के नेतृत्व में 'सत्यशोधक समाज' (1873) ने सर्वप्रथम वर्ण व्यवस्था के विरोध में अपनी आवाज बुलन्द की। ज्यादातर उच्चवर्गीय सुधारवादी आमतौर पर अस्पृश्यता के पूरी तरह खात्मे के पक्ष में थे, हालांकि वे चातुर्वर्ण व्यवस्था को बनाये रखने के समर्थक थे। लेकिन इस मामले में उनकी अनोखी कल्पना थी। वे चाहते थे कि वर्ण विभाजन गुण के आधार पर होना चाहिए, जन्म के आधार पर नहीं।

परन्तु फुले ऐसे प्रथम सुधारक थे जिन्होंने घोषणा की कि वर्ण व्यवस्था का विचार ही त्य ाज्य है क्योंकि इसी विचार ने कालान्तर में जातिभेद एवं अस्पृश्यता को जन्म दिया। बाद में डॉ॰ अम्बेडकर ने भी *'जाति का विनाश'* (1936) नामक अपनी पुस्तक में फुले की इसी थीसिस को आगे बढ़ाया।[35]

1824 में भारत भूमि ने एक और महान योगी, वेदों का ज्ञान रखने वाले और महान समाज सुधारक को जन्म दिया जिसका नाम स्वामी दयानन्द सरस्वती था। वे 19वीं शताब्दी के भारतीय पुर्नजागरण आन्दोलन के दूसरे प्रमुख नेता थे। वे स्वभाव से जन्मजात अन्याय का विरोध करने वाले थे उन्होंने कहा "संसार अन्धविश्वास और अज्ञानता की बेड़ियों से बंधा हुआ है। मैं इन बेड़ियों को खोलने आया हूं ताकि संसार आजादी पा सके।" [36] दयानन्द ने हिन्दू धर्म की कठोर दकियानूसी परम्पराओं मूर्तिपूजा और अनुचित रीति–रिवाजों को मानने से इन्कार कर दिया था। व` ईसाई और इस्लाम धर्म की कुछ खराबियों की भी आलोचना करते रहे थे फुले की तरह उन्होंने भी स्वयं को 'सत्यशोधक' बतलाते हुए घोषणा की कि उनके जीवन का लक्ष्य था सत्य की खोज करना।[37]

वस्तुतः उत्तर भारत में हिन्दू धर्म और समाज में सुधार लाने का काम मुख्यतः स्वामी दयानन्द ने ही किया। उन्होंने 1875 में बम्बई में 'आर्य समाज' की स्थापना की। वे एक ही ईश्वर में विश्वास रखते थे तथा मूर्तिपूजा के आलोचक थे। उन्होंने अंधविश्वास का विरोध करके 'मूल वैदिक धर्म' को अपनाने

पर जोर दिया। साथ ही हिन्दू समाज एवं धर्म में प्रचलित कुरीतियों जैसे जाति–पाति, बाल विवाह, पर्दा आदि पर प्रहार किया और अस्पृश्यता के विरूद्ध संघर्ष किया। उन्होंने स्त्री शिक्षा व विधवा पुनर्विवाह को प्रोत्साहन दिया। साथ ही रूढ़िवादिता का विरोध करते हुए बहुदेववाद, अवतारवाद, श्राद्ध व झूठे कर्मकाण्डों का विरोध किया।[38]

शिक्षा के क्षेत्र में आर्य समाज ने काफी महत्त्वपूर्ण योगदान दिया। इसने पाश्चात्य और गुरुकुल दोनों प्रणालियों द्वारा शिक्षा के प्रसार में योगदान दिया। स्त्री शिक्षा के लिए आर्य समाज ने अनेकों कन्या गुरुकुलों व पाठशालाओं की स्थापना की। 1886 में लाहौर में 'दयानंद ऐंग्लो–वैदिक स्कूल' की स्थापना हुई जो 1889 में 'दयानंद ऐंग्लो–वैदिक कालेज' में बदल गया। इस कालेज में पठन–पाठन पश्चिमी पद्धति से किया जाता था। बाद में पंजाब व देश के अन्य शहरों में भी ऐसे ही डी॰ए॰वी॰ स्कूल व कॉलेज खोले गये। आर्य समाजियों की 'गुरुकुल शाखा' ने परम्परागत भारतीय पद्धति से शिक्षा देने के लिए 1902 में हरिद्वार के निकट काँगड़ी में 'गुरुकुल विद्यापीठ' की नींव रखी। वस्तुत डी॰ए॰वी॰ एवं गुरुकुल दोनों ही संस्थानों में भारतीय संस्कृति पर जोर देते हुए विद्यार्थियों के मन में आत्म गौरव व आत्मसम्मान भरने का प्रयास किया जाता था। इसलिए कालान्तर में आर्य संस्थाओं से निकले युवकों ने अंग्रेजी राज के शोषण एवं भेदभाव के विरूद्ध राष्ट्र प्रेम की भावना से प्रेरित होकर स्वाधीनता आन्दोलन में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया।[39]

वस्तुतः भारतीय पुनर्जागरण आन्दोलन में आर्य समाज की भूमिका काफी महत्त्वपूर्ण रही। आर्य समाज ने स्वदेशी प्रचार, बहिष्कार आन्दोलन व राष्ट्रीय शिक्षा जैसे रचनात्मक कार्यक्रम भी चलाए। साथ ही दलितोद्धार आन्दोलन भी आगे बढ़ाया। इसने बाद में जाति प्रथा को तोड़ने के लिए कई अन्तर्जातीय विवाह भी करवाये। इस प्रकार आर्य समाज भी एक जुझारू धर्मसुधार आन्दोलन था जिसने तत्कालीन धर्म और समाज के विभिन्न क्षेत्रों में पिछले बहुत समय से प्रविष्ठ कुरीतियों के उन्मूलन का कार्य किया।

19वीं शताब्दी के अन्तिम हिस्से तथा 20वीं शताब्दी के आरम्भ में समाज सुधार के क्षेत्र में विभिन्न आन्दोलन प्रायः समूचे भारत में उभर आये थे। उत्तर प्रदेश में सतनामी, अप्पापंथी व शिवनारायण सम्प्रदाय, बंगाल में कर्थवाज और बलरामी सम्प्रदाय, राजस्थान में चरनदासी तथा मेघवाल सम्प्रदाय और

आंध्रप्रदेश में वीरब्रह्म सम्प्रदाय इसके उदाहरण है। इन सभी ने बहुदेववाद, मूर्तिपूजा व जातिभेद की भर्त्सना की। कर्थवान सम्प्रदाय सभी प्रकार के जातिभेदों का परित्याग करता था। सभी लोग साथ बैठकर खाते थे और एक—दूसरे को भाई—बहन कहकर पुकारते थे। इसी तरह चरनदास सम्प्रदाय ने मूर्ति पूजा विरोध और जाति भेद विरोध के लिए वेदों का हवाला दिया।[40]

संक्षेप में, 19वीं शताब्दी में उभरे पुनर्जागरण एवं सुधार आन्दोलनों ने देश में धार्मिक व सामाजिक सुधार के साथ—साथ राष्ट्रीय चेतना जागृत करने में परोक्ष रूप से एक महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की। इस तरह इन तमाम आन्दोलनों ने भारत में सांस्कृतिक राष्ट्रवाद के उभार का मार्ग प्रशस्त किया। अतः स्वामी विवेकानन्द द्वारा रामकृष्ण मिशन की स्थापना तथा उनके सुधार आन्दोलन की पृष्ठभूमि को तैयार करने में भारतीय पुनर्जागरण आन्दोलन एक बड़ा महत्त्वपूर्ण उत्प्रेरक था ।

विवेकानन्द पर पड़े प्रभाव

19वीं शताब्दी में देश के बदलते सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक और सांस्कृतिक परिदृश्य के दौरान विवेकानन्द का प्रादुर्भाव भारतीय इतिहास की एक महान घटना है। वस्तुतः विवेकानन्द को प्रेरित करने में अकेले भारतीय पुनर्जागरण की भूमिका ही नहीं थी, बल्कि कई दूसरी अहम शक्तियों व तत्त्वों ने उनके व्यक्तित्व और विचारों को आकृति प्रदान की थी। इन सभी चीजों के चलते उनके बौद्धिक व्यक्तित्व का निर्माण हुआ। जैसा कि हम पहले अध्याय में जान चुके हैं, विवेकानन्द (नरेन्द्र नाथ) का जन्म कलकत्ता में हुआ था। उनके पिता विश्वनाथ कलकत्ता के हाई कोर्ट में अटार्नी जनरल थे। ऐसे में उन पर कलकत्ता के परिवेश में अपने परिजनों व गुरुजनों द्वारा दिए संस्कारों का काफी प्रभाव पड़ा था। उनके पिता एक दयावान व सहनशील व्यक्ति थे। उनकी माता भुवनेश्वरी देवी का व्यवहार भी बड़ा दयालु व धार्मिक था।

विवेकानन्द के जीवन के आरम्भिक दौर में ही उनमें राष्ट्रीयता की भावना का विकास हुआ जिस पर उनके पिता का विशेष प्रभाव था। उन्होंने इस भावना को अपने जीवन के अन्तिम समय तक सहेजकर रखा। वे एक बहुमुखी प्रतिभा के धनी थे । छः वर्ष की आयु में नरेन्द्र ने संस्कृत भाषा व व्याकरण में महारत हासिल कर ली थी। सात वर्ष की उम्र में उनको ईश्वरचंद्र विद्यासागर द्वारा कलकत्ता

में चलाये जा रहे संस्थान में प्रवेश दिलाया गया था। यहां पर उन्होंने अंग्रेजी भाषा में भी महारत हासिल की। यहीं पर उन्होंने बंगाली तथा भारतीय क्लासीकल साहित्य का अध्ययन भी किया। उन्होंने प्रेजिडेंसी कॉलेज से शिक्षा लेने के बाद 'जनरल असेम्बली संस्थान' में प्रवेश किया। यहां पर कई भारतीय और ब्रिटिश प्राध्यापकों का ध्यान उनकी अद्भुत स्मरण शक्ति व प्रतिभा की तरफ आकर्षित हुआ।[41]

उल्लेखनीय है कि अपनी शिक्षा के आरम्भिक काल में विवेकानंद हरबर्ट स्पेंसर के सिद्धांतों पर विचार करने लगे थे। परन्तु स्पेंसरवाद उनकी बुद्धि की जिज्ञासा को शांत नहीं कर सका। उन्होंने बाद में स्पेंसर के सिद्धान्त की आलोचना की। वे ब्रिटिश विश्वकोष (एन्साइक्लोपीडिया) के ग्यारह खण्डों के भी जानकार थे[42] उनको धार्मिक ज्ञान हासिल करने का विशेष जुनून था। फिर भी उन्होंने अंग्रेजी साहित्य, यूरोपीयन इतिहास, पश्चिमी दर्शन, विज्ञान, कला, संगीत और चिकित्सा का भी अध्ययन किया था। उन्होंने स्पेन्सर, मिल, कांट, हीगल, और काम्टे जैसे पाश्चात्य दार्शनिकों का भी बखूबी अध्ययन किया।[43]

जॉन स्टुअर्ट मिल की रचना 'धर्म पर तीन निबंध' ने तो नरेन्द्र के बालपन को झकझोर कर रख दिया। उनके आशावादी विचारों, जो उन्होंने ब्रह्म समाज से आत्मसात किये थे, के स्थान पर स्पेन्सर के सिद्धान्तों ने उसके दिमाग में एक अज्ञेवादी दर्शन का प्रवेश करा दिया था जिसके चलते उन्हें धर्म पर दुविधा उत्पन्न होने लगी। हीगल का 'सार्वभौमिक धार्मिक सिद्धांत' भी विवेकानन्द की प्राकृतिक जिज्ञासा को शांत नहीं करा सका।[44] बाद में उन्होंने भारतीय दर्शन और धर्मग्रंथों का गहन अध्ययन किया और विशेषकर वेदान्त के दर्शन को आत्मसात किया।

आध्यात्मिक सन्तुष्टि के लिए विवेकानन्द एक के बाद दूसरे धार्मिक व्यक्ति से मिलते रहे। पर किसी ने उनकी जिज्ञासा शान्त नहीं की।[45] उनकी खोज तब तक चलती रही जब तक उनको अपना गुरु नहीं मिला। उस समय बंगाल में चल रहे अधिकांश आधुनिक व धार्मिक आन्दोलन बहुत ज्यादा गहरी व पुरानी सांस्कृतिक परम्परा पर आधारित नहीं थे। वे मुख्यतः पूर्व और पश्चिम के मध्य सहमति पर आधारित थे। उनमें से कुछ क्षमा याचना पर आधारित थे। परन्तु कोई भी विश्वसनीय अनुभव पर आधारित नहीं था। इस कारण वे सब नरेन्द्र की गहरी धार्मिक पिपासा को शांत न कर सके। वे किसी

ऐसे व्यक्ति की खोज में थे जो अपने खुद के अनुभव की शक्ति के आधार पर उनकी धार्मिक पिपासा को शांत करा सके। इसी दौरान उनको अपने एक प्राध्यापक हसटे से रामकृष्ण परमहंस के बारे में पता चला वे स्वयं भी रामकृष्ण से मिल चुके थे। हसटे, जी स्कॉटिश चर्च कॉलेज, कलकत्ता में अंग्रेजी काव्य पढ़ाते थे, ने आध्यात्मिक मनोदशा पर एक लेख लिखा था। नरेन्द्र और कुछ अन्य विद्यार्थी इस लेख का अर्थ नहीं समझ पाए थे। प्राध्यापक ने कहा कि "इस अनुभव को तो एक ही मनुष्य ने महसूस किया है और वह हैः दक्षिणेश्वर मन्दिर के साधु रामकृष्ण परमहंस। तुम इसको समझना चाहते हो तो उनके पास जा सकते हो और स्वयं देख सकते हो।" 46 इस प्रकार वे गुरू रामकृष्ण से मिलने जा पहुँचे।

दरअसल विवेकानन्द भगवान् को आमने–सामने देखना चाहते थे। इसलिए एक बार उन्होंने साफ–साफ शब्दों में ब्रह्म समाज के नेता देवेन्द्रनाथ टैगोर से भी पूछा था कि "क्या आपने भगवान को देखा है?" उनका उत्तर था, "उसको देखने के लिए तुमको संन्यासी की आंखें ग्रहण करनी पड़ेगी और इसके लिए तुमको ध्यान लगाना होगा।"47 जाहिर है, कोई भी विवेकानन्द को सन्तुष्टिदायक जवाब नहीं दे पाया था। नरेन्द्र पहली बार नवम्बर 1881 ई॰ में रामकृष्ण परमहंस से तब मिले, जब वे सुरेन्द्रनाथ के घर आये थे। वहां नरेन्द्र को भी भक्ति गीत गाने का निमंत्रण मिला था। रामकृष्ण नरेन्द्र का गायन सुनकर बहुत प्रभावित हुए। उन्होंने नरेन्द्र को बड़े आग्रह से दक्षिणेश्वर आने का निमंत्रण दिया।48

दिसम्बर 1881 ई॰ में नरेन्द्र अपने कुछ साथियों के साथ दक्षिणेश्वर मन्दिर पहुँचे। नरेन्द्र को देखते ही रामकृष्ण परमहंस ने कहा, "मैं जानता हूँ, आप स्वयं नारायण के अवतार है जिसने मानवता का उद्धार करने के लिये इस पृथ्वी पर जन्म लिया है।" जाहिर है, रामकृष्ण के व्यवहार को देखकर वे आश्चर्यचकित हो गए। उनके चेहरे से उन्हें ऐसा प्रतीत हुआ कि वे विक्षिप्त है। नरेन्द्र ने तुरन्त रामकृष्ण से पूछा, "क्या आपने ईश्वर का साक्षात्कार कर लिया है?" तब रामकृष्ण ने उत्तर दिया, "हाँ, उसे देखा जा सकता है। मैं जैसे तुम्हें देख रहा हूँ, ठीक वैसे ही। बल्कि और अधिक स्पष्ट रूप से ईश्वर को देखा जा सकता है।" इस उत्तर से नरेन्द्र प्रभावित तो हुए पर रामकृष्ण के उन्माद को देखकर उन पर विश्वास नहीं कर सके।49

वस्तुतः नरेन्द्र आरम्भ से जिज्ञासु थे वे हर बात में निहित सत्य की खोज स्वयं करने का प्रयास करते थे। उनकी इस जिज्ञासु प्रकृति के मद्देनजर ही परमहंस ने एक दिन उनके बारे में घोषित किया था कि "जिस दिन नरेन्द्र का जीवन दुखों, कांटों और विपत्तियों के सन्निकट होगा, उसका सन्देह विलीन होकर अनन्त करूणा में परिवर्तित हो जायेगा। यह तत्त्व उन तमाम निराश आत्माओं में उसी विश्वास को उत्पन्न करने का साधन बनेगा जिसे उन्होंने थोड़े समय में खो दिया है। शक्तिशाली आत्मनियंत्रण पर आधारित उसके व्यवहार की स्वच्छन्दता, दूसरों के लिए आत्मा की सच्ची स्वतंत्रता बनकर चमकेगी।"[50]

बेशक नरेन्द्र रामकृष्ण के व्यक्तित्व से बहुत प्रभावित हुए, लेकिन वे अब भी गुरू की आवश्यकता, मूर्तिपूजा और वैराग्य को नहीं मानते थे। इसलिए एक बार रामकृष्ण ने क्रुद्ध होकर उनसे यहां तक कह दिया कि, "जब तू मेरी बातों में विश्वास नहीं करता, तो मेरे पास आता ही क्यों है?" नरेन्द्र ने तत्काल उत्तर दिया, "क्योंकि मैं आपसे प्यार करता हूँ। पर इसका मतलब यह नहीं कि बिना सोचे–विचारे मैं आपकी बातों को मान लूँ।" ऐसे में रामकृष्ण ने सोचा कि अपने शिष्य को वैराग्य जीवन का कुछ अनुभव कराया जाए। एक दिन उन्होंने गेरुआ वस्त्र देकर नरेन्द्र से कहा, "क्या तुम सम्पूर्ण निराभिमानी बनकर भिक्षा की झोली कंधे पर डाल सकोगे?" [51] नरेन्द्र गुरू के आदेशानुसार उसी समय भिक्षा मांगने निकल पड़े। यह नरेन्द्र के आध्यात्मिक जीवन की प्रथम यात्रा थी। संन्यास ग्रहण करने के पश्चात् नरेन्द्र ने संन्यासियों से मिलना और उनके उपदेशों को सुनना अपने जीवन का लक्ष्य बना लिया। एक दिन सांयकाल के समय ध्यान करते–करते नरेन्द्र गहन समाधि में डूब गये। काफी देर बाद समाधि टूटने पर उन्हें अनुभव हुआ कि उनका मन उस स्थिति में सम्पूर्ण रूप से कामनाशून्य था। परन्तु उन्हें यह भी लगा एक 'अलौकिक शक्ति' उन्हें उनकी इच्छा के विरूद्ध बाह्य संसार में ही खींच कर ला रही है। अब नरेन्द्र को अहसास हुआ कि उन्हें संसार में लोकमंगल के लिए महत्त्वपूर्ण कार्य करना है। बुद्ध की तरह उन्होंने भी 'सत्य' का साक्षात्कार कर लिया था और अब उन्हें उस सत्य का सारे संसार में प्रचार करना था। जैसे ही उनके मन में यह भावना दृढ़ हुई, वे सामान्य स्थिति में आ गये।[52]

1886 ई॰ की जुलाई मास का अन्तिम समय था। उनके गुरु रामकृष्ण के गले के रोग ने धीरे–धीरे भयंकर रूप धारण कर लिया था। इस संसार से विदा लेने से तीन दिन पूर्व उन्होंने नरेन्द्र का ` अपना उत्तराधिकार सोंपते हुए कहा, "बेटा, आज तुझे सर्वस्व देकर मैं फकीर बन गया।" अब नरेन्द्र, नरेन्द्र न होकर 'स्वामी विवेकानन्द' हो गये और उनके जीवन में ज्ञान, भक्ति, कर्म और वैराग्य का स्थायी प्रवेश हो गया। इस संदर्भ में रोमा रोलां लिखती हैं कि रामकृष्ण वर्षों से लोगों की धार्मिक पिपासा व जिज्ञासा को शान्त कर रहे थे। रामकृष्ण के साथ हुई मुलाकातों ने बेशक नरेन्द्र के जीवन को पूरी तरह से बदल दिया था। हालांकि उन्होंने तुरन्त उन को अपना गुरू नहीं माना था। वे उनके आध्यात्मिक व्यक्तित्व की तरफ जरूर आकर्षित हुए, परन्तु उन्होंने किसी भी ऐसे विचार को कभी ग्रहण नहीं किया जिसकी रामकृष्ण तार्किक रूप से व्याख्या न कर पाएं। वस्तुतः युवा नरेन्द्र को रामकृष्ण को अपना गुरू मानने में लगभग पांच या छः वर्ष का समय लगा था। अन्तिम बदलाव अगस्त 1886 में रामकृष्ण का अन्तिम समय आने के तीन या चार दिन पहले हुआ था। इस बदलाव के बारे में रोमा रोलां कहती हैं कि "गुरु की सारी अनुभूतियां शिष्य में समा गई थी तथा गुरु और शिष्य एक हो गए थे।"[53]

आध्यात्मिक व रहस्यवादी बातों को छोड़ कर यदि व्यावहारिक दृष्टिकोण से बात की जाए तो हम कह सकते हैं कि विवेकानन्द ने अपने गुरु से यह सीखा था कि लोगों के बीच में भाईचारे की भावना के बीच में मुख्य रुकावटें अनेक धर्मों का वजूद व उनके मतभेद हैं। यह बाधा दूर होनी चाहिए। यह तभी संभव है, जब केवल मानवतावाद का पालन किया जाए और प्रेम का प्रचार किया जाए। विवेकानन्द को प्रदत्त रामकृष्ण के धार्मिक विचारों का सार मुख्यतः तीन बातों में किया जा सकता है। पहली, वे सभी धर्मों की एकता में विश्वास करते थे। दूसरी, उन्होंने कहा कि जीव ही ब्रह्म है। अतः ईश कृपा नहीं, अपितु जीव की सेवा करना मनुष्य का धर्म है। तीसरी इस ज्ञान की मानताता के कल्याण हेतु लोगों में फैलाया जाए।[54]

वस्तुतः रामकृष्ण परमहंस अपने आध्यात्मिक ज्ञान के आधार पर एक ऐसा सिद्धान्त बनाना चाहते थे जिससे सभी धर्मों में एकता स्थापित हो और अलग–अलग धर्मों के मध्य तालमेल स्थापित हो जाए। उन्होंने कहा था कि सभी आध्यात्मिक मार्गों, चाहे वे हिन्दू धर्म के हों या उसके बाहर के, का लक्ष्य एक

ही है : परम सत्य की खोज। यह वेदों के सिद्धान्तों में स्पष्ट तौर पर व्यक्त किया गया है। उन्होंने यह सन्देश विवेकानन्द समेत उन सभी लोगों को दिया था जो उनसे मिले थे कि अपना समय इस बात को जानने में नष्ट न करों कि कौन सा रास्ता सबसे श्रेष्ठ है। भगवान की प्राप्ति तो पवित्र प्रेम एवं करुणा को भावना से होगी। प्रत्येक जीव के अन्दर शिव (ईश्वर) विद्यमान है। ऐसे में भगवान् की सच्ची भक्ति है, जीव की सेवा करना।[55]

उनके शिष्य विवेकानन्द ने उनके इस सन्देश को समझा और अपना पूरा जीवन पीड़ित जीवों अर्थात् गरीबों और लाचारों की सेवा में लगा दिया। उन्होंने धर्म को एक ऐसी शक्ति माना जिससे व्यक्ति मानवता की सेवा कर सके। उन्होंने वास्तविक आध्यात्मिक जीवन जीने के लिए त्याग व सेवा पर बल दिया। ब्रह्म समाज के सिद्धान्तों के विपरीत उन्होंने प्रतीकात्मक धार्मिक भक्ति को भी महत्त्वपूर्ण बताया। उन्होंने यह तर्क दिया कि हिन्दू धर्म कोई मत नहीं है बल्कि यह सार्वभौमिक आध्यात्मिकता की नींव है। इस विचार से उन्होंने समकालीन राष्ट्रीय जीवन में एक नई ऊर्जा को पैदा कर दिया था। फलतः वे भारत समाज में उत्पन्न हुए उन धर्म सुधारकों में से एक बने जो समय–समय पर इसमें आध्यात्मिक जागृति लाते रहे थे।

यहां पर यह बात भी मुख्य रूप से समझी जानी चाहिए कि स्वामी विवेकानन्द को केवल रामकृष्ण का शिष्य और उनके विचारों का संदेशवाहक ही नहीं कहा जा सकता है। वस्तुतः ईशभक्त से बढ़कर वे एक देशभक्त थे। धर्म उनके लिए एक साधन था जिसके जरिए वे करोड़ों भारतीयों को जागृत करना चाहते थे ं तथा सदियों से सो रहे भारतीयों को उनकी शक्ति का अहसास करवाना चाहते थे वे जानते थे कि रामकृष्ण के विचारों की रहस्यवादी व्याख्यान करना तो बड़ा आसान होगा। इसलिए एक बार गुस्से में उन्होंने कहा था, "रामकृष्ण की परवाह कौन करता है? आपकी मुक्ति की परवाह कौन करता है? आपके धर्मग्रन्थ क्या कहते हैं, इसकी परवाह कौन करता है? मैं हजारों बार नर्क में भी जाने के लिए तैयार हूँ, बदले में अगर मैं अपने देशवासियों को उनके अपने पैरों पर खड़ा कर सकूं।"[56]

ऐसे में यह कहा जा सकता है कि विवेकानन्द रामकृष्ण के विचारों के कुशल व्याख्याकार तो थे, परन्तु उनके स्वयं के बौद्धिक ज्ञान तथा मौलिक दृष्टिकोण ने उनके विचारों को एक अलग ही दर्शन

बना दिया है। ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार शंकर के वेदान्त सूत्र पर दिए गए व्याख्यान पृथक् दर्शन बन चुके हैं।

स्वामी विवेकानन्द के विचारों पर हिन्दू धर्म के वेदान्त दर्शन का भी गहरा प्रभाव पड़ा था। वे कहते थे कि वेदान्त ही एक ऐसा साधन है जिसके द्वारा भारत विश्व में अपनी वह स्थिति प्राप्त कर लेगा जो पहले थी। बेशक उन्होंने अपनी आध्यात्मिक प्रेरणा मुख्यतः वेदान्त से ही ग्रहण की थी। उनके अनुसार वैदिक ज्ञान आध्यात्मिकता का ऐसा खजाना है जिसका भण्डारण अलग–अलग समय पर अलग–अलग लोगों द्वारा किया गया था। इसके अलावा उपनिषदों ने भी विवेकानन्द के विचारों को बहुत प्रभावित किया। उपनिषद् वे पुस्तकें हैं जिनमें विभिन्न हिन्दू आध्यात्मिक सिद्धान्तों का वर्णन किया गया है। विवेकानन्द ने व्यवस्थित रूप से किसी भी उपनिषद् पर अपने विचार उतने स्पष्ट रूप से नहीं दिए हैं जितने उन्होंने पतंजलि के योगसूत्र और नारद के भक्तिसूत्र के बारे में दिए हैं। हालांकि उनके अनेक व्याख्यानों में हमें उनके ऐसे विचार मिलते हैं जो उन्होंने अन्य उपनिषदों से भी लिए हैं। उनका विचार था कि उपनिषद् भी वेदान्त का एक हिस्सा हैं।

यहां तक कि अपने महान गुरु श्री रामकृष्ण को ज्ञान के क्षेत्र में उन्होंने दूसरा स्थान दिया। पहला स्थान उन्होंने हमेशा वेदान्त व उपनिषदों को दिया।[57] अपने व्याख्यानों में विवेकानन्द ने 191 अलग–अलग उपनिषदों के उद्धरणों का प्रयोग किया है। उनमें से कई तो लगभग 40 बार दोहराए गए हैं। उनके द्वारा सबसे अधिक बार दोहराया गया सूक्त तत्त्वमीमांसा है जो *छन्दोग्य उपनिषद्* के छठे अध्याय में संकलित है।[58]

भगवद्गीता भी विवेकानन्द की प्रेरणा का एक महत्त्वपूर्ण स्त्रोत रही है। उनके सिद्धान्तों यथा 'काम को काम के लिए करो', तथा 'अपने पड़ोसियों से भी उसी तरह प्यार करो जैसे आप अपने आप से करते हो' – की जड़े गीता में ही मिलती है। शिकागो में उन्होंने घोषणा की कि "सभी मनुष्य अनेक रास्तों से मुझ तक पहुंचने हेतु संघर्ष कर रहे हैं।" वे मानते थे कि "*भगवद्गीता* वह दूध है जो उपनिषदों से निकला है। यह अनेक दार्शनिक विद्वानों की बुद्धि की उपज है।"[59]

विवेकानन्द गौतम बुद्ध के सिद्धान्तों को भी मानते थे। एक जगह वे घोषणा करते हैं कि "बुद्ध मेरे भगवान है।"[60] उनकी रचनाओं में बुद्ध की अनेक टिप्पणियां मिलती है। वे प्रायः बुद्ध का उदाहरण एक ऐसे आदमी के रूप में देते हैं जो अपने कार्य को पूर्णता के साथ करता है। वे कई जगह बुद्ध दर्शन की आलोचना भी करते हैं। परन्तु वे इस बात को नहीं मानते थे कि बौद्ध धर्म एवं हिन्दू धर्म एक–दूसरे के विरोधी हैं। उनका मानना था कि वेदान्त की बौद्धधर्म से कोई लड़ाई नहीं है, बल्कि वेदान्त के विचार हर जगह हैं।[61]

भारत के राष्ट्र निर्माण में विवेकानन्द जी का योगदान

(1) सामाजिक पतन

स्वामी विवेकानन्द के जन्म के समय लगभग सारे भारत पर ब्रिटिश राज कायम हो चुका था। अंग्रेजों का राज एक औपनिवेशिक राज था जिसका उद्देश्य भारत का शोषण करना था। प्लासी के युद्ध के पश्चात् देश में दमन एवं शोषण का दौर शुरू हुआ था। 19वीं शताब्दी में भारत के आर्थिक एवं सामाजिक जीवन में अंग्रेजों का हस्तक्षेप बढ़ता जा रहा था।[1]

सामाजिक दृष्टि से उस समय भारत काफी आलोच्य स्थिति से गुजर रहा था। 19वीं शताब्दी में देश के अभिजात्य लोग अर्थात् राजा, महाराजा, जमींदार और सामन्त भोग विलास में डूबे हुए थे। समाज में धार्मिक अंधविश्वास, पाखण्ड और कुरीतियों का बोलबाला था। सामाजिक, नैतिक और बौद्धिक रूप से देश पतन की ओर जा रहा था। आम जनता अनपढ़ थी। पंडित और मौलवी जैसा भी आम लोगों को बहकाते थे, वे वैसा ही किया करते थे। विशेषकर हिन्दू समाज काफी हद तक अंधविश्वासों और कुरीतियों का शिकार हो गया था।[2] मूर्तिपूजा और जड़ पदार्थों की पूजा की प्रवृत्ति चरम सीमा तक पहुँच गई थी। वैसे तो हिन्दू एकेश्वरवाद और सर्वेश्वरवाद में आस्था रखने वाले लोग थे, लेकिन अधिकांश लोग बलि, झाड़–फूंक, जादू–टोने व विभिन्न देवी–देवताओं की पूजा में विश्वास रखते थे। बंगाल के कुछ इलाकों में तांत्रिक क्रियाओं का बहुत प्रचलन था। धार्मिक प्रतिज्ञाओं को पूरा करने के लिए नवजात शिशुओं तक की बलि देने जैसे रिवाज प्रचलित थे अंधविश्वासों की बढ़ती संख्या के कारण समाज के पंडितों का प्रभुत्व भी बढ़ता गया। अधिकांश लोग ब्राह्मणवाद से त्रस्त थे। इसी विचारधारा के अंतर्गत

बालिका वध, बाल विवाह, विधवा प्रथा, सती प्रथा और ऐसी ही अन्य सामाजिक बुराईयों को 'शास्त्रोचित' और 'धार्मिक' करार दे दिया गया था। इसी प्रकार जातपात, अस्पृश्यता और गुलामी जैसी घृणित सामाजिक कुप्रथाएं भी शास्त्रोचित समझी गई और उन्हें विधि–सम्मत करार दिया गया।[3] ऐसी पतनोन्मुख स्थितियों के मद्देनजर देश को एक ऐसे नायक की आवश्यकता थी जो सामाजिक एवं सांस्कृतिक पतन के हालातों से राष्ट्र को उबार कर उसे नवनिर्माण की दिशा में मोड़ सके। विवेकानन्द ने इसी जरूरत को पूरा किया।

स्वामी विवेकानन्द ने अपने युग के महान पाश्चात्य दार्शनिकों यथा हीगल, शौपन हैवर, इमैनुअल कांत, डार्विन आदि का बखूबी अध्ययन किया था। इसी से उनमें आलोचनात्मक एवं विश्लेषणात्मक दृष्टिकोण पनपा। इस कारण वे आंख मूंदकर किसी भी वस्तु अथवा विचार को स्वीकार नहीं करते थे। वे नहीं चाहते थे कि अंधविश्वासों, दिशाहीन परम्परागत आस्थाओं और गलत नैतिक व सामाजिक मूल्यों के आधार पर भारत को पहचाना जाए। उन्होंने भारत के विभिन्न प्रदेशों और जातियों की सामाजिक और आर्थिक स्थितियों का भी गहन अध्ययन किया था। उन्हें महसूस हुआ कि 'सोने की चिड़िया' कहलाने वाला देश अपनी अज्ञानता, निष्क्रियता और जड़ता के कारण पतन के गर्त में धंसता जा रहा है।[4] भारत में दरिद्रों, पतितों व दलितों का कोई साथी नहीं था। कोई उनकी सहायता करने वाला नहीं था। वे चाहे जितनी भी कोशिश करते, लेकिन उन्हें उनकी उन्नति का कोई मार्ग नहीं दिखाई देता था। विवेकानन्द के अनुसार, "वे दिन–पर–दिन डूबते जा रहे थे। क्रूर समाज उन पर लगातार चोटें कर रहा था। इसका अनुभव तो वे खूब कर रहे थे, पर वे नहीं जानते थे कि चोटे कहां से आ रही थी।" [5] ऐसे में स्वामी विवेकानन्द ने देश के प्रबुद्ध जनों से प्रश्न किया कि हम इन लोगों की दशा सुधारने के लिए क्या कर रहे हैं? उन्होंने उनसे आत्मविश्लेषण का आह्वान करते हुए कहा :

"इन लोगों की इस दशा के लिए हम ही उत्तरदायी हैं। हमारे पूर्वजों ने इन लोगों को तब तक अपने पांवों तले रौंदा, जब तक वे निस्सहाय नहीं हो गए और वे अपना मनुष्यत्व ही नहीं भूल गए। क्या आपको अहसास है कि आज लाखों लोग ऐसे हैं जो भूख से मर रहे हैं जो लाखों वर्षों से भूखे और प्यासे हैं ? क्या आपको पता है कि देश में अज्ञानता के कितने बादल छाए हुए हैं? क्या आपमें से किसी

को इन बातों चिंता है? क्या यह सब कुछ जान लेने के बाद भी आपको नींद आएगी? जब तक प्रबुद्ध देशवासी इस बारे में नहीं सोचेंगे तब तक कोई भी व्यक्ति न तो सच्चा देशभक्त हो सकता है और न ही सच्चा समाज सुधारक।"[6]

विवेकानन्द दीन–दुखियों की सेवा में अपना स्वर्ग पाया। देश की साधारण जनता की गरीबी, बदहाली और पीड़ा को मद्देनजर रखते हुए ही उन्होंने लिखा कि "मैं एक ही ईश्वर को मानता हूँ, जो सभी आत्माओं की एक आत्मा है, और सबसे ऊपर है । मेरा ईश्वर दुखी मानव है, मेरा ईश्वर पीड़ित मानव है, मेरा ईश्वर हर जाति का निर्धन मनुष्य है।" [7] उन्होंने आगे कहा, "मेरा ईश्वर इन भूखे–नंगे लोगों में रहता है। इनकी सेवा ही मुझे अन्तिम सत्य तक ले जाएगी।"[8] जाहिर है, विवेकानन्द ने 'दरिद्रनारायण' की पूजा को सबसे बड़ी पूजा माना। उन्होंने कहा, ईश्वर न मंदिरों में है, न मस्जिदों में और न गिरिजाघरों में। वह है तो गरीब जन में, जिन्हें हमें पहचानना होगा। हम पत्थर में भगवान को तो मान लेते हैं किंतु मानव सेवा करने से कतराते हैं। आज आवश्यकता उस 'नर में मौजूद नारायण' की सेवा की है क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति में आत्मा निवास करती है। यह आत्मा उस परमात्मा का अंश है जो जगत का सृष्टिकर्ता, पालनकर्ता एवं संहारकर्त्ता है। यदि हम दूसरे की आत्मा को सुख देते हैं तो उससे परमात्मा भी उतना ही प्रसन्न होता है जितनी की उस व्यक्ति की आत्मा। अतः यहीं नर में नारायण की सेवा है। ऐसे में किसी भी व्यक्ति, जाति व धर्म में किसी प्रकार का भेदभाव नहीं होना चाहिए।[9]

अपने समकालीन अधिकांश हिन्दू समाज सुधारकों की तरह विवेकानन्द भी वर्ण व्यवस्था एवं जाति व्यवस्था के मध्य अन्तर करते थे और दोनों को अलग–अलग समझते थे। उनका मानना था कि हिन्दू मनीषियों एवं ऋषियों ने प्राचीन काल में समाज को ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य व शूद्र नामक चार वर्णों में विभाजित किया गया था।

यह विभाजन तत्कालीन समाज के सर्वांगीण विकास के लिए आवश्यक था। लेकिन कालान्तर में वर्ण व्यवस्था दूषित होती चली गई और इसमें बहुत सी विकृतियां एवं बुराईयां पैदा हो गई। उनमें से एक बुराई यह भी थी कि यह व्यवस्था जाति प्रथा में बदलने लगी और गुण, कर्म और स्वभाव पर आधारित

न रहकर जन्म पर आधारित हो गई। फलतः ब्राह्मणों की सन्तान ब्राह्मण, क्षत्रियों की सन्तान क्षत्रिय, वैश्यों की सन्तान वैश्य व शूद्रों की सन्तान शूद्र कहलाने लगी। इसके साथ ही जाति प्रथा एक संक्रामक रोग भी बन गई? जिसने भारत में रहने वाले सभी लोगों को अपनी चपेट में ले लिया। विवेकानन्द इसे राष्ट्र–निर्माण के मार्ग में मौजूद एक बड़ी चुनौति मानते थे।

जाति–पांति का खण्डन करते हुए स्वामी विवेकानन्द ने एक बार कहा था कि "मुझे इस बात का खेद है कि वर्तमान समय में जातियों के बीच इतना विवाद है। यह अवश्य ही बन्द होना चाहिए।"[10] विवेकाननद के अनुसार निश्चित रूप से यह कहना कठिन है कि तत्कालीन भारतीय समाज में कितनी जातियाँ और उपजातियाँ वास्तव में विद्यमान थी। कुछेक अनुमानों के अनुसार उस समय देश में दो से तीन हजार तक जातियाँ और उपजातियाँ थी। हो सकता है कि सारे भारतीय महाद्वीप में सभी संभव सामाजिक वर्गों को मिलाकर यह संख्या बनी हो और किसी एक निश्चित क्षेत्र में इन जातियों और उपजातियों की संख्या थोड़ी रही हो। जात–पांत प्रणाली के गुण–दोषों के संबंध में भगवान बुद्ध के जमाने से वाद–विवाद चला आ रहा है। [11] इस मुद्दे पर विवेकानन्द भी अपना एक स्पष्ट दृष्टिकोण रखते थे अपने एक लेख **"कास्ट प्रॉब्लम इन इण्डिया"** में उन्होंने इस विषय पर अपने विचार प्रस्तुत किए हैं। जाति, समाज और धर्म के संबंधों के विषय में विचार करते हुए उनका कहना था कि जाति व्यवस्था ऊपरी तौर पर धर्म से संबंधित लगती है, जबकि वास्तव में ऐसा नहीं है। हिन्दू धर्म में जाति को कोई स्थान नहीं दिया गया है, क्योंकि किसी भी जाति, भले ही वह कथित तौर पर ऊँची हो या नीची, का व्यक्ति संन्यासी या साधु बन सकता है। जाति व्यवस्था दरअसल एक सामाजिक प्रथा है। सभी पूर्ववर्ती विचारक इसे धर्म से संबंधित समझकर धर्म और जाति दोनों को एक साथ समाप्त करने की कोशिश करते रहे ं, इसलिए असफल रहें। इस संदर्भ में स्पष्ट टिप्पणी करते हुए वे कहते हैं :

"जाति व्यवस्था एक ऐसी सामाजिक संस्था है जिसने अपने उद्‌भव काल में समाज के विकास को त्वरित सकारात्मक दिशा दी थी, परन्तु अब यह भारतीय समाज के वातावरण को दूषित कर रही है। जब तक भारतीय लोगों को उनकी खोई हुई पहचान और प्रतिष्ठा पुनः प्राप्त नहीं कराई जाती, तब तक इसे समाप्त नहीं किया जा सकता।"[12]

विवेकानन्द के अनुसार जातीय भेदभाव के कारण देश को अनेक दुष्परिणाम भुगतने पड़े। इसी के कारण मध्यकाल तथा आधुनिक काल में भारत आए विदेशी आक्रमणकारियों के अल्पसंख्यक होते हुए भी भारतीयों को उनकी राजनैतिक दासता स्वीकार करनी पड़ी। जात–पांत की व्यवस्था के कारण समाज दो ऐसे बड़े वर्गों में विभाजित हो गया था जिनमें एक वर्ग 'स्पृश्य' था और दूसरा वर्ग 'अस्पृश्य'। अस्पृश्यता अथवा छुआछूत की प्रवृत्ति अपने आप में सामाजिक असमानता का सबसे घृणित रूप थी। लेकिन इससे भी बड़ी बात यह थी कि इस असमानता के साथ अन्याय की समस्या भी जुड़ी हुई थी। अस्पृश्य वर्ग के लोगों को जीवन के मूल अधिकारों से वंचित कर दिया गया था। [13] विवेकानन्द ने महसूस किया कि सदियों से भेदभाव का शिकार रहे भारत के निम्न वर्गीय लोगों का जीवन कितना नारकीय हो चुका था। जीवन की श्रेष्ठ चीजों से वंचित रहे ये लोग दरिद्रता के गर्त में धंसते जा रहे थे।

वस्तुतः जाति व्यवस्था में सबसे नीचे 'अछूत' ही आते थे। जो हिन्दू आबादी का लगभग 20 प्रतिशत थे। ये 'अछूत' अनेकों कठोर निर्योग्यताओं और प्रतिबंधों से पीड़ित थे जो देश के विभिन्न भागों में भिन्न–भिन्न थी। उनके स्पर्श मात्र से किसी व्यक्ति को 'अपवित्र' मान लिया जाता था।[14] समाज में 'अछूतों' को 'अपवित्र' प्राणी समझा जाता था और उनके जीवन का स्तर दासों और जंगली जानवरों से भी बदतर था। दलित समस्या के संदर्भ में डॉ॰ बी॰ आर॰ अम्बेड़कर ने भी लिखा है कि अपने ही धर्म बन्धुओं के साथ ऐसे भयंकर बर्ताव की मिसाल विश्व में शायद ही कहीं और मिलती थी। उच्च जातियों के लोगों का विचार था कि ऐसा कुछ नहीं है, जो अछूतों को शुद्ध बना सके। वे 'अशुद्ध' पैदा होते थे, अपने सारे जीवन में वे 'अशुद्ध' ही रहते थे और 'अशुद्ध' बच्चों को जन्म देते थे इस प्रकार अस्पृश्यता की प्रथा 'एक बार अशुद्ध, हमेशा के लिए अशुद्ध' के नियम पर आधारित थी।[15] देश के कुछ भागों में और खासकर दक्षिण में लोग उनकी छाया तक से बचते थे और इसलिए किसी ब्राह्मण या सवर्ण को आता जानकर अछूतों को दूर हट जाना पड़ता था। अछूतों के खाने, पीने और रहने के सार्वजनिक स्थानों पर भी बड़े कठोर प्रतिबंध थे। वे ऊँची जातियों के कुओं व तालाबों से पानी नहीं ले सकते थे इसके लिए अछूतों के पृथक तालाब व कुएं होते थे जहाँ ऐसे कुएं और तालाब नहीं होते, वहां उनको पोखरों और सिंचाई की नलियों का गंदा पानी पीना पड़ता था। वे हिन्दू मंदिरों में नहीं जा सकते थे

और न ही उनके बच्चे ऊंची जातियों के बच्चों के स्कूलों में पढ़ पाते थे। पुलिस तथा सेना जैसी सरकारी नौकरियाँ उनके लिए खुली नहीं थी। अछूतों को 'अपवित्र' समझे जाने वाले गंदे काम जैसे झाड़ू–बुहार करना, जूते बनाना, मुर्दे उठाना, मुर्दा जानवरों की खाल निकालना, चमड़े को पकाना–कमाना आदि कार्य करने पड़ते थे। वे जमीन के मालिक नहीं बन सकते थे और उनमें से अनेकों को बटाईदारी या खेत–मजदूरी करनी पड़ती थी।[16]

एक संवेदनशील सुधारक होने के नाते विवेकानन्द के दलित वर्ग की उपरोक्त स्थितियां कदापि स्वीकार्य नहीं हो सकती थी। इसलिए उन्होंने अस्पृश्यता, इसे जन्म देने वाली समूची व्यवस्था तथा इस संदर्भ में हिन्दुओं के पाखण्डपूर्ण आचरण पर तीव्र प्रहार किया। इस विषय पर एक स्थान पर उन्होंने लिखा है :

"हमारे इस देश में, इस वेदान्त की जन्मभूमि में, हमने जन साधारण को शत–शत वर्षों से सम्मोहित बना कर एक तरह की हीन अवस्था में डाल दिया है। उनके स्पर्श में अपवित्रता समायी है, उनके साथ बैठने में छूत लग जाती है। उनसे कहा जाता रहा है कि निराशा के अन्धकार में तुम्हारा जन्म हुआ है, सदा तुम इसी अंधेरे में पड़े रहो।

इसका परिणाम यह हुआ कि वे लगातार डूबते चले जा रहे हैं– गहरे अंधेरों में, और गहरे अंधेरों में। मनुष्य जितनी निकृष्ट अवस्था तक पहुँच सकता था, वहाँ तक वे पहुँच चुके हैं।"[17]

इसी तरह एक अन्य स्थान पर उन्होंने अस्पृश्यों की दुर्दशा का उल्लेख करते हुए लिखा हैः

"हम किसी हास्यापद दशा में पहुँच गए हैं। यदि कोई भंगी हमारे पास भंगी के रूप में आता है, तो छूत की बिमारी की तरह हम उसके स्पर्श से दूर भागते हैं, परन्तु जब उसके सिर पर एक कटोरा पानी डालकर कोई पादरी प्रार्थना के नाम पर कुछ बुदबुदा देता है और उसे पहनने को एक कोट दे देता है, तब वह चाहे तो किसी भी कट्टर हिन्दू के घर में जा सकता है। उसके लिए कोई रोक टोक नहीं। ऐसा कोई नहीं होगा जो उससे सप्रेम हाथ मिलाकर बैठने के लिए कुर्सी न दे! इससे बढ़कर विडम्बना की बात क्या हो सकती है? इन्हीं सामाजिक क्रूरताओं के कारण हमारा देश हीनता, मूर्खता तथा कापुरुषता की चरम अवस्था को प्राप्त हुआ है।"[18]

विवेकानन्द ने देश में फैले ऐसे सामाजिक पतन को देखते हुए जाति प्रथा, कर्मकांड और अंधविश्वास की निन्दा की तथा जनता से स्वाधीनता, समानता तथा बन्धुत्त्व पर आधारित चिन्तन को अपनाने का आग्रह किया।

विवेकानन्द के अनुसार ऐसा प्रतीत होता है संस्कार और कर्म पर आधारित वर्ण व्यवस्था जो कभी लोगों के अलग–अलग सामाजिक दर्जों की एक न्यायोचित व्यवस्था कायम करने के लिए बनाई गई थी, ने समाज को इतने टुकड़ों में बांट दिया गया था कि उसमें गतिशीलता ही नहीं रह गई थी, और समाज जैसे जड़ हो कर रह गया था। इसलिए उनको कहना पड़ा "पृथ्वी पर ऐसा कोई धर्म नहीं है, जो हिन्दू धर्म की तरह इतने उच्च स्वर में मानवता के गौरव का उपदेश देता हो और पृथ्वी पर ऐसा कोई धर्म भी नहीं है, जो हिन्दू धर्म के समान गरीबों और निम्न जाति वालों का गला ऐसी क्रूरता से घोंटता हो।"[19] पुरोहिती शक्ति और विदेशी शासक सदियों से उन्हें कुचलते रहे थे, जिसके फलस्वरूप भारत के गरीब बेचारे भूल गए थे कि वे भी मनुष्य है। जाति–पांति के कारण ही भारतीय समाज को अस्थिरता और असुरक्षता के दौर से गुजरना पड़ रहा था और उसके अन्दर जड़ता आ गई थी। इसके अन्तर्गत जो कमजोर थे, उन पर बलवान अपनी धौंस जमाते थे। इस संदर्भ में विवेकानन्द लिखते हैं :

"अधिकांश लोगों के लिए धर्म का मतलब थाः कड़े नियम और प्रतिबंध। यानी क्या खाओ और क्या न खाओ, किस तरह के बर्तन में खाना पकाओ, किसे छुओ और किससे दूर रहो, किस जगह स्नान करो आदि तथाकथित धार्मिक शुद्धता बनाए रखने के नाम पर ही लोग एक दूसरे के प्रति असहिष्णु हो गए और उनमें कट्टरपंथीपन आ गया। ब्राह्मणों और पंड़ितों पर निर्भरता ने धर्म को रूढ़िवादी बातों का माया जाल बना दिया।"[20]

स्वामी विवेकानन्द के मतानुसार भारत के पराभव का मुख्य कारण हमारे धार्मिक एवं सामाजिक दृष्टिकोण का संकुचित हो जाना ही था। इसलिए वे कहते थे, "हमारा सर्वोच्च लक्ष्य है : उदार बनाना, कूपमण्डूकता को त्यागकर बाहर आना और खुद को सार्वभौमिक बना देना। किन्तु हम अपने को नित्य लघुतर बनाते जा रहे हैं।" [21] भारत में विद्यमान घोर सामाजिक–आर्थिक विषमताओं का मार्मिक उल्लेख करते हुए उन्होंने लिखा :

"चिथड़ों से लिपटे वृद्धों और युवकों के यहां–वहां भटकते कृशकाय ढांचे जिनके चेहरों पर सैंकड़ों वर्ष की निराशा तथा गरीबी ने गहरी झुर्रियां डाल रखी हैं; महलों के ठीक पड़ोस में चरमराती झोपड़ियां; मंदिरों के ठीक पास कूड़े के ढेर; तड़क–भड़क वस्त्रों में सजे किसी व्यक्ति के साथ–साथ चलता हुआ लंगोट पहने सन्यासी; अच्छे भोजन तथा तमाम सुविधाओं से सम्पन्न व्यक्ति से दया की भीख मांगता और बेचारगी भरी निगाहों से देखता हुआ एक भूखा व्यक्ति – यही हमारा अपना देश है।"[22]

इसी तरह, एक अन्य स्थान पर भारत का ऐसा ही मार्मिक चित्रण करते हुए उन्होंने लिखा :

"भयानक प्लेग तथा हैजा के कारण फैली भयानक तबाही; देश के पोर–पोर को चबाता हुआ मलेरिया; मनुष्य की नियति बन चुकी भुखमरी और अर्ध–भुखमरी; तांडव नृत्य करता हुआ अकाल का दानव–तीस करोड़ लोगों का यह समूह जो कहने भर को मनुष्य है, पर असल में अपने ही देशवासियों तथा विदेशियों से पीड़ित होकर जीवनहीन बन चुका है।"[23]

देश के दबे–कुचले गरीब एवं निम्न श्रेणी के वर्गों की दुर्दशा के लिए विवेकानन्द के पूर्णरूप से उच्च वर्गीय लोगों तथा उनके नीहित स्वार्थों को दोषी माना। इसी संदर्भ में उन्होंने लिखा :

"उच्च वर्ण वालों ने जन साधारण को नीचे दबाये रखकर अपने को भी नीचे गिरा दिया है। यदि कोई व्यक्ति अपने भाई को नीचे गिराता है, तो वह भी नैतिक और आध्यात्मिक दृष्टि से गिरे बिना नहीं रह सकता। भारत को अपनी आजादी खोनी पड़ी क्योंकि उसने अपने ही लोगों को उनकी आजादी से वंचित कर दिया था। समाज का नेतृत्व चाहे उनके हाथ में हो जो विद्या पर एकाधिकार रखते हैं या फिर उनके हाथ में जो धन या सैन्य शक्ति पर आधारित हैं, उसकी शक्ति का उत्स तो सदैव अधीनस्थ जनता ही रही है। देश की वर्तमान वितरण प्रणाली गरीब को ओर अधिक गरीब और धनवान को और अधिक धनवान बनाती है। भारत के निचले तबके के लोग चिरकाल से चुपचाप काम करते जा रहे हैं और देश का धनधान्य उत्पन्न कर रहे हैं। जब वे अपनी निन्द्रा से जागेंगें, तो अपने प्रति किए गए सारे अत्याचारों का अवश्य निवारण करेंगे और वह दिन अब अधिक दूर नहीं है।"[24]

जाहिर है, भारत के करोड़ों गरीबों एवं दबे–कुचले लोगों के प्रति विवेकानन्द के दिल में गहरी करूणा थी। उन्हें चिंता थी कि उनकी दुर्दशा सिर्फ उन्हें ही नहीं, समूचे भारत को विनाश की ओर ले जाएगी। इसलिए उन्होंने लिखा :

"भारतवर्ष के गरीबों और निम्न वर्ग के लोगों की दशा का स्मरण कर मेरा हृदय फट जाता है। वे दिन–पर–दिन नीचे गिरते जा रहें हैं। निर्दयी समाज के द्वारा अपने ऊपर किये जाने वाले आघातों का अनुभव तो वे करते हैं, पर वे जानते नहीं कि ये आघात कहां से किए जा रहें हैं। वे यह भूल गए हैं कि वे भी मनुष्य हैं। उनकी समस्या को लेकर मेरा अन्तःकरण विषाद से इतना भरा हुआ है कि मैं अपने समस्त भावों को प्रकट भी नहीं कर सकता। जब तक करोड़ों मनुष्य भूख और अज्ञान में जीवन बिता रहे हैं, तब तक मैं उस प्रत्येक मनुष्य को देशद्रोही मानता हूँ, जो उनके पैसे से शिक्षित हुआ है और अब उनकी ओर तनिक भी ध्यान नहीं देता है।"[25]

विवेकानन्द कहते थे कि कोई देश उसी अनुपात में उन्नत हुआ करता है जिस अनुपात में वहां के जन समूह में शिक्षा और बुद्धि का प्रसार होता है। भारतवर्ष की पतनावस्था का एक मुख्य कारण यह भी रहा है कि मुट्ठी भर लोगों ने देश के सम्पूर्ण ज्ञान पर एकाधिपत्य कर लिया। अतः समाज में व्याप्त सामाजिक कुरीतियों और समस्याओं का खात्मा जनसमूह को जागरूक कर और उनमें शिक्षा का प्रचार करके ही हो सकता है। संक्षेप में, विवेकानन्द ने सामाजिन पतन को भारत में राष्ट्र–निर्माण के मार्ग में विद्यमान सबसे बड़ी चुनौति के रूप में देखा और इस पर सर्वाधिक प्रहार किया। इसके साथ–साथ ही उन्होंने राष्ट्र–निर्माण के मार्ग में मौजूद दूसरी बड़ी चुनौति के रूप में औपनिवेशिक पराधीनता को पहचाना।

(2) औपनिवेशिक पराधीनता

जैसा कि सर्वविदित है, ब्रिटिश ईस्ट इंडिया कम्पनी 31 दिसम्बर 1600 को भारत के साथ व्यापार करने के उद्देश्य से लन्दन में स्थापित की गई थी। यह इंग्लैण्ड के कुछ व्यापारियों का समूह था जिनका लक्ष्य था : भारत में व्यापार करना और इसके जरिए अधिक से अधिक मुनाफा कमाना। ब्रिटिश लोगों ने जल्दी ही जान लिया था कि भारत एक खुशहाल और समृद्ध देश है जहां पर धन–धान्य और

हर प्रकार की सम्पदा की प्राचुरता है। अतः इंग्लैण्ड के उन व्यापारियों ने सोचा कि अगर वे भारत में व्यापार करने के अवसर प्राप्त कर लेते हैं तो वे और ज्यादा अमीर बन सकते हैं।[26]

19वीं शताब्दी में भारत राजनीतिक दृष्टि से बिखराव की ओर अग्रसर था। इस स्थिति को ब्रिटेनवासियों ने जल्दी ही जान लिया था। ब्रिटेनवासियों ने यूरोप व विश्व के कई दूसरे देशों के साथ युद्धों में कई सफलताएं भी प्राप्त की थी। इसलिए वे भारत पर कब्जा करने की सोचने लगे। लगभग 50 वर्षों तक भारत के साथ व्यापार करने के दौरान उनको यहां के शासकों की बहुत सी कमजोरियों मालूम हो गई। शीघ्र ही भारतीयों से ब्रिटेनवासियों के हाथों में सत्ता के स्थानान्तरण की कहानी 1757 की प्लासी की लड़ाई और 1764 की बक्सर की लड़ाई से शुरू हुई। इन लड़ाइयों के बाद ब्रिटेनवासियों को बंगाल में राजनीतिक शक्ति प्राप्त हो गई। इलाहाबाद की संधि (1765) के जरिए ब्रिटेनवासियों को भारत में 'सर्वोच्च शक्ति' का दर्जा मिल गया। जल्दी ही ब्रिटेनवासी सम्पूर्ण भारत के शासक बन गए। [27] अब उन्होंने भारत को अपना उपनिवेश बनाकर उसका कई तरह से शोषण करना शुरू कर दिया था। वे अपने हितों के अनुसार यहां की आर्थिक व राजनीतिक नीतियों का निर्माण करते लगे। इसके बड़े कष्टदायी परिणाम निकले।

स्वाभाविक रूप से विवेकानन्द अंग्रेजों द्वारा भारत पर किए जा रहे अत्याचारों से बहुत दुःखी हुए थे। उनको एक भारतीय होने के नाते अपने व्यक्तिगत अनुभवों से भारत की औपनिवेशिक पराधीनता की स्थिति का भली–भांति ज्ञान हो गया था। इसलिए उन्होंने उस दौर में भी विदेशी शासन का आलोचनात्मक मूल्यांकन किया जिसका ऐतिहासिक रूप से काफी महत्त्व है। इस संदर्भ में विवेकानन्द ने 30 अक्टूबर 1899 मिस मेरी हेल को एक पत्र लिखा था। इस पत्र में वे स्पष्ट रूप से अंग्रेजी शासन के भारत पर जो प्रभाव पड़े, उनका वर्णन करते हैं।[28]

अंग्रेज बुद्धिजीवी एवं इतिहासकार उस समय अक्सर कहते थे कि अंग्रेजों ने भारत को बहुत कुछ दिया है। अंग्रेजी राज ने ही उसे आधुनिक विश्व व विचारों से जोड़ा और उसमें नवीन उर्जा का संचार किया। इससे वह अपनी सदियों की जड़ता से उबर सका। अंग्रेजों की भारत को कई क्षेत्रों में देन को स्वीकार करते हुए भी विवेकानन्द मानते थे कि एक राष्ट्र का इतिहास "केवल उसके शासकों की

व्याख्या” ही नहीं होता।[29] जैसा कि विनसेंट स्मिथ भी कहते हैं कि इतिहासकारों को यह विश्लेषण करना होता है कि कौन सी शक्तियों ने एक राष्ट्र के निर्माण में योगदान किया है। बेशक भारत अनेक विदेशियों के प्रभाव से भी बना है जिसके क्षेत्रों पर एक के बाद दूसरे ने शासन किया। परन्तु भारत को समझने के लिए मुख्य रूप से दो चीजों पर विचार करना पड़ेगा। पहला, भारत का इतिहास कुछ दशकों या शताब्दियों का नहीं है, बल्कि यह तो हजारों सालों का इतिहास है। दूसरा, यह कि ब्रिटिश शासन से पूर्व भी अपने लम्बे इतिहास में भारत बहुत से उतार–चढ़ावों के साथ आगे बढ़ा।[30]

अंग्रेजों को स्वयं पर और अपनी भारत–विजय पर बड़ा अभिमान था। उन्होंने भारत को कभी अपना घर नहीं बनाया। वे अपने आपको “भगवान के भेजे हुए व्यक्ति” ओर अपने राज्य को “ईश्वरी उपहार” मानते थे। भारत उनके लिए केवल एक कच्चा माल प्राप्त करने का साधन था और तैयार माल को बेचने की एक मंडी। यद्यपि वे अपने पूर्ववर्ती मुस्लिम शासकों के तानाशाही शासन का अनुसरण करते रहें। इसका नतीजा यह हुआ कि भारतीय लोगों ने पहली बार यह महसूस किया कि उनके देश पर ऐसे लोगों द्वारा राजनीतिक अधिकार किया गया है जो कि एकदम बाहर से आए हैं और जिनसे हमारी कोई समानता नहीं है।[31]

एस॰ सी॰ बोस के अनुसार ब्रिटिश राज भारतीय इतिहास का ‘दर्दनाक अध्याय’ था जिसने लोगों में एक प्रतिरोधी विचारधारा के रूप में राष्ट्रवाद की भावना का विकास करने में अहम भूमिका निभाई। दरअसल अंग्रेजी राज के अंतर्गत भारत की भौतिक सम्पदा का शोषण बड़ी निर्दयता के साथ किया गया जिसके परिणाम गरीबी, महामारी, अकाल और मृत्यु–दर की बढ़ोतरी के रूप में निकले थे। विवेकानन्द ने महसूस किया कि इस राज में आध्यात्मिकता की यह धरती अपने इतिहास के गौरव को भूल गई थी। राम और कृष्ण की पवित्र धरती अब अपनी रचनात्मकता को खो चुकी थी। नए सिद्धान्त केवल भौतिकता पर आधारित थे। शिक्षा की नई तकनीक व पद्धतियाँ केवल ब्रिटिश शासन को बनाए रखने और उसका गुणगान करने वाली थी। लोगों द्वारा औपनिवेशिक रंग–ढंग से जीने की शुरूआत हो रही थी तथा पुराने विचारों व मूल्यों को अतार्किक व अनावश्यक माना जा रहा था। ऐसा प्रतीत हो रहा था कि जैसे राष्ट्रीय गौरव की भावना लोगों के दिलों से निकल चुकी थी। इस धरती के पुत्र ही इससे अपरिचित बन रहे थे

[32] लोगों के पास किसी भी तरह की स्वतंत्रताएं नहीं थीं। वे तो केवल 'लकड़ी के पुतले' और 'पानी के बुलबुले' जैसे बन गए थे जो केवल अपने विदेशी शासकों के आदेशों का पालन कर रहे थे। इस प्रकार भारत एक "दिशाहीन युग" में प्रवेश कर चुका था। ऐसा भारतीय इतिहास में पहले नहीं हुआ था। कई लोग अपनी प्राचीन संस्कृति व सभ्यता को छोड़कर अंग्रेजी सभ्यता व संस्कृति को अपना रहे थे जिससे इसकी अपनी पुरानी पहचान को चुनौती मिल रही थी।[33]

इतिहासकार के॰ एम॰ पानीकर के शब्दों में 18वीं शताब्दी के दूसरे 50 वर्षों में भारत में बहुत से क्षेत्रों में सभ्यता का हनन हुआ। परन्तु कुछ ऐसा भी घटित हुआ जो विश्व इतिहास के समांतर था। इसमें कोई शक नहीं कि राजनीतिक चालबाजी और सैनिक शक्ति के बल पर ब्रिटिश ईस्ट इंडिया कम्पनी ने देश पर अपना एकाधिकार स्थापित कर लिया था। परन्तु इसके साथ–साथ उन्होंने देश में राजनीतिक एकीकरण किया। साथ ही उन्होंने पूरे भारत के लिए एक विस्तृत प्रशासनिक व न्यायिक व्यवस्था का निर्माण किया जिसने पुनः भारत का एकीकरण करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। अंग्रेजों ने भारतीय गांव की प्राचीन आत्मनिर्भरता की व्यवस्था को क्षीण किया। अपने औपनिवेशिक लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए अंग्रेजों ने भूधारक व्यवस्था में परिवर्तन किए। सबसे पहले जमींदारी व्यवस्था लागू की गई जिसमें स्थाई तौर पर बहुत सारी जमीन जमीन–मालिकों को दे दी गई। फिर कई भागों में रैयतवाड़ी व्यवस्था लागू की जिसमें जमीन का मालिक किसानों को माना गया। बाद में उत्तर भारत के कुछ भागों में शक्तिशाली ग्रामीण समूहों को महलवाड़ी व्यवस्था के अन्तर्गत भूधारण अधिकार दे दिये गए। परन्तु इन सभी मामलों में कृषि अधिशेष के शोषण पर ही बल दिया गया था। इस कारण इन प्रयोगों ने प्राचीन ग्रामीण सामुदायिक व्यवस्था को बदल दिया गया। खेती–बाड़ी का वाणिज्यिकरण व विशेषीकरण कर दिया गया। नई व्यवस्थाओं के कारण एक बिचोलिया वर्ग भी उत्पन्न हुआ जो निर्दयतापूर्वक किसानों का शोषण करता था। इस सारी व्यवस्था ने किसानों के जीवन को बड़ा कष्टपूर्ण बना दिया था जो खेतों में कृषि उत्पादन पैदा करने के लिए पूरे परिवार के साथ कड़ी मेहनत करते थे, लेकिन उसके पास न तो खाने को अन्न था और न ही पहनने को कपड़े।[34]

औपनिवेशिक व्यवस्था के इन प्रभावों के फलस्वरूप भारत में व्यापक दरिद्रता फैलती जा रही थी। उस युग में देश में चोतरफा परसती जा रही दरिद्रता की समस्या से विवेकानन्द बड़े दुःखी थे। वे इस समस्या के कारण भलीभांति समझते थे और इसका समाधान अपने आध्यात्मिक–सांस्कृतिक चिन्तन के अन्तर्गत खोजना चाहते थे।

औपनिवेशिक राज के अन्तर्गत भारत के सामने अनेक चुनौतियां और भी उभर रही थी। उदाहरणतः ईसाईयत के प्रचार हेतु मैथोडिस्ट एवं इंवेजलीकल अन्दोलन उभरे जिसके कारण मिशनरियों का प्रभाव बढ़ा। इससे ईस्ट इंडिया कम्पनी के निर्देशकों के विचारों में भी परिवर्तन आया। 1813 के चार्टर ऐक्ट के जरिए भारत में मिशनरियों की गतिविधियों पर लगी रोक समाप्त कर दी गई।
फलस्वरूप इंग्लैण्ड, अमेरिका तथा यूरोप के भिन्न–भिन्न देशों से बहुत से ईसाई धर्म प्रचारक भारत में आने लगें। 35 जाहिर है, ब्रिटिश सरकार ईसाई मिशनरियों को बढ़ावा देने लगी थी।

स्वामी विवेकानन्द के युग में बंगाल में ईसाई मिशनरी ईसाई धर्म के प्रचार का कार्य मुख्यतः दो रूपों से करते थे। पहले सार्वजनिक इवेंजलीकल उपदेश जो पादरी लोगों द्वारा बाजारों, मेलों व गली–कूचों में खड़े होकर भारतीय धर्मों का खण्डन और ईसाई धर्म का मंडन करते हुए तथा *बाईबिल* आदि बांटकर दिए जाते थे। दूसरा रूप थाः समाज सेवा कार्य करना, विद्यालय खोलना, अनाथालय स्थापित करना, चिकित्सालय खोलना आदि। 36 इन गतिविधियों को कम्पनी सरकार का पूरा समर्थन हासिल था। इस संदर्भ में ईस्ट इंण्डिया कम्पनी के अध्यक्ष मैगल्स ने 1857 में पार्लियामेंट में कहा थाः

"परमात्मा की कृपा से हिन्दुस्तान में एक सिरे से दूसरे सिरे तक ईसा मसीह के धर्म–ध्वज फहराने लगें। हममें से हर एक को अपनी पूरी शक्ति इसी पवित्र कार्य में लगा देनी चाहिए ताकि सारे भारत को ईसाई बना देने के महान कार्य में कहीं पर किसी कारण जरा भी ढ़ील न आने पाये।"[37]

कई अंग्रेज गवर्नर जनरलों तथा उच्चाधिकारियों जैसे लार्ड विलियम बैंटिक, सर जॉन लारेंस, हेनरी लारेंस, रार्बट मोन्टगुमरी लार्ड डलहौजी इत्यादि ने भारत में ईसाई धर्म के प्रचार के लिए भरसक प्रयत्न किये थे। विलियम बैंटिक के समय 1832 में एक कानून द्वारा ईसाई धर्म ग्रहण करने वाले व्यक्तियों के मार्ग में मौजूद सब बाधाओं को दूर कर दिया गया और उन्हें पैतृक सम्पत्ति का भाग प्राप्त

करने का अधिकार भी दे दिया गया।[38] इसी तरह लार्ड डलहौजी ने ईसाई धर्म के प्रचारकों में लाखों रुपये वितरित किये। अनेक अंग्रेज अफसर सेना तथा सरकारी दफ्तरों में जाकर लोगों से ईसाई धर्म ग्रहण करने के लिए दबाव डालने लगे। 1849 में पंजाब पर कम्पनी का अधिकार हो जाने के बाद हेनरी लारेन्स, जॉन लारेन्स, राबर्ट मोन्टगुमरी, अर्नोल्ड मेक्लिऑड, कर्नल एडवर्ड्स इत्यादि ने शिक्षा प्रसार का कार्य अनेक ईसाई पादरियों के हाथ में दे दिया तथा ईसाई स्कूलों को पूरी सहायता दी। पंजाब एवं अन्य प्रान्तों में स्कूलों में बच्चों को अंग्रेजी शिक्षा प्रदान करने के साथ—साथ *बाईबिल* की प्रतियां भी घर ले जाने के लिए दी जाने लगी थी।[39] जब ईसाई मिशनरियों ने भारतीयों को ईसाई बनाना शुरू किया तो स्वाभाविक रूप से इसके विरुद्ध तीखी प्रतिक्रिया हुई। विशेषकर हिन्दू धर्म प्रचारक व सुधारक अपने धर्म की रक्षा के प्रयत्नों में जुट गये। वे जानते थे कि ईसाई हिन्दुओं की किन कमजोरियों का फायदा उठा रहे हैं। अतः हिन्दू धर्म की रक्षा के लिए उसमें सुधार किए जाने की आवश्यकता को विवेकानन्द समेत तमाम सुधारक शिद्धत से महसूस करते थे। इन सुधारकों को ईसाई मिशनरियों की धर्म प्रचार प्रणाली से भी प्रेरणा मिली। यही कारण है कि 19वीं शताब्दी में भारत के धर्म सुधार का कार्य ईसाई मिशनों जैसे ही संगठनों के माध्यम से शुरू हुआ।[40] जाहिर है, अंग्रेजी राज के अधीन भारत के ईसाईकरण के प्रयास व्यापक रूप से हो रहे थे जो तमाम भारतीय प्रबुद्ध जनों व सुधारकों के लिए चिन्ता का सबब बन रहे थे।

स्वामी विवेकानन्द ने यह भी महसूस किया कि अंग्रेजी राज के अन्तर्गत ईसाई मिशनरियों की गतिविधियों को इस विचार के साथ बढ़ावा दिया जा रहा था कि इससे 'भारतीय दिमाग' को जीता जा सकता है। इस पर बहुत सारा पैसा खर्च किया जा रहा था। ईसाई धर्म प्रचारक अपने आपको हिन्दुओं और मुसलमानों से बेहतर मानते थे। सरकार उन सरकारी कर्मचारियों को प्रोत्साहन देती थी जो ईसाई धर्म का प्रचार और प्रसार करते थे। इसके बदले में उन कर्मचारियों को उंचे पदों पर तैनात कर दिया जाता था। भारत के लोगों की धार्मिक भावनाओं के साथ खुलेआम खिलवाड़ हो रहा था। इसकी प्रतिक्रिया कई रूपों में हुई। धार्मिक सुधार आन्दोलन उनमें से एक थे। विवेकानन्द ने स्वयं इसे एक

चुनोती माना। हमारे समाज सुधारक आन्दोलनों और विशेषकर रामकृष्ण मिशन ने जो संदेश दिए, वे असल में ईसाई मशीनरी गतिविधियों का ही एक जवाब थे।

ईसाई धर्म प्रचारकों के भारत–विरोधी प्रचार का विवेकानन्द की बुद्धि पर तो गहरा प्रभाव पड़ा था। उन्होंने उनके बारे में लिखा कि "वे भगवान के बारे में उपदेश देते हैं, परन्तु एक भी शब्द सत्य बोलने की हिम्मत नहीं करते हैं।"[41] विवेकानन्द अपने पत्रों में जो बातें लिखते हैं, उनसे ऐसा प्रतीत होता है कि वे औपनिवेशिक गुलामी के उस दौर में भारतीयों की स्थिति के बारे में काफी चिन्तित थे। भारतीय लोगों को कोई विशेष अधिकार प्राप्त नही थे लोगों में इस बात को लेकर बड़ी चिन्ता थी कि उनकी गरिमा अंग्रेजी शासन में सुरक्षित नहीं है। विवेकानन्द का मानना था कि उपनिवेशी शासन न केवल भारतीय सम्पदा को लूट रहा था, बल्कि उसकी उत्पादन करने की क्षमता को भी नकारात्मक रूप से प्रभावित कर रहा था। यह भारत को क्रमशः एक गरीब देश में बदल रहा था। देश में लगातार अकाल पड़ने का भय बना हुआ था।[42] ऐसे में विवेकानन्द ने ब्रिटिश औपनिवेशिक शासन का अवलोकन करते हुए लिखा :

"अंग्रेजों द्वारा भारत को जीतना कोई ईसा मसीह और *बाइबिल* की जीत नहीं थी जैसा कि कुछ अंग्रेज एवं भारतीय विश्वास करते थे न ही यह मुगलों और पठानों की तरह भारत पर हासिल की गई जीत थी। बल्कि ईसा की आड़ में यह इंग्लैण्ड के व्यापारियों की जीत थी जिनके लिए उनका औपनिवेशिक साम्राज्य ही भगवान था।"[43]

इसलिए विवेकानन्द ने बाद में एक जगह लिखा कि इतिहास में इससे पहले इतनी लूटमार और अत्याचार किसी शक्तिशाली द्वारा किसी कमजोर पर नहीं किया गया होगा, जितना 19वीं शताब्दी के अन्त में भारत में अंग्रेजों द्वारा किया जा रहा था। अनेक अन्य समकालीन भारतीय बुद्धिजीवियों की तरह विवेकानन्द का भी मानना था कि अंग्रेजों की शिक्षा नीति का केवल इतना लक्ष्य था कि कुछेक भारतीयों को कलर्क बनाया जा सके जो ब्रिटिश शासन प्रणाली में अंग्रेजों की सहायता कर सके। हालांकि उन्होंने माना कि अंग्रेजों द्वारा कुछ मात्रा में भारतीयों को प्रेस आदि की स्वतन्त्रता प्रदान की गई थी। परन्तु जो

थोड़ी बहुत स्वतन्त्रता आरम्भिक समय में लोगों को दी गई थी, उसे भी बाद में वापस ले लिया गया था।[44] ब्रिटिश सरकार ज्यादा आलोचना सहन नहीं करती थी।

यहां तक कि ऐसे व्यक्तियों को भी सजा दे दी जाती थी जो थोड़ी बहुत भी सरकार की आलोचना करते थे। कई बार तो उनकी जान तक ले ली जाती थी। अधिकांश मामलों में लोगों को बिना मुकदमों के ही सजा दी जाती थी। इसलिए औपनिवेशिक काल का यह समय "सबसे अधिक आतंक का समय" था।[45]

ब्रिटिश राज के पराधीन भारतीयों के प्रति इस रवैये का विवेकानन्द पर गहरा प्रभाव पड़ा। वे एक जगह लिखते हैं इसमें कोई संदेह नहीं कि ब्रिटिश सैनिक भारतीय लोगों को मार रहे हैं और औरतों पर अत्याचार कर रहे हैं। वे भारतीयों पर किसी प्रकार की भी दया नहीं करते। वे उनको जानवरों के समान मानते हैं। ब्रिटिश सेना का पूरा खर्च भारतीयों द्वारा उठाया जा रहा था। उनको ऊँची तनख्वाह और दूसरी सुविधाएं प्रदान की जा रही थी। मोटी तनख्वाह और पैंशन के रूप में भारतीय पैसा इंग्लैण्ड में जा रहा था। ब्रिटिश सरकार द्वारा ऐसे कानून बनाए जा चुके थे जिनके कारण अंग्रेजों की क्रूरता और अत्याचार बढ़ते जा रहे थे ं।"[46]

स्पष्ट है कि विवेकानन्द भारत की दुर्दशा के लिए विदेशी शासन को उत्तरदायी मानते थे। वे चाहते थे कि भारतीय दोबारा से फिर अपने आप पर विश्वास करने लग जाएं। उन्होंने भारतीयों से पूछा कि "सोचो, पिछले 300 सालों से 30 मिलियन लोगों पर चन्द विदेशियों द्वारा शासन किया जा रहा है। इसका कारण यही है कि विदेशियों को अपने पर विश्वास है, जबकि हमको नहीं है।"[47]

संक्षेप में, विवेकानन्द ने एक सच्चे राष्ट्रवादी दृष्टिकोण को आगे बढ़ाते हुए ब्रिटिश औपनिवेशिक शासन को भारत के राष्ट्र – निर्माण के मार्ग में उपस्थित एक बड़ी चुनौती माना। यह चुनौती बेशक भारतीयों के सामाजिक पतन के चलते ही उपस्थित हुई थी। इसलिए उन्होंने यही कहा कि इसका मुकाबला अपने स्वावलम्बन व आत्मविश्वास को बहाल करके ही किया जा सकता है। बेशक विवेकानन्द का दृष्टिकोण अपने दौर के किसी भी सच्चे देशभक्त भारतीय की तरह राष्ट्रवादी विचारधारा पर आधारित था । वे जानते थे कि अंग्रेजों की औपनिवेशिक पराधीनता की चुनौती का मुकाबला तभी सम्भव

है जब हम सर्वप्रथम सामाजिक पतन सम्बन्धी अपनी खुद की समस्या से उबर सके। इसलिए उन्होंने स्वयं आगे बढ़ कर ऐसी पहल की जिससे राष्ट्र–निर्माण के कार्य में सहायता मिली और देश सांस्कृतिक राष्ट्रवाद की ओर उन्मुख हुआ। इस पहल को आगे बढ़ाने का एक सुनहरी अवसर नियति ने शिकागो यात्रा के रूप में उन्हें दिया जिसके बाद उन्होंने राष्ट्रीय पुनर्निर्माण सम्बन्धी अपने बड़े प्रयास किये।

राष्ट्रीय पुनर्निर्माण की ओर विवेकानन्द के प्रयास

जैसा कि पिछले अध्यायों में बतलाया जा चुका है, स्वामी विवेकानन्द के गुरु रामकृष्ण परमहंस ने अपनी मृत्यु से पहले एक धर्म–संघ की स्थापना की थी जिसका उद्देश्य संसार के दीन–हीन लोगों की सेवा करना था। इस संघ के प्रधान कार्यकर्त्ता विवेकानन्द ही थे। अतः वे सभी प्रकार के सांसारिक सुखों को छोड़कर गुरु के बताए मार्ग पर चलते हुए दीन–हीन लोगों की सेवा में रत हो गये। [1] यह एक अनोखा प्रयोग था। वे अपने मित्रों के साथ मठ में रहकर धार्मिक वाद–विवाद आयोजित करते थे। उसी दौर में उनके कुछ साथियों को तीर्थयात्रा की इच्छा हुई। उनसे बिना बताये कुछ साथी तीर्थयात्रा को चले भी गये। इससे नरेन्द्र को दुःख तो हुआ, पर उन्हें भी तीर्थयात्रा की प्रेरणा हुई। अस्तु, वे भी परिव्राजक संन्यासी के वेश में मठ छोड़कर 1888 में यात्रा के लिए निकल पड़े।[2]

सन् 1888 में विवेकानन्द संन्यासी वेष में सर्वप्रथम उत्तर भारत के प्रमुख शहरों जैसे वाराणसी, हरिद्वार, अयोध्या, वृंदावन एवं आगरा गये। हिमालय क्षेत्र में कुछ समय बिताने के बाद वे बिहार के प्रमुख नगरों (यथा पटना, गया आदि), राजस्थान के जयपुर व अलवर तथा गुजरात के अहमदाबाद, भुज, सोमनाथ, पोरबन्दर, द्वारिका, काठियावाड़ एवं बम्बई व पूना होते हुए केरल पहुंचे। यहाँ कोचीन, त्रिवेन्द्रम व मदुरै होते हुए अन्त में वे कन्याकुमारी पहुँचें। इस अविराम भारत–भ्रमण के दौरान उन्हें देश के विभिन्न प्रांतों के रीति–रिवाजों एवं आचार–विचारों का ज्ञान हुआ। साथ ही उन्हें भारत की जनता की घोर निर्धनता, अशिक्षा तथा कुरीतियों आदि का भी करीबी से अनुभव हुआ। उन्होंने यह भी देखा कि पूरा भारत दुर्भिक्ष, महामारी, रोग और दरिद्रता से बेहाल है।

अंग्रेज एवं धनिक लोग गरीबों का शोषण कर रहे हैं। भूखे–प्यासे लोग अन्न के दाने–दाने के लिए तरस रहे हैं। पुरोहित वर्ग लोगों को धर्म के नाम पर भयभीत कर अपना स्वार्थ साध रहे हैं। धर्म के

बारे में सही ज्ञान न मिलने के कारण भारतीयों के हृदय में न आशा बची है, न विश्वास और न ही नैतिक बल। ऐसे में विवेकानन्द ने कन्याकुमारी के श्रीमन्दिर के पास बैठकर देश में विद्यमान उपरोक्त बुराईयों को दूर करने का संकल्प लिया।[3]

विवेकानन्द का यह संकल्प ऐतिहासिक महत्त्व रखता है, क्योंकि इस संकल्प के बाद वे न केवल राष्ट्रीय पुनर्निर्माण की चुनौतियों का मुकाबला करने के लिए गम्भीरता से सोचने लगे, बल्कि इस दिशा में प्रयासरत भी हो गए। शीघ्र ही इसके लिए उन्हें एक बड़ा अवसर हासिल हुआ।

अपनी यात्रा के बीच में जब विवेकानन्द खँडवा में थे, तब उन्हें 1893 ई॰ में अमेरिका के शिकागो नगर में होने वाली 'विश्व धर्म संसद' (World Parliament of Religions) की बैठक के बारे में पता चला। उन्होंने अपने अनुयायियों के समक्ष इस सभा में भाग लेने की इच्छा व्यक्त की। धर्म संसद में भाग लेने के लिए प्राथमिक रूप से उनका उद्देश्य थाः भरत की गरीबी के निवारण के लिए समृद्ध अमेरिका का सहयोग प्राप्त करना। [4] इस सम्बन्ध में उन्होंने कहा थाः

"मैं सारे भारत में घूम चुका हूँ। पर हे बन्धुओं, वह मेरे लिए एक दारूण कष्टदायक अनुभव था, जब मैंने जनसाधारण की भयंकर निर्धनता और पीड़ा को अपनी आँखों से देखा । मैं अपने आँसू नहीं रोक सका। मेरा यह दृढ़ विश्वास है कि बिना लोगों की गरीबी और कष्ट दूर किये, उनमें धर्म का प्रचार करना बेमानी है।

...इसी कारण दरिद्र भारत की मुक्ति के साधन जुटाने के लिए मैं अमेरिका जाना चाहता हूँ।"[5]

31 मई 1893 ई॰ को विवेकानन्द ने बम्बई से अमेरिका के लिए पी॰ एण्ड॰ ओ॰ कम्पनी के 'पेनिनसुलर' नामक जहाज द्वारा प्रस्थान किया। जैसा कि प्रथम अध्याय में हम जान चुके हैं, श्रीलंका, सिंगापुर, हांककांग, जापान तथा कनाडा होते हुए वे किसी तरह शिकागो पहुँचे। बोस्टन की रेलगाड़ी में संयोगवश मिली मैसाचुसेट्स की एक सहयात्री महिला की सहायता से हार्वर्ड विश्वविद्यालय के प्रोफेसर जे॰ एच॰ राइट से उनका परिचय हुआ जिन्होंने धर्म ससंद में उनकी भागीदारी सुनिश्चित कराई।[6]

सोमवार 11 सितम्बर 1893 ई॰ को प्रातःकाल शिकागो आर्ट इंस्टीट्यूट के 'हॉल ऑफ कोलम्बस' में धर्म संसद का प्रथम अधिवेशन प्रारम्भ हुआ। ठीक 10 बजे वहाँ उपस्थित दस धर्म–मतों के

प्रतिनिधियों के लिए प्रतिकात्मक रूप में दस बार घंटा ध्वनि हुई। वे प्रमुख धर्म–मत थेः यहूदी धर्म, इस्लाम धर्म, हिन्दू धर्म, बौद्ध धर्म, ताओ धर्म, कनफ्यूशियस धर्म, शिन्तो धर्म, पारसी धर्म, कैथोलिक धर्म और प्रोटेस्टेण्ट धर्म। उल्लेखनीय है कि धर्म संसद में विवेकानन्द के अलावा भारत से कई दूसरे प्रतिनिधि भी पहुँचे थे। उन प्रतिनिधियों में ब्रह्म समाज की ओर से बंगाल के प्रतापचन्द्र मजूमदार, बम्बई के जी॰जी॰ आगरकर, जैन धर्मी वीरचन्द गांधी और थियोसोफिकल सोसाइटी के के॰ चक्रवर्ती शामिल थे। विवेकानन्द किसी सम्प्रदाय या मत विशेष के नहीं, अपितु समग्र भारत वर्ष के वैदिक धर्म के प्रतिनिधि के रूप में संसद में उपस्थित हुए थे।[7]

अपराह्न में चार प्रतिनिधियों के लिखित भाषण हो जाने के बाद विवेकानन्द को बुलाया गया। इस विषय में उन्होंने बाद में लिखाः

"मेरे गेरिक वस्त्रों के कारण श्रोताओं का ध्यान किंचित् आकृष्ट हुआ था। .... जब मैंने 'मेरे अमेरिकावासी बहनों तथा भाइयों' कहते हुए सभा को सम्बोधित किया, तो इसके साथ ही दो मिनट तक करतल ध्वनि हुई। और जब मैं अपना भाषण समाप्त करके बैठा, तो भावावेश से मानो मैं अवश हो गया था। अगले दिन सभी समाचारपत्रों में छपा कि मेरा भाषण उस दिन सबसे अधिक मर्म–स्पर्शी बन पड़ा था। अतः पूरा अमेरिका मुझे जान गया।.... उसी दिन से मैं विख्यात हो गया और जिस दिन मैं हिन्दू धर्म पर बोला उस दिन तो हॉल में इतनी भीड़ हुई जितनी पहले कभी नहीं हुई थी।"[8]

विवेकानन्द ने अपने भाषण में हिन्दू धर्म को "सभी धर्मों का आधार" बताया, क्योंकि इसी ने संसार को सहिष्णुता और सार्वभौमिकता का पाठ पढ़ाया है। हिन्दू धर्म की मूल शिक्षा है कि एक–दूसरे को समझो और स्वीकार करो। अपने मत की पुष्टि के लिए उन्होंने वेदों के पदों के उद्धृत किया और सिद्ध करने का प्रयास किया कि हिन्दू धर्म में साम्प्रदायिकता, संकीर्णता, धर्मान्ध ाता आदि के लिए कोई स्थान नहीं है।[9]

विवेकानन्द की हिन्दू धर्म सम्बन्धी बातें अमेरिकावासियों को काफी रोचक लगी। दरअसल अन्य सभी वक्ताओं ने अपने–अपने सम्प्रदाय की बात की थी। सिर्फ विवेकानन्द ही एकमात्र ऐसे वक्ता थे जिन्होंने 'सार्वभौमिक धर्म' की चर्चा की और सब धर्मों/मतों को सार्वभौमिक धर्म के हिन्दू धर्म सम्बन्धी

विचार से आबद्ध कर दिया। 10 इसके अलावा अपने व्याख्यान में उन्होंने किसी भी धर्म या मत की निन्दा या आलोचना नहीं थी। उन्होंने किसी भी धर्म को छोटा नहीं कहा। उन्होंने यही कहा कि:

"एक ईसाई को हिन्दू या बौद्ध तथा हिन्दू या बौद्ध को ईसाई बनाने की कोई आवश्यकता नहीं है। प्रत्येक को दूसरों की मूल धार्मिक भावना, जोकि बुनियादी रूप से एक ही है, आत्सात करनी है और अपनी विशिष्टता को अक्षुण्ण बनाए रखते हुए आध्यात्मिक विकास करना है। धार्मिकता, पवित्रता और उदारता किसी एक पंथ का विशेषाधिकार नहीं है और प्रत्येक पंथ ने श्रेष्ठ चरित्र के महान नर–नारी उत्पन्न किये हैं। अतः मतभेदों के बावजूद अब प्रत्येक धर्म की पताका पर अंकित होगाः सहायता दो, लड़ो नहीं। विनाश नहीं, सम्मिलन। विग्रह नहीं, मैत्री और शांति।"[11]

धर्म–संसद में विवेकानन्द ने अमेरिकावासियों को हिन्दुओं के आध्यात्मिक दर्शन के बारे में बताते हुए कहा कि:

"हिन्दू लोग किसी को पापी कभी नहीं मानते। हम सब लोग अमृत की संतान है। इस पृथ्वी पर पाप नाम की कोई चीज नहीं है। यदि कोई पाप है तो वह हैः मनुष्य को पापी कहना। तुम सर्व शक्तिमान आत्मा हो, शुद्ध, मुक्त व महान! उठो, जागो और अपने स्व को प्रकट करने के लिए चेष्टा करो!"[12]

धर्म संसद के विज्ञान विभाग के अध्यक्ष मि॰ मर्विन मेरीस्नेल ने उनके विषय में बाद में लिखा कि:

"पार्लियामेन्ट पर एवं सामान्य तौर पर अमेरिकी जनता पर जितना गहरा प्रभाव हिन्दू धर्म का पड़ा, उतना किसी भी दूसरे धर्म का नहीं। हिन्दू धर्म के सबसे महत्त्वपूर्ण एवं विशिष्ट प्रतिनिधि स्वामी विवेकानन्द जो वास्तव में पार्लियामेन्ट में निःसंदिग्ध रूप से सर्वाधिक लोकप्रिय एवं प्रभावी व्यक्ति थे, को सभी अवसरों पर अन्य किसी भी वक्ता की अपेक्षा अधिक सम्मान और सराहना मिली। कट्टर से कट्टर ईसाई ने भी उनके सम्बन्ध में यही कहा कि वे सचमुच मनुष्यों में राजा हैं।"[13]

शिकागों में दिए अपने अभिभाषणों के बाद अमेरिकी समाचार पत्रों ने उन्हें "धर्म सम्मेलन के महानतम व्यक्ति" के रूप में चित्रित किया। *दि न्यूयार्क हेराल्ड* नामक समाचार पत्र ने लिखा था कि

"विवेकानन्द निश्चय ही धर्म महासभा के महानतम व्यक्ति हैं। उनका व्याख्यान सुनने के बाद हम यह अनुभव करते हैं कि भारत जैसे ज्ञानी राष्ट्र में मिशनरीज भेजना कितनी मूर्खता का काम है।"[14]

जाहिर है, स्वामी विवेकानन्द पर तारीफों की पुष्प–वर्षा हो रही थी और वे रातों–रात अमेरिका एवं बाकी दुनिया में प्रसिद्ध हो चुके थे लेकिन इतनी कीर्ति हासिल हो जाने के बाऊजूद विवेकानन्द को कोई प्रसन्नता का अनुभव नहीं हो पा रहा था। दरअसल वे निजी प्रसिद्धि पाने के लिए ही तो अमेरिका आए नहीं थे। वे तो यहाँ अपने पीड़ित देशवासियों के कल्याण के मार्ग खोजने के लिए पहुंचे थे। इसलिए वे अब अपनी प्रसिद्धि का लाभ अपने देश के नवनिर्माण व देशवासियों के कल्याण के लिए उठाना चाहते थे। इस संदर्भ में अपनी मनःस्थिति का बयान करते हुए उन्होंने लिखा है कि एक बार रात्रि में वे बेचैन हो उठे और पलंग से उतर कर धरती पर बैठ गये तथा सोचने लगे कि मैं इस यश को लेकर क्या करूँ? जबकि मेरे देशवासी घोर निर्धनता मं डूबे हुए हैं। मैं उनकी किस प्रकार सेवा कर सकता हूँ?"[15]

प्रायः डेढ़ सौ सालों से ईसाई धर्म प्रचारक संसार में हिन्दू धर्म की जो आलोचना करते आ रहे थे, उस पर विवेकानन्द ने अपने एक अभिभाषण से ही काफी हद तक रोक लगा दी। जब भारतवासियों ने यह सुना कि सारा पश्चिमी जगत् विवेकानन्द के मुख से हिन्दू धर्म का आख्यान सुनकर गदगद हो रहा है, तब वे भी अपने धर्म/संस्कृति के प्रति गौरव से भर उठे। उनकी हीन भावना समाप्त होने लगी। इस संदर्भ में विवेकानन्द की शिष्या भगिनी निवेदिता लिखती हैं: "शिकागो धर्म संसद में विवेकानन्द ने जो भाषण दिया, उसका विषय थाः हिन्दुओं के प्राचीन धार्मिक विचार। पर जब उनका भाषण समाप्त हुआ, तो आधुनिक हिन्दू धर्म की सृष्टि हो चुकी थी।"[16]

वस्तुतः अमेरीका में विवेकानन्द ने वेदान्त की सार्वभौमिक वाणी का प्रचार किया था जिसके फलस्वरूप हिन्दू धर्म, हिन्दू जाति और भारत संसार की नजरों में पूजनीय हो गये। हिन्दू जाति पराधीन है, पर घृणित नहीं। दीन–दुःखी होने पर भी यह बहुमूल्य परमार्थिक सम्पत्ति की अधिकारिणी है और धर्म के क्षेत्र में जगत गुरु कहलाने के योग्य है। अनेक शताब्दियों के बाद विवेकानन्द ने हिन्दू जाति को

अपनी समृद्ध आध्यात्मिक विरासत का बोध कराया त था हिन्दू धर्म को अपमान के पंक से उबार कर उसे विश्व में अति उच्च आसन पर विराजमान कराया।[17]

धर्म संसद में विवेकानन्द के विचारों का अनेक लोगों पर गहरा प्रभाव पड़ा था। उनमें से एक ऐनी बेसेन्ट भी थी। इस विषय में अपने उद्‌गार व्यक्त करते हुए वे लिखती हैं:

"एक प्रभावी व्यक्तित्व पीले और नारंगी रंग के वस्त्रों में सुशोभित होकर शिकागो के बोझिल परिवेश में अचानक उभरा। लोग उन्हें योद्धा संन्यासी कहते थे। भारत का यह दूत अपनी मातृभूमि का संदेश लेकर आया था। उन्हें सुनने के बाद एक व्यक्ति उस दिन बोल उठा : हम उस देश की जनता के लिए मिशनरी भेजते हैं, उचित तो यह होगा कि वे लोग हमारे पास अपने मिशनरी भेजतें।"[18]

कहने की आवश्यकता नहीं है कि ऐनी बेसेन्ट स्वयं भी विवेकानन्द से प्रभावित हुई थी और उन्होंने आगे चल कर भारत को अपनी कर्मभूमि बनाया।

विवेकानन्द की इस 'धर्म विजय' का समाचार सुन कर सारे भारत में उल्लास की लहर फैल गयी। उनकी इस सफलता का प्रभाव देश के राष्ट्रीय जीवन पर व्यापक रूप से पड़ा। केवल धर्म और आध्यात्म के क्षेत्र में ही नहीं, वरन् देश के सांस्कृतिक और सामाजिक जीवन पर भी उसका प्रभाव देखा जा सकता था। वस्तुतः इसे राष्ट्रीय गौरव की पुनःर्स्थापना के प्रारब्ध के रूप में देखा जा रहा था। लेकिन जैसा कि बतलाया जा चुका है, विवेकानन्द मात्र इसी उपलब्धि से संन्तुष्ट नहीं थे। अपितु अब वे इस उपलब्धि का लाभ उठाते हुए राष्ट्र के पुनर्निर्माण हेतु अपने व्यापक प्रयासों में सलंग्न हो गए।

धर्म संसद के समाप्त होते ही विवेकानन्द को अमेरिका के अनेक स्थानों से व्याख्यानों के लिए आमंत्रण आने लगे। बहुत सी संस्थाओं, समितियों, गिरजाघरों, महिला संस्थानों, शोध केन्द्रों, विश्वविद्यालयों और प्रतिष्ठित शिक्षण संस्थाओं द्वारा उन्हें आमंत्रित किया जाने लगा । इसी दौरान अमेरिका की एक कम्पनी ने अमेरिका के विभिन्न नगरों में उनके व्याख्यान आयोजित करने का प्रस्ताव रखा। विवेकानन्द ने इस प्रस्ताव को स्वीकार कर दिया। फलस्वरूप वे संयुक्त राज्य अमेरिका के एक शहर से दूसरे शहर तथा एक प्रान्त से दूसरे प्रान्त का भ्रमण करते हुए व्याख्यान देने लगें। वे केवल धर्म या वेदान्त पर ही नहीं, बल्कि आर्य सभ्यता, भारतीय संस्कृति, समाज व्यवस्था, रीति रिवाज, नारी जाति

हेतु आदर्शवाद आदि अनेक विषयों पर भी अपने व्याख्यान दे रहे थे। कुछ समय पश्चात् उन्होंने उक्त कम्पनी से अपना सम्बन्ध–विच्छेद कर लिया और अपनी इच्छानुसार भ्रमण करते हुए अपने व्याख्यान देने लगें।[19]

अब किसी न किसी संस्था, सभा या सोसाइटी के निमंत्रण पर वे लगातार विभिन्न शहरों में व्याख्या देने जा रहे थे। इस तरह वे सप्ताह में बारह से चौदह भाषण देतें। एक साल के भीतर विवेकानन्द अंटलाटिक तट से मिसिसिपी के बीच बसे सभी प्रमुख नगरों में यात्रा कर चुके थे। 1894 में डेट्राएट में उनकी भेंट कुमारी ग्रीनस्टडेल से हुई जो बाद में भगिनी निवेदिता (कु॰ मार्गरेट नोबिल) के साथ उनके पाश्चात्य शिष्यों की टोली में उनके सर्वाधिक निकट रही थी। उन्होंने अब सिस्टर क्रिस्टीन का नाम ग्रहण किया।[20] 1895 में ब्रुकलिन से विवेकानन्द ने व्यवस्थित रूप से अमेरिका में वेदान्त के प्रचार का कार्य प्रारम्भ किया।[21] फरवरी 1899 में उन्होंने न्यूयार्क में 'राजयोग' और 'ज्ञानयोग' पर भाषण दिये। बाद में ये व्याख्यान पुस्तकाकार रूप में प्रकाशित हुए। अमेरिका के बौद्धिक वर्ग में ये पुस्तक इतनी लोकप्रिय हुई कि कुछ सप्ताह के भीतर ही उनके तीन संस्करण निकालने पड़े। इन ग्रंथों को पढ़कर तत्कालीन अमेरिका के विख्यात दार्शनिक विलियम जेम्स और बाद में रूस के दार्शनिक टॉलस्टाय बड़े मुग्ध हुए थे।[22]

शीघ्र ही विवेकानन्द प्रतिदिन कुछ चुने हुए शिष्यों को 'राजयोग' और 'ज्ञानयोग' की दो साधना विधियों का अभ्यास कराने लगें। इनमें से पहली विधि 'राजयोग' मुख्यतः एक मानसिक–शारीरिक क्रिया थीं जिसमें देह को मन के अधीन करके प्राण शक्ति को नियन्त्रित किया जाता था तथा मन की आन्तरिक हलचल को शान्त कर सिर्फ 'ब्रह्म का अनाहत नाद' सुना जाता था।

'ज्ञानयोग' एक विशुद्ध बौद्धिक क्रिया थी जिसका उद्देश्य आत्मा की एकता को जानना करना था। 1895 में उन्होंने 'राजयोग' पर अपनी प्रसिद्ध टीका कुमारी एस॰ इ॰ वाल्डो (बाद में सिस्टर हरिदासी) को बोलकर लिखाई। इस दौरान वहां अनेक लोग विवेकानन्द के शिष्य बन चुके थे। वे सब प्रचार कार्य में उनको सहयोग देने लगे। उनमें मैडम मेरी लुई, डॉ॰ लेन्ड्सवर्ग, श्रीमती ओली बुल, डॉ॰ एलेन डे, मिस एस॰ ई॰ वाल्डो, प्रो॰ वाइमैन एवं राइट, डॉ॰ स्ट्रीट इत्यादि अनेक गणमान्य व्यक्ति शामिल थे न्यूयार्क की

एक प्रख्यात संस्था से जुड़े श्री और श्रीमती फ्रांसिस लेगेट तथा मिस मैकलोड भी विवेकानन्द के साथ जुड़े। इन सब शिष्यों ने अमेरिका में उनके प्रचार कार्यों में उन्हें पूर्ण रूप से सहयोग दिया।[23]

जून–जुलाई 1895 में थाउजैंड आइलैण्ड पार्क में अपने अनुयायियों के बीच बिताये गए अपने समय में विवेकानन्द ने अमेरीका व यूरोप में अपने भावी कार्य की एक निश्चित योजना बनाई। सेंट लारेंस नदी के ऊपर पहाड़ी पर उपस्थित एक जंगली भूमि खण्ड को एक भक्त मिस डचर ने विवेकानन्द को दान दे दिया था। यहां उनके चुनिन्दा एक दर्जन शिष्य जमा हुए। उन्होंने अपने ध्यान 'सेंट जॉन की गॉस्पल' के पाठ से प्रारम्भ किये। सात सप्ताह तक यहां उन्होंने अपने शिष्यों को ध्यान की शिक्षा दी। उनके भाषणों के कुछ प्रमुख विषय थेः स्वाधीनता, साहस, ब्रह्मचर्य, अपने को हीन समझने का पाप आदि। इस बारे में उन्होंने अपने एक भारतीय शिष्य अभयानन्द को लिखा कि मानव को अध्यात्म में प्रशिक्षित करने के अलावा मेरी कोई और कड़ी महत्वाकांक्षा नहीं है।

यदि मैं जीवन में एक व्यक्ति की आत्मा को भी स्वतंत्रता दिलाने में सफल हो सका, तो मैं अपने श्रम को सार्थक समझूँगा। रामकृष्ण परमहंस को उद्धृत करते हुए उन्होंने कहा कि एक अकेला मनुष्य अपने भीतर सम्पूर्ण ब्रह्मांड को समेटे हुए है। प्रत्येक व्यक्ति में सम्पूर्ण सृष्टि बीजरूप में विद्यमान है।[24] थाउजैंड आइसलैंड पार्क में स्वामी विवेकानन्द ने अपने शिष्यों को जो उपदेश दिये थे, उन सब को बाद में 'देववाणी' (The Inspiring Talks) नाम से प्रकाशित किया गया।

25 मार्च 1896 को हार्वर्ड विश्वविद्यालय में दिया गया उनका व्याख्यान और उसके बाद उस पर हुई चर्चा जिसे *'द फिलॉसफी ऑफ वेदान्ता'* के नाम से प्रकाशित किया गया, ऐतिहासिक महत्त्व रखता है। लोग उनके विचारों से इतने प्रभावित हुए कि उन्होंने उनसे हार्वर्ड विश्वविद्यालय में प्राच्य दर्शन का प्राध्यापक और कोलम्बिया विश्वविद्यालय में संस्कृत का प्राध्यापक जैसे पद स्वीकार करने का अनुरोध किया। लेकिन उन्होंने विनम्र भाव से इन पदों को यह कहकर अस्वीकार कर दिया कि वे संन्यासी हैं। न्यूयार्क में फ्रांसिस लेगिट की अध्यक्षता में उन्होंने 'वेदान्त सोसाइटी' की स्थापना की जो आगे चलकर अमेरिका में वेदान्त प्रचार आन्दोलन का केन्द्र बनी।[25]

अब विवेकानन्द वेदान्त प्रचार के कार्य हेतु यूरोप जाने के लिए उत्सुक थे सर्वप्रथम इंग्लैण्ड में वेदान्त की अनुरागिणी मिस हेनरी एटा मूलर ने उन्हें अपने देश में आने का आमन्त्रण दिया। थोड़े समय बाद ई॰ टी॰ स्टर्डी ने भी उनको लंदन आने के लिए कई पत्र लिखें। और एक दिन अमेरिका में प्रचार का कार्यभार अभयानन्द, कृपानन्द तथा भगिनी हरिदासी के हवाले छोड़कर अपने एक मित्र के साथ विवेकानन्द ने इंग्लैण्ड के लिए प्रस्थान किया।[26]

7 अगस्त 1895 को विवेकानन्द इंग्लैण्ड पहुँचे जहाँ मिस हेनरी ऐटा मूलर और मि॰ ई॰ टी॰ स्टर्डी ने उनका जोरदार स्वागत किया। लंदन में उन्होंने 'पिकैडली प्रिंसेज हॉल' में एक हजार से अधिक श्रोताओं के सम्मुख 'आत्मज्ञान एवं ज्ञानयोग' के विषय पर एक गंभीर भाषण दिया। उनके भाषण से लंदन की जनता बहुत प्रभावित हुई। वहाँ उनको "तूफ़ानी हिन्दू" (Cyclonic Hindu) का नाम दिया गया। उनके विषय में '*दि स्टैण्डर्ड*' नामक पत्रिका ने लिखा, "राजा राममोहन राय के बाद, सिर्फ केशवचन्द्र सेन को छोड़कर, प्रिंसेज हॉल में इस हिन्दू वक्ता की तरह और कोई शक्तिशाली प्रबुद्ध भारतीय अवतरित नहीं हुआ था।" [27] इसी तरह, 18 जनवरी 1896 को '*इंडियन मिरर*' नामक पत्रिका ने विवेकानन्द के संबंध में लिखा थाः

"स्वामी विवेकानन्द ने लंदन के अनेक विशिष्ट पुरुष व महिलाओं की दृष्टि आकर्षित की थी। उनकी हिन्दू दर्शन व योग सम्बन्धी कक्षाओं में अनेक उत्साही श्रोतागण उपस्थित होते थे। किसी संवाददाता ने लिखा कि लंदन के गणमान्य परिवारों की महिलाएं, कुर्सियों के अभाव में, ठीक उनके भारतीय शिष्यों की तरह फर्श पर पैर मोड़कर बैठ कर भक्तिभाव के साथ स्वामीजी के उपदेश सुनती थी। केनन, विलियम विल्बरफोर्स, हैज आदि विशिष्ट इसाई धर्म प्रचारकों ने भी उनको बड़े सम्मान के साथ सुना।"[28]

लगभग एक महीने तक विवेकानन्द ने इंग्लैण्ड में वेदान्त व सार्वभौमिक धर्म पर अनेक व्याख्यान दिए। लंदन की एक धर्म सभा में उनकी भेंट मिस मार्गरेट नोबिल से हुई जो असाधारण विदुषी महिला थी। वे विवेकानन्द की शिष्या बन गई और भगिनी निवेदिता के नाम से प्रसिद्ध हुई। वे लंदन के एक

स्कूल की प्रधान अध्यापिका थी। विवेकानन्द ने उनके स्कूल में प्रवचन दिया था जिससे वे बड़ी प्रभावित हुई थी।[29]

इसी बीच अमेरिका से स्वामीजी को दोबारा बुलाने के लिए पत्र आने लगे थे। 6 दिसम्बर 1895 को वे इंग्लैण्ड से पुनः न्यूयार्क पहुँचे और वहां फिर से वेदान्त प्रचार का कार्य प्रारम्भ कर दिया। अबकि बार अपने कार्य को स्थायी रूप देने के लिए वे संगठन तैयार करने में जुट गये। उन्होंने भारत से अपने कुछ गुरुभाइयों को प्रचारकों के रूप में बुलाने की भी व्यवस्था की। उन्होंने 'कर्मयोग', 'भक्तियोग' व अन्य विषयों पर जो व्याख्यान दिये थे, वे धीरे–धीरे पुस्तकों के रूप में प्रकाशित किए जाने लगे ं। अमेरिका में उनके भाषणों को लिपिबद्ध करने के लिए इंग्लैण्ड से श्री जे॰ जे॰ गुडविन नामक एक विशेषज्ञ न्यूयार्क आये। वे स्वामीजी से इतने प्रभावित हुए कि उन्होंने उनका शिष्यत्व ग्रहण कर लिया।[30]

25 दिसम्बर 1895 को क्रिसमस के पर्व पर स्वामीजी ने बोस्टन में महिलाओं के समक्ष "भारतीय नारी जाति का आदर्श" विषय पर एक तथ्यपूर्ण भाषण दिया। बोस्टन से लौटकर वे न्यूयार्क के हर्डीमैन हॉल में प्रत्येक रविवार को निःशुल्क व्याख्या देने लगे। [31]

24 फरवरी 1896 में स्वामीजी ने न्यूयार्क के विख्यात 'मेडिसन स्कवेअर गार्डन' में "मेरे स्वामी" (My Master) विषय पर एक महत्त्वपूर्ण भाषण दिया। उनके उक्त भाषण को सुनकर अमेरिकावासी इतने आकर्षित हुए कि कई पुरुष और महिलाओं ने तो तुरन्त उनका शिष्यत्व ग्रहण कर लिया। उन्हीं में से एक डॉ॰ स्ट्रीट भी थे जो अब संन्यासी बन गए। विवेकानन्द ने उनका नाम स्वामी योगानन्द रखा। [32] मार्च 1896 में स्वामी विवेकानन्द दो सप्ताह के लिए डिट्राएट गये। यहां उन्होंने "पाश्चात्य जगत को भारत का संदेशः सर्वभौमिक धर्म का आदर्श" विषय पर भाषण दिये। 25 मार्च 1896 को उन्होंने हार्वर्ड विश्वविद्यालय के दर्शनशास्त्र विभाग के छात्रों और प्रोफेसरों के समक्ष "वेदान्त दर्शन" पर एक विद्ववतापूर्ण भाषण दिया जिसे ऐवरेट नामक एक विद्वान ने पुस्तक के रूप में मुद्रित किया। ऐवरेट महोदय ने इस पुस्तक की भूमिका में लिखा था :

"स्वामी विवेकानन्द ने अपने व्यक्तित्व तथा कार्य के जरिए बहुत ही कौतूहल उत्पन्न किया है। हिन्दू चिन्तन प्रणाली से बढ़कर हृदयग्राही विषय और कोई भी नहीं है। हीगल का कहना है कि

स्पनोजा का वाद अनेक दार्शनिक तत्त्वों की जड़ है। परन्तु वेदान्त दर्शन के विषय में भी यही मत प्रकट किया जा सकता है।'[33]

मार्च 1896 में न्यूयार्क लौटकर स्वामीजी ने वेदान्त योग के प्रचार के लिए एक संस्था स्थापित की जिसका नाम 'फांउडेशन ऑफ वेदान्त सोसाइटी' रखा गया। इसका सभापति श्री फ्रांसिस एच॰ लिगेट को बनाया गया। इस संस्था में उनकी एक शिष्य भगिनी हरिदासी योग की शिक्षिका बनी तथा स्वामी कृपानन्द, अभयानन्द व योगानन्द वेदांन्त के प्रचारक बनें। विवेकानन्द का विश्वास था कि जब तक प्राच्य आध्यात्म और पाश्चात्य विज्ञान का संगम नहीं होगा , तब तक मानवता का कल्याण असंभव है। वे वेदान्त और विज्ञान के बीच समन्वय चाहते थे। जब तक हिन्दू धर्म की पद्धति वैज्ञानिक रूप से प्रस्तुत नहीं की जाएगी, तब तक वह पाश्चात्य जगत को स्वीकार्य नहीं हो सकती। इसी उद्देश्य की पूर्ति हेतु उनकी संस्था ने उनके पाश्चात्य शिष्यों को भारत भेजा और भारतीय शिष्यों को अमेरिका एवं यूरोप बुलाया। [34] उनकी संस्था का पश्चिमी देशों में मुख्य लक्ष्य थाः "प्राच्य और पाश्चात्य सभ्याताओं के मिलन हेतु एक सेतु का निर्माण करना और धर्म तथा विज्ञान के परस्पर समन्वय द्वारा एक नयी सभ्यता का गठन करना।[35]

इसी बीच पुनः इंग्लैण्ड के मित्रों ने उनको आमंत्रण भेजना शुरू कर किया। यूरोप में वेदान्त प्रचार के कार्य में उन्हें सहयोग देने के लिए कलकत्ता से उनके गुरुभाई स्वामी सारदानन्द भी चल पड़े थे जो 1 अप्रैल 1896 को लंदन पहुँचें। विवेकानन्द भी 15 अप्रैल 1896 को न्यूयार्क से पुनः इंग्लैण्ड की ओर रवाना हुए। [36] लंदन पहुँचकर मई के प्रथम सप्ताह से उन्होंने प्रचार कार्य प्रारम्भ कर दिया। अपनी इस दूसरी इंग्लैण्ड यात्रा के दौरान उन्होंने वेदान्त शिक्षा के नियमित सत्र इस विश्वास के साथ प्रारम्भ किये कि यहाँ उन्हें बुद्धिमान शिक्षार्थी मिलेंगें। ज्ञानयोग पर नियमित कक्षाएं लगाने के अतिरिक्त उन्होंने विभिन्न स्थानों पर भाषण भी दिए। उदाहरणतः उन्होंने पिकाडिली की चित्र–दीर्घा, प्रिंसेस हाल, ऐनी बेसेंट लॉज, विभिन्न क्लबों, शिक्षण संस्थाओं और कई गोष्ठियों में अपने व्याख्यान दियें।[37] कई अंग्रेज मित्रों ने आगे आ कर विवेकानन्द के कार्य में सहायता प्रदान की। इनमें उल्लेखनीय थेः मिस मूलर, मिस

मोहल, मिस मोबिल (भगिनी निवेदिता), सेवियर दम्पत्ति और जे॰ जे॰ गुडविन। इन सभी ने भारत की सेवा में अपना जीवन अर्पित किया।[38]

इंग्लैण्ड में श्रीमती ऐनी बेसेंट के आमंत्रण पर विवेकानन्द ने उनके लन्दन के अविन रोड स्थित भवन में भक्ति योग पर एक श्रेष्ठ व्याख्यान दिया। यहां पर मौजूद गणमान्य लोगों में 'थियोसोफीकल सोसाइटी' के नेता कर्नल अल्काट भी उपस्थित थे। श्रीमती मार्टिन के भवन में होने वाले उनके व्याख्यानों को सुनने तो राजपरिवार के भी कुछ व्यक्ति गुप्त रूप से आते थे। [39] लंदन में विवेकानन्द की भेंट ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय के प्रोफेसर मैक्स मूलर से भी हुई। उनके विशेष आमंत्रण पर विवेकानन्द 28 मई 1896 को उनके घर पहुंचे। मैक्समूलर स्वयं महान भारतविद् थे ˙ और रामकृष्ण परमहंस के जीवन और उनकी शिक्षाओं से बहुत प्रभावित थे। बाद में उन्होंने रामकृष्ण की जीवनी भी लिखी। अति उत्साह से विवेकानन्द ने उनसे हुई मुलाकात के विषय में लिखा, "उन्होंने अपनी आत्मा से वेदान्त के सुर को पकड़ लिया है.... एक जौहरी ही हीरे को परख सकता है।"[40]

लंदन में रहते हुए विवेकानन्द ने जिन व्यक्तियों को अपना शिष्य बनाया था, उनमें सेवियर–दम्पत्ति का नाम भी उल्लेखनीय है। वे दोनों अपने जीवन–पर्यन्त उनके शिष्य बने रहें। बाद में वे दोनों विवेकानन्द के साथ ही भारत आये और हिमालय पर अद्वैत आश्रम के निर्माण कार्य में सहयोग दिया। सन् 1900 में श्री सेवियर का इसी मठ में देहान्त हुआ। श्रीमती सेवियर उनके और विवेकानन्द की मृत्यु के बाद तक जीवित रही और 15 वर्ष तक इसी स्थल पर बच्चों की शिक्षा के कार्य में व्यस्त रही।[41]

लंदन के काम को सम्पन्न करने के बाद विवेकानन्द ने सेवियर दम्पत्ति और मिस मूलर के स्विट्जरलैंड भ्रमण के आमंत्रण को स्वीकार किया। स्विट्जरलैण्ड के आल्पस पर्वतों को देखकर उनके मन में हिमालय पर्वत की सुखद स्मृतियाँ उभर आयी। स्विस किसानों और भारत के पर्वतीय किसानों में स्वामीजी को बहुत साम्य दिखा। यहीं पर उनके मन में हिमालय में 'वेदान्त मठ' को स्थापित करने का विचार आया था। [42] इसी पर्वतीय विश्राम स्थल पर उन्हें जर्मनी के कील विश्वविद्यालय के संस्कृतज्ञ प्रोफेसर पॉल ड्यूसन का पत्र मिला जिसमें उन्होंने विवेकानन्द को उनके सा थ कील में कुछ समय

बिताने के लिए निमंत्रित किया था। फलतः विवेकानन्द ने अपना स्विट्जरलैण्ड भ्रमण की अवधि घटा दी और कील का मार्ग पकड़ा। कील में उन्होंने प्रो॰ ड्यूसन के साथ भारतीय दर्शन विशेषकर उपनिषद्, वेदान्त व शंकरभाष्य पर चर्चा की।[43]

अब यूरोप में उनका प्रवास अपनी समाप्ति पर था। विदा लेते समय उन्होंने अपने मित्रों से कहा था, "इस शरीर को त्यागना तथा इसे जीर्ण वस्त्र की तरह उतार कर फेंक देना मेरे लिए श्रेयकर हो सकता है...। पर मैं मनुष्य की सेवा और सहायता करना कभी नहीं छोड़ सकता।"[44]

नवम्बर 1896 में विवेकानन्द ने अपने भारत स्थित साथियों को स्वदेश लौटने की सूचना दी। उनकी इच्छा मद्रास, कलकत्ता, बम्बई और प्रयाग में अपने सेवा केन्द्र खोलने की थी। 13 दिसम्बर 1896 को उनके शिष्यों ने उनकी विदाई के लिए पिकैडली के कला केन्द्र भवन में 'रॉयल सोसाइटी ऑफ पेन्टर्स' नामक समिति की एक सभा बुलाई जहाँ उनको भाव–भीनी विदाई दी गई। उन्होंने घोषणा की कि उनकी विदाई के बाद इंग्लैण्ड में स्वामी अभेदानन्द वेदान्त शिक्षा के प्रचार का कार्य करेंगें।[45]

इंग्लैण्ड से प्रस्थान कर वे डोवर, कैले तथा मौंट सेनिस होते हुए इटली पहुँचें। वे मिलान में लियोनार्डो द विंची के चित्र 'द लास्ट सपर' को देखते गये। वे रोम से प्रभावित हुए जो उनकी नजर में दिल्ली के समान था। उन्होंने कैथोलिक उपासना पद्धति और हिन्दू अनुष्ठानों में समरूपता देखी।[46] फ्लोरेन्स व रोम होते हुए विवेकानन्द नेपल्स गए। 30 दिसम्बर 1896 को उन्होंने अपने साथियों के साथ भारत की ओर कूच किया। 15 जनवरी 1897 को वे श्रीलंका पहुँचें। जब वे कोलम्बो बन्दरगाह पर उतरें तो वहाँ एकत्रित जनसमूह ने उनका जोरदार स्वागत किया। कुमार स्वामी नामक एक व्यक्ति ने वहां उनके लिए अभिनन्दन पत्र पढ़ा।[47]

विवेकानन्द कोलम्बों से कैंडी, अनुराधापुरम, जाफना, पाम्बन, रामेश्वरम्, रामनाड, मदुरा व त्रिचनापल्ली पहुँचें और वहाँ से मद्रास गये।[48] बीच में रामनाड के राजा भास्कर वर्मा बहादुर ने उनका अभिनन्दन किया। वे प्रसिद्ध रामेश्वर मन्दिर का दर्शन करने भी गये। यहाँ उन्होंने एक संक्षिप्त भाषण दिया। रामेश्वरम के राजा ने स्वामीजी की विजय यात्रा की स्मृति में एक चालीस फुट ऊँचा स्तूप भी स्थापित किया।[49] यहां उनके आगमन के उपलक्ष्य में हजारों 'दरिद्रनारायणों' को सानन्द भोजन कराया

गया। प्राचीन आदर्श वाक्य श्रृंखला 'मातृ देवो भव, पितृ देवो भव एवं अतिथि देवो भव' में विवेकानन्द ने प्रथम बार एक नया आदर्श विचार जोड़ा, 'दरिद्र देवो भव'। वस्तुतः उनका बाकी का सारा जीवन गरीबों व उपेक्षितो की सेवा में ही व्यतीत हुआ।

मद्रास में स्वामी विवेकानन्द का जोरदार स्वागत हुआ। यहाँ वे नौ दिन तक ठहरें। विभिन्न संगठनों, सभाओं व समितियों की ओर से उनके सम्मान में संस्कृत, अंग्रेजी, तमिल व तेलगु भाषाओं में लगभग चौबीस अभिनन्दन पत्र पढ़े गये। मानपत्रों का उत्तर देने के अतिरिक्त उन्होंने कई स्थानों पर कुछ व्याख्यान भी दिये जिनके विषय थे – 'मेरी समर नीति,' 'भारतीय जीवन में वेदान्त का प्रयोग', 'भारत के महापुरुष' और 'भारत का भविष्य।' 'सम्पूर्ण विश्व का एकत्व' – नामक विचार को 'भारत की महावाणी' बताते हुए उन्होंने कहा कि हमें इसे फिर से समझकर सारे जगत में इसका प्रचार करना होगा।[50] उन्होंने कहाः

"सभी नर–नारी और बाल–वृद्ध सुनें और समझें कि सबल और दुर्बल, निर्धन और धनी, प्रत्येक प्राणी में उसी एक अनन्त परमात्मा का वास है। अतः हम सब मनुष्यों का आह्वान करें – उठो, जागो, मोह निद्रा त्यागो! कोई भी दुर्बल नहीं है। आत्मा अनन्त, सर्वशक्तिमान और सर्वज्ञ है। उठ खड़े हों, अपने को सिद्ध करो, अपने भीतर विद्यमान ईश्वर को प्रमाणित करो!"[51]

उन्होंने भारत के राष्ट्रीय पुर्ननिर्माण हेतु अपनी योजना प्रस्तुत करते हुए एक स्थान पर कहाः

"मेरी योजना है कि भारत में ऐसी संस्थाएं स्थापित हों जो हमारे शास्त्रों के सत्य को देश–देशान्तर में प्रसारित करने के लिए हमारे नवयुवकों को प्रशिक्षित करें। मुझे श्रेष्ठ मनुष्य चाहिए, और सब कुछ तो मिल ही जायेगा। बस मुझे चाहिए बलवान, उत्साही, विश्वासी व सच्चे नवयवुक। ऐसे सौ नवयुवक संसार में क्रांति ला देंगें ! संकल्प सबसे बड़ी चीज है, वह सर्वजयी है क्योंकि वह ईश्वर की देन है... शुद्ध और दृढ़ संकल्प सर्वशक्तिमान है।"[52]

उन्होंने राष्ट्र–निर्माण सम्बन्धी अपनी योजना में वर्ण–विभेदों को नकारते हुए लोगों का आह्वान किया किः

"यदि आनुवांशिकता के आधार पर एक ब्राह्मण में शूद्र की अपेक्षा विद्या के प्रति अधिक अभिरूचि है तो ऐसे ब्राह्मण की शिक्षा पर धन व्यय मत करो, अपितु सारा धन शूद्र पर व्यय करो। दुर्बल को दान दो क्योंकि उसी को दान की आवश्यकता है।.... यही मेरी समझ में न्यायपूर्ण और तर्कसंगत है।"[53]

इसी बीच देश के अन्य भागों से भी उनके पास निमंत्रण आने शुरू हो गये थे। अतः उन्होंने जहाज द्वारा मद्रास से कलकत्ता की यात्रा की। 20 फरवरी 1897 को वे कलकत्ता पहुँचें। यहां पर आयोजित समारोह में स्वामीजी ने कहा, "श्री रामकृष्ण की शिक्षाओं का अनुसरण करने से ही भारत का पुनर्जागरण होगा। मैं तो अभी तक कुछ भी नहीं कर सका हूँ। सब कुछ युवकों को ही करना होगा।" 54 जननी जन्मभूमि की सेवा में अपने आप को समर्पित कर देने हेतु उन्होंने नवयुवकों का आह्वान किया। राष्ट्र के पुननिर्माण हेतु क्रान्तिकारी सन्देश देते हुए उन्होंने कहाः

"अगले पचास वर्षों तक के लिए अपने मन से सब मिथ्या देवी–देवताओं को निकाल बाहर कर दो। हमारे अपने देशवासी ही हमारे ईश्वर है! वे जीवित हैं, सर्वत्र उसके हाथ, पैर और सिर हैं । ईश्वर सबमें व्याप्त है।.... अपने आसपास के प्राणी समाज की पूजा ही 'विराट की पूजा' है।.... अतः ये सब मनुष्य हमारे देवता हैं। हमारे सर्वप्रथम आराध्य हमारे अपने देशवासी ही हैं। बहुरूपों में खड़े तुम्हारे आगे, और कहाँ है ईश? व्यर्थ खोज यह; जीव प्रेम की ही सेवा पाते जगदीश!"[55]

स्वामी विवेकानन्द के आह्वान पर उनके शिष्य मानव सेवा कार्य में जुट गये। उधर अमेरिका में स्वामी शारदानन्द और स्वामी अभेदानन्द सफलतापूर्वक वेदान्त प्रचार का कार्य सम्भाले हुए थे। चिकित्सकों के परामर्श पर कुछ दिन स्वास्थ्य सुधार के लिए दार्जिलिंग गुजारने के बाद विवेकानन्द अपने कुछ गुरुभाइयों और दक्षिण भारतीय तथा पाश्चात्य शिष्यों के साथ आलम बाजार मठ लौटकर राष्ट्र सेवा हेतु संगठन निर्माण के कार्य में जुट गये।[56]

संक्षेप में, स्वामी विवेकानन्द ने अपनी अमेरिका एवं यूरोप यात्रा के दौरान जो कुछ भी हासिल किया था, उसका पूरा लाभ वे अपने देशवासियों को देने को तत्पर थे। अतः अपनी उस महान् उपलब्धि को अपने राष्ट्र को समर्पित करते हुए उन्होंने राष्ट्रीय पुनर्निर्माण के लक्ष्य पर अपना ध्यान केन्द्रित कर दिया। वे समझ चुके थे ं कि भारत के निर्माण का सूत्र है : स्वयं पर भरोसा करना, अपनी ताकत को

समझना एवं निडर बनना। इस संदर्भ में जवाहर लाल नेहरू *'दि डिस्कवरी ऑफ इण्डिया'* नामक अपनी विख्यात रचना में "वर्तमान भारत को स्वामीजी की देन" नामक अध्याय में अपने विचार व्यक्त करते हुए लिखते हैं:

"उनके व्याख्यानों एवं रचनाओं में एक स्वर जो बार–बार उभर कर आता है, वह है 'निर्भयता' । भय और दुर्बलता को त्याग कर वीर बनो! यही है उपनिषदों की महान शिक्षा।... स्वामी जी ने कहा था कि आज हमें ऐसे बलवान मनुष्यों की जरूरत है जिनकी मांसपेशियां लौह के समान दृढ़ और फौलाद के समान सख्त हो, और जिनकी इच्छाशक्ति में ब्रह्माण्ड के गूढ़तम रहस्यों का भेदन करने की क्षमता हो।"57

रामकृष्ण मिशन की स्थापना

जैसा कि इस अध्याय के प्रथम भाग में हम जान चुके हैं, शिकागों यात्रा एवं उसके प्रभावों को स्थाई रूप देने और उसके लाभों को राष्ट्रीय पुनर्निर्माण के उद्देश्य हेतु समर्पित करने के इरादे से विवेकानन्द 1897 में भारत लौटे। स्वदेश लौटते ही उन्होंने अपने सभी साथियों एवं शिष्यों का आह्वान किया कि वे सभी राष्ट्र एवं मानवता के कल्याण के भागरथी कार्यों में संलग्न हो जाएं। उन्होंने एक स्थान पर अपने गुरु भाइयों एवं शिष्यों को उपदेश देते हुए कहा था:

"यदि आप अपने युगधर्म के प्रचार कार्य में संलग्न न हुए तो गुरु रामकृष्ण के आगमन का उद्देश्य व्यर्थ हो जायेगा। संसार के कार्यक्षेत्र में खड़े होकर मानव जाति को श्रेष्ठ कार्यों की प्रेरणा देनी होगी । करोड़ों भारतीयों की अज्ञानता और अंधकार को दूर करना होगा। भारत के कल्याण की कामना से एक ऐसे नवीन संन्यासी सम्प्रदाय की स्थापना करनी होगी जो मानव–मात्र की सेवा के व्रत में अपनी मुक्ति की कामना का परित्याग तो करेंगे ही, साथ ही यदि आवश्यक हो तो दूसरों की सेवा के लिए नरक में जाने को भी तैयार रहेंगें। एकांकी पूजा और जड़ ईश्वर की आराधना बहुत हो चुकी। अब हम समजीव विराट के रूप में सामने मौजूद ईश्वर की आराधना करें जो सब आत्माओं में व्याप्त है। अतः प्रत्येक मनुष्य के अन्दर सोए हुए ब्रह्म तेज को जागृत करें।"58

विवेकानन्द के आह्वान पर उनके गुरु भाई स्वामी रामकृष्णानन्द, जो गत बारह वर्षों से एक दिन के लिए भी श्रीरामकृष्ण आश्रम को छोड़कर अन्यत्र कहीं भी नहीं गये थे, वेदान्त के प्रचारार्थ दक्षिण भारत चले गए। स्वामी सारदानन्द और स्वामी अभेदानन्द पाश्चात्य देशों में प्रचारार्थ पहले ही जा चुके थे। इसी तरह स्वामी अखण्डानन्द ने बंगाल के मुर्शिदाबाद जिले में दुर्भिक्ष पीड़ित सैकड़ों गरीबों तक अन्न पहुँचाया एवं अनाथ बालकों के लिए अनाथ आश्रम स्थापित किया। उसी वर्ष (1897 ई॰ में) स्वामी त्रिगुणतिनन्द ने दिनाजपुर के निकट दुर्भिक्ष सेवा केन्द्र खोला।[59]

विवेकानन्द की प्रबल इच्छा थी कि राष्ट्र एवं मानव सेवा का यह कार्य सुनियोजित और व्यवस्थित तरीके से हो। अस्वस्थ हो जाने के कारण कुछ सप्ताह तक दार्जलिंग और फिर अल्मोड़ा में स्वास्थ्य लाभ करने के बाद विवेकानन्द आलम बाजार मठ में रहकर प्रचार करने लगे। [60] यहीं पर उन्होंने गुरु रामकृष्ण परमहंस के भक्तों को संघबद्ध करने के लिए रणनीति बनाई। 1 मई 1897 को रामकृष्ण के समस्त शिष्यों को कलकत्ता में बलरामजी के घर आमन्त्रित किया गया। [61] विवेकानन्द ने उन्हें सम्बोधित करते हुए कहा कि बिना संगठन के कोई कार्य नहीं हो सकेगा। इसलिए उन्होंने जन सेवा कार्य का विस्तार करने के लिए सभी संन्यासी और गृहस्थ भक्तों को साथ लेकर 'रामकृष्ण मिशन' नाम से एक संघ के गठन का प्रस्ताव रखा जिसे सबने मंजूर कर लिया। इस संघ का उद्देश्य और आदर्श था – 'आत्मनो मोक्षार्थ जगद्धिताय च' अर्थात् जनसाधारण की सेवा, अपनी मुक्ति का मार्ग! [62] उक्त बैठक में निम्नलिखित प्रस्ताव पारित हुए :

(1) 'रामकृष्ण मिशन' नाम से एक समाज सेवी संस्था की स्थापना की जाय।

(2) उक्त संस्था का उद्देश्य उन सत्यों का प्रचार करना होगा जिन्हें श्री रामकृष्ण ने मानवता के कल्याण के लिए अपने आचरण द्वारा प्रतिपादित किया। सभी को मनुष्य जाति की लौकिक, मानसिक और आध्यात्मिक उन्नति हेतु मिशनरी कार्य करना होगा।

(3) संस्था का कर्त्तव्य होगा रामकृष्ण द्वारा शुरू किये गये विभिन्न क्रियाकलापों को एक ही शाश्वत धर्म के विविध रूप मानते हुए उनके तमाम अनुयायियों के बीच भाईचारे की स्थापना करना।

(4) संस्था के क्रियाकलाप कार्य होंगें : (i) उन लोगों को प्रशिक्षित करना जो ऐसा ज्ञान या विज्ञान सिखाने में सक्षम हो जिससे जन साधारण का भौतिक और आध्यात्मिक उत्थान हो सकें।

(ii) रामकृष्ण द्वारा उद्घाटित वेदान्त और अन्य धार्मिक विचारों का जनसाधारण के बीच प्रसार करना।

(iii) शिल्पकार्य करने वाले अथवा परिश्रम से अपनी जीविका चलाते वाले लोगों से जुड़ना तथा उनका कौशल व उत्साह बढ़ाना।

(5) संस्था की दो शाखाएं होंगीं : पहली भारतीय जो देश के विभिन्न स्थानों पर मठों और आश्रमों की स्थापना करेगी जहाँ संन्यासी और गृहस्थ मिशनरी दूसरों को शिक्षा देने के लिए अपना जीवन समर्पित करेंगें। दूसरी शाखा विदेशी होगी जो भारत से बाहर आध्यात्मिक केन्द्र स्थापित करने के प्रयास करेगी तथा विदेशी लोगों और भारतीयों के बीच घनिष्ठ सम्बन्ध तथा पारस्परिक सहयोग की भावना उत्पन्न करेगी।

(6) मिशन के लक्ष्य और आदर्श पूर्णतः आध्यात्मिक और मानवीय होंगे और उनका राजनीति से कोई सम्बन्ध नहीं होगा।[63] जाहिर है, विवेकानन्द द्वारा स्थापित संगठन सामाजिक, मानवीय और सर्वभौम कल्याण के उद्देश्योंको समर्पित था। अधिकांश धार्मिक संगठनों के विपरीत यह आधुनिक जीवन में विज्ञान व तर्क की महत्ता के विरुद्ध नहीं था, अपितु विज्ञान के साथ–साथ आगे बढ़ना चाहता था। इसका लक्ष्य आध्यात्मिक और भौतिक उन्नति में सहयोग देना और कलाओं तथा उद्योगों को प्रोत्साहित करना था। उसका सबसे बड़ा लक्ष्य जनसाधारण का कल्याण था। साथ ही विभिन्न धर्मों व देशों के लोगों के बीच भ्रातृत्व की स्थापना करना एवं सार्वभौमिक धर्म का प्रचार करना उसका अहम उद्देश्य था। [64]

रामकृष्ण मिशन ने अपने उद्देश्यों को स्पष्ट करते हुए घोषित किया किः

"मनुष्यों के हित के निमित्त श्रीरामकृष्ण के जिन तत्त्वों का विवेचन किया है और उनके जीवन में किए गए कार्य द्वारा जिनकी पूर्ति हुई है, उन सबका प्रचार करना; तथा मनुष्यों की दैहिक, मानसिक और पारमार्थिक उन्नति के निमित्त वे सब तत्त्व जिस प्रकार से प्रयुक्त हो सकें, उसमें सहायता प्रदान करना इस संघ का उद्देश्य है।"[65]

जाहिर है, विवेकानन्द ने रामकृष्ण मिशन का नामकरण ही अपने गुरु के नाम पर नहीं किया, अपितु यह भी आवश्यक माना कि रामकृष्ण द्वारा प्रतिपादित सम्पूर्ण विचार पद्धति का मिशन द्वारा प्रचार–प्रसार हो। परन्तु इस तथ्य से भी इन्कार नहीं किया जा सकता कि वे अपने गुरु की विचार–पद्यति की एक सार्वभौमिक एवं व्यापक व्याख्या का प्रतिपादन कर रहे थे। वस्तुतः यह उनकी मौलिक सोच थी जिसका अमिट प्रभाव उनके संगठन की विचारधारा एवं लक्ष्यों पर पड़ा।

विवेकानन्द स्वयं मिशन के महासभापति बनें। स्वामी ब्रह्मानन्द उसके सभापति और स्वामी योगानन्द उपसभापति बने। बलराम बसु के मकान पर प्रत्येक रविवार को सभा का अधिवेशन होना निश्चित किया गया। संगठन की स्थापना के बाद विवेकानन्द ने अविलम्ब जनसेवा और वेदान्त शिक्षा के कार्य का श्रीगणेश किया।[66]

वस्तुतः विवेकानन्द किसी देवता की तरह रामकृष्ण को स्थापित नहीं करना चाहते थे क्योंकि स्वयं रामकृष्ण ने कहा था कि मैं संसार में एक नया सम्प्रदाय बनाने के लिए नहींजन्मा हूँ। संसार तो पहले से ही सम्प्रदायों से भरा हुआ है।

इसलिए विवेकानन्द कहते थे कि धर्म यदि सच्चा है, तो इसे प्रेरक और व्यावहारिक होना ही चाहिए। साथ ही उनकी दृष्टि में धर्म का सर्वोत्तम रूप था : जीवित मानव में, विशेषकर दरिद्र मानव में, शिव के दर्शन करना।[67] इसलिए उनका संदेश था कि प्रत्येक मनुष्य प्रतिदिन एक 'भूखे नारायण' को, एक 'पंगु नारायण' को या 'अंधे नारायण' को या अपने सामर्थ्य के अनुसार ऐसे छः या बारह लोगों को अपने घर ले जाकर खाना खिलाए और उनकी वैसी ही आराधना करें जैसे वह किसी मन्दिर में ईश्वर की करता है।[68]

स्पष्ट है कि विवेकानन्द ने अपने संगठन की कार्य पद्धति में भावुकता पर आधारित देव भक्ति को स्थान नहीं दिया। उनका विचार था कि बंगाल में अंधश्रद्धा के कारण ही पौरुष का पतन हुआ था। इसी कारण उनके एक संन्यासी बन्धु ने उनकी आलोचना करते हुए कह दिया था कि उन्होंने जो मार्ग अपनाया है, वह रामकृष्ण के आदर्शों से भिन्न है। इस अलोचक का विवेकानन्द ने जो उत्तर दिया था, उससे उनके धर्मदर्शन की गहराई का पता चलता हैः

"तुम जानते ही क्या हो? तुम्हारा अध्ययन तो प्रहलाद की तरह समाप्त हो गया जिसे 'क' अक्षर पढ़ते ही कृष्ण का स्मरण हुआ और उनकी आँखों में आँसू आ गये, वह आगे न पढ़ सका। तुम भी भावुक हो। तुम धर्म को क्या समझोगे? तुम तो बस हाथ जोड़कर स्तुति करना ही जानते हो। तुम समझते हो कि तुम्हारा मोक्ष निश्चित है और अंत समय पर श्री रामकृष्ण तुम्हारे हाथ पकड़कर तुम्हें स्वर्ग में ले जायेंगें। विद्याध्ययन, सार्वजनिक शिक्षा और मानव सेवा तुम्हारे अनुसार माया है, क्योंकि श्री रामकृष्ण ने किसी से कहा था कि पहले ईश्वर को खोजो और उसे प्राप्त करो।

संसार में परोपकार करना अहंकार हो गया, जैसा कि ईश्वर को पाना इतना आसान है! क्या वह इतना मूर्ख है कि वह अल्पमति लोगों के हाथ का इतना ही नहीं, इससे भी आगे बढ़कर विवेकानन्द ने अपने ऐसे तमाम आलोचकों का मुंह बन्द करने के लिए एक ऐसी बात कह डाली, जिसे कहने का साहस कोई क्रान्तिकारी सुधारक ही कह सकता है:

...कौन तुम्हारे श्रीरामकृष्ण को चाहता है? किसे तुम्हारी भक्ति और मुक्ति की परवाह है? किसे परवाह है यह जानने की कि तुम्हारे शास्त्र क्या कहते हैं? अंधकार में डूबे हुए अपने देशवासियों को यदि मैं जाग्रत कर सकूँ, उनमें खुद के पैरों पर खड़े होने की, कर्मयोग की भावना भर सकूँ, तो मुझे सब प्रकार की नारकीय यातना भी सहर्ष स्वीकार होगी। मैं न तो श्रीरामकृष्ण का सेवक हूँ, न ही किसी और का। मैं तो उसी का हूँ जो दूसरों की सेवा व सहायता करते हैं और अपनी भक्ति व मुक्ति की परवाह नहीं करते।"[70]

रामकृष्ण मिशन की स्थापना के बाद 1897 ई॰ के वर्षान्त तक विवेकानन्द ने उत्तर भारत की यात्रा की। वे अपने समाज सेवी संगठन के प्रचार–प्रसार में कोई कसर नहीं छोड़ना चाहते थे ं। हालांकि उन दिनों उनका स्वास्थ्य क्रमशः गिरता जा रहा था। उन्हें इस बात का अहसास भी हो चुका था कि उनके पास सम्भवतः अधिक वक्त नहीं बचा है। [71] इसलिए वे अपने संगठन को मजबूती प्रदान करना चाहते थे। 9 जुलाई 1897 को उन्होंने अपनी मनस्थिति इन शब्दों में जाहिर की:

"आन्दोलन शुरू हो गया है। यह कभी थमेगा नहीं। मेरे मन में अरसे से केवल एक विचार प्रज्वलित था कि भारतीय जनसमुदाय के उत्थान के लिए एक संगठन को शुरू कर सकूँ, जिसमें मुझे

अब कुछ सफलता भी मिली है। मैं देख रहा हूँ कि किस प्रकार मेरे शिष्य अकाल, रोग एवं कष्टों के बीच काम कर रहे हैं, हैजाग्रस्त अछूतों की सेवा कर रहे हैं और भूखे चांडालों को भोजन करा रहे हैं। ईश्वर उनकी और मेरी सहायता कर रहा है।.... मेरे जीवन के अधिक से अधिक तीन या चार वर्ष शेष बचे हैं। मेरी निर्वाण की इच्छा चुक गई है। मैं चाहता हूँ, मेरा संगठन मजबूती से चले। मैंने मानव कल्याण के लिए एक उत्तोलक शक्ति भारत में लगाई है। मेरी कामना है कि मैं बारम्बार जन्म लूँ, सहस्त्रों कष्टों को सहूँ जिससे मैं उस ईश्वर की आराधना कर सकूँ जो अनन्य है और समस्त आत्माओं का सम्पूर्ण योग है।"[72]

डॉक्टरों की सलाह पर कुछ समय अल्मोड़ा में उपचार कराने के बाद, अपने रोग से थोड़ी सी राहत पाते ही, विवेकानन्द पंजाब आये। सियालकोट और लाहौर में संगठनकार्य को गति देकर वे देहरादून होते हुए राजपूताना पहुँचें। इस यात्रा के दौरान उन्होंने अनेक सभाओं में भाषण दिये और इस प्रकार लाखों लोगों से संवाद स्थापित किया। उनके भाषणों ने जनमानस को समाज सेवा हेतु प्रेरित किया। उनके आह्वान पर बहुत से गणमान्य लोगों ने व्रत लिया कि वे जन—जागरण, नारी शिक्षा, मानव सेवा और राष्ट्रीय पुनर्निर्माण के उनके मिशन में योगदान देंगें।[73] कश्मीर पहुंचने पर उन्होंने महाराजा से राज्य में एक विशाल अद्वैत मठ स्थापित करने की संभावना पर चर्चा की। लाहौर में विवेकानन्द की भेंट एफ़ सी॰ कॉलेज के गणित के प्राध्यापक तीर्थराम गोस्वामी से हुई। उनसे संन्यास की दीक्षा लेकर वे स्वामी रामतीर्थ के नाम से विख्यात हुए। लाहौर के कॉलेजों में विवेकानन्द ने विद्यार्थियों को उपदेश दिया कि ईश्वर में श्रद्धा के लिए पहले मनुष्य से प्रेम करना सीखना चाहिए।

यहाँ उन्होंने राहत कार्य, स्वच्छता और शिक्षा के प्रसार के लिए एक 'असाम्प्रदायिक संगठन' स्थापित करने की बात कही। साथ ही विभिन्न जातियों और उपजातियों के बीच अन्तर्जातीय विवाह को बढ़ावा देने और अछूतों की स्थिति सुधारने का उपदेश दिया।

उनकी दृष्टि में, "मुझे न छुओ—वाद" अत्यन्त संकीर्ण मनोवृत्ति थी । अतः जहाँ कहीं उसे देखा, उसके विरुद्ध आवाज उठाई।[74]

उन्होंने राष्ट्र के पुननिर्माण के लिए भारतीय ज्ञान और पाश्चात्य विज्ञान के समन्वय तथा भारतीय विश्वविद्यालयों के पुनरुद्धार पर बल दिया जिससे कि वे सिर्फ डिग्री धारक व्यक्ति पैदा न कर सच्चे मनुष्य पैदा कर सकें।[75]

कुछ दिन देहरादून में स्वास्थ्य लाभ करने के बाद विवेकानन्द दिल्ली, अलवर व जयपुर होते हुए खेतड़ी गये। उल्लेखनीय है कि उनकी अमेरिका यात्रा का प्रबन्ध खेतड़ी नरेश ने ही किया था। खेतड़ी नरेश ने बेलूर मठ की स्थापना के लिए उन्हें पर्याप्त धनराशि दी। स्वामीजी ने यहाँ एक सभा में अस्पृश्यता को "मानव जाति के मस्तक पर लगा कलंक" बताया और "सभी लोगों में ब्रह्म का निवास" मानकर उनसे सद्व्यवहार करने की शिक्षा दी। [76] इस प्रकार लगभग पाँच महीनों तक उन्होंने उत्तर भारत की यात्रा की और अपना संदेश लाखों लोगों को दिया। खराब स्वास्थ्य के साथ वे कलकत्ता लौटे।[77]

अब विवेकानन्द भागीरथी नदी के तट पर जल्दी से जल्दी एक स्थायी मठ का निर्माण करना चाहते थे। यहाँ पर बैलूर गाँव में स्वामीजी की शिष्या मिस हेनरी एटा मूलर द्वारा दान में दी गई धनराशि से भूमि खरीदी गई। उनकी दूसरी अमेरिकी शिष्या मिसेज ओलीबुल ने मठ के निर्माण का सारा भार उठाया और मठ के संचालन के लिए मठ के संचालकों के हाथ में एक लाख से अधिक रूपये भी दिये। कुछ समयोपरांत मिस मार्गरेट नो बिल (भगिनी निवेदिता) भी कलकत्ता पहुँच गई। फरवरी 1898 ई० में मिस मैक्लिआड भी अमेरिका से सहायतार्थ भारत आ गई। 3 फरवरी 1898 ई० को बेलूर गाँव में लगभग इक्कीस बीघा जमीन पर मन्दिर तथा मठ भवन के निर्माण का शुभारम्भ हुआ। लगभग एक वर्ष में मठ का निर्माण हो गया।[78]

शीघ्र ही बेलूर मठ अब रामकृष्ण मिशन की गतिविधियों का केन्द्र बन गया। स्वामीजी ने स्वरूपानन्द स्वामी को यहीं दीक्षा दी थी। स्वरूपानन्द बड़े प्रतिभाशाली लेखक भी थे। बाद में *'प्रबुद्ध भारत'* नामक पत्रिका के संपादन का दायित्व उन्हें दिया गया। वे अद्वैत आश्रम के अध्यक्ष भी बनें।"[79]

दुर्भाग्यवश विवेकानन्द का स्वास्थ्य अब गिरता ही जा रहा था। डॉक्टरों की सलाह पर 30 मार्च 1898 को वे पुनः दार्जिलिंग गये। परन्तु कुछ दिनों बाद उन्हें कलकत्ता में प्लेग फैलने का समाचार

मिला। फलतः कलकत्ता लौटकर वे प्लेग निवारण के कार्य में जुट गये। उन्होंने हिन्दी व बांग्ला भाषाओं में प्रचार पत्र तैयार करायें और भगिनी निवेदिता तथा अन्य संन्यासियों को साथ लेकर सेवा कार्य प्रारम्भ कर दिया। 80 उन्होंने देखा कि प्लेग से अनेक लोगों की मृत्यु हो रही थी। परन्तु उससे भी भयावह बात यह थी कि लोगों के मन में प्लेग का डर व्याप्त हो गया था। इस कारण बड़ी संख्या में लोग दहशत के मारे शहर छोड़कर भाग रहे थे। अतः लोगों में साहस का संचार करने के लिए विवेकानन्द ने जनता के बीच प्रचार–पत्र वितरित किये। उन्होंने बतलाया कि रामकृष्ण मिशन उनकी सहायता के लिए उनके साथ हैं जो उनकी सेवा के लिए खुले मन से धन व शक्ति लगाएगा। उन्होंने जगह–जगह प्लेग पीड़ितों के लिए सेवा केन्द्र स्थापित किये।[81]

प्लेग पीड़ितों की सेवा का कार्य बड़ा चुनीतिपूर्ण था और इसके लिए भारी धनराशी की जरूरत थी। परन्तु विवेकानन्द पीड़ितों की सेवा के लिए कोई भी कीमत चुकाने को तैयार थे। इसलिए जब एक गुरुभाई ने उनसे पूछा कि सेवा कार्य के लिए इतना धन कहाँ से आयेगा, तो उन्होंने जो उत्तर दिया, वह उनकी करुणा की व्यापकता को दर्शाता है :

"जरूरत पड़ने पर मठ की नयी जमीन बेच डालूँगा। हजारों स्त्री–पुरुष हमारी आँखों के सामने असहाय दुःख सहन करेंगें और हम मठ में रहेंगें? हम तो संन्यासी हैं। आवश्यकता पड़ेगी तो पहले की भांति फिर वृक्षों के नीचे रहेंगें और भिक्षा द्वारा प्राप्त अन्न–वस्त्र से निर्वाह कर लेंगें।"

सौभाग्यवश रामकृष्ण मिशन के उस जनहितकारी कार्य के लिए अन्य माध्यम से पर्याप्त धनराशि उपलब्ध हो गई जिस कारण उन्हें मठ की जमीन नहीं बेचनी पड़ी।[82]

22 मई 1898 को विवेकानन्द ने हिमालय में एक और आश्रम स्थापित करने की इच्छा से अल्मोड़ा यात्रा की। उनके साथ में पाश्चात्य जगत से उनके आए शिष्य एवं शिष्याएं भी थीं। सेवियर दम्पत्ति को प्रोत्साहित कर उन्हें यहां 'मायावती आश्रम' के निर्माण में लगा दिया। इसके अलावा नारी शिक्षा का श्रीगणेश करने के उद्देश्य से 12 नवम्बर 1898 को स्वामीजी ने कलकत्ता में एक बालिका विद्यालय प्रारम्भ कर उसकी बागडोर निवेदिता के हाथों में सौंप दी।[83] वे मानते थे कि नारी–शिक्षा और नारी उत्थान के बिना भारत की भलाई होने की कोई संभावना नहीं है। इसलिए वे कहते थे :

"पक्षी का एक पंख के सहारे उड़ना असंभव है । नारी की उन्नति होने पर ही भारत का सही जागरण होगा। नारी जाति का आदर्श सीता, सावित्री और दमयंती है। स्त्रियों में जागृति लानी होगी, तभी उनका जीवन आलोकित होगा तथा भारत का भविष्य उज्ज्वल होगा।"[84]

विवेकानन्द ने पाया कि भारत की स्त्रियों ने अब तक केवल असहाय अवस्था में आश्रित जीवन यापन करना और थोड़ी सी भी अनिष्ट या संकट की आशंका उत्पन्न होने पर केवल आँसू बहाना ही सीखा है। परन्तु अब उन्हें बहादुर बनना चाहिए। [85] आज के युग की आवश्यकता को देखते हुए यह आवश्यक प्रतीत होता है कि कुछ महिलायें संन्यासी जीवन के आदर्श का पालन करने के लिए आजन्म कौमार्य व्रत धारण करें। इसके साथ ही उन महिलाओं को विज्ञान एवं अन्य विषयों की सम्पूर्ण शिक्षा दी जाए। सर्वसाधारण के लिए राष्ट्रीय आदर्श उपस्थित करने के उनके प्रयत्नों से लोगों के विचारों में एक क्रांतिकारी परिवर्तन होगा।[86]

विवेकानन्द के एक शिष्य ने जब उनसे प्रश्न किया कि आप स्त्रियों के लिए किस प्रकार का मठ बनाना चाहते हैं तो उन्होंने कहा कि इसके लिए गंगा नदी के उस पार एक बड़ा भू–भाग लिया जायेगा। उसमें अविवाहित बालिकायें एवं विधवा ब्रह्मचारिणियां रहेंगी। साथ ही उनमें गृहस्थ स्त्रियाँ भी बीच–बीच में आकर ठहर सकेंगी। स्त्री–मठ में लड़कियों का एक विद्यालय भी होगा जिसमें धर्मशास्त्र, साहित्य, संस्कृत, व्याकरण तथा अंग्रेजी सीखायी जायेगी। साथ ही ध्यान तथा साधना आदि भी शिक्षा के अंग रहेंगें। जो स्त्रियां घर छोड़कर वहाँ रह सकेंगी, उनके भोजन–वस्त्र आदि का प्रबन्ध मठ की ओर से किया जायेगा। मठ की शिक्षिकायें तथा प्रचारिकायें गाँव–गाँव और नगर–नगर में शिक्षा के केन्द्र खोलकर स्त्रियों में शिक्षा के विस्तार का प्रयत्न करेगी। [87] स्त्री शिक्षा के विषय में अपने आदर्श को स्पष्ट करते हुए उन्होंने कहाः

"सर्वसाधारण में और स्त्रियों में शिक्षा का प्रसार हुए बिना राष्ट्र की उन्नति का कोई उपाय नहीं है। इसलिए कुछ ब्रह्मचारी संन्यासी प्रान्तों व गांवों में जाकर जनसमुदाय में शिक्षा का प्रचार करेंगें और ब्रह्मचारिणियां स्त्रियों में विद्या का प्रसार करेंगी। पुरुषों के साथ–साथ स्त्रियों के शिक्षा केन्द्र बनाने होंगें। शिक्षित और सद्चरित्र ब्रह्मचारिणियां इन केन्द्रों में कुमारियों को शिक्षा दिया करेंगी। इतिहास,

गृहकार्य, शिल्प के साथ–साथ गृहस्थी के सारे नियम आदि वर्तमान विज्ञान की सहायता से सिखाने होंगे तथा आदर्श चरित्र निर्माण के लिए उपयुक्त आचरण की भी शिक्षा देनी होगी।"88

विवेकानन्द स्त्रियों की उच्च शिक्षा के भी समर्थक थे। उनका मानना था कि भारत में प्राचीनकाल में भी स्त्रियों की उच्च शिक्षा का प्रबन्ध था। वे महिलाओं के लिए बनाये जाने वाले पाठ्यक्रम में विज्ञान के अलावा जीवनोपयोगी तथा समाजोपयोगी विषय सम्मिलित किये जाने के पक्ष में थे।89

बेलूर मठ का निर्माण कार्य पूरा होते ही 9 दिसम्बर 1898 को विवेकानन्द ने स्वयं वहाँ अपने गुरु श्रीरामकृष्ण परमहंस की मूर्ती की प्रतिष्ठा की। उन्होंने प्रार्थना की कि "श्रीरामकृष्ण बहुजन हिताय, बहुजन सुखाय इस पुण्य क्षेत्र में दीर्घकाल तक विराजित रहते हुए इस स्थान को सभी धर्मों का अपूर्व समन्वय केन्द्र बनाये रखें।" 90

विवेकानन्द की इच्छानुसार मिशन की ओर से बांग्ला भाषा में एक समाचार पत्र निकालने का प्रस्ताव रखा गया। 14 जनवरी 1899 ई० को स्वामी त्रिगुणातीतानन्द के संपादन में '*उद्बोधन*' का प्रथम अंक प्रकाशित हुआ।91

विवेकानन्द ने जनसाधारण के सामने रामकृष्ण मिशन के आदर्श का प्रतिपादन करने का प्रयत्न किया। उन्होंने अपने शिष्यों से कहा:

"धर्म प्रचार के काम को बात–बात में किसी पर भी नाक–भौं सिकोड़ने का काम न समझ लेना। शरीर, मन और आत्मा से सम्बद्ध सभी बातों में मनुष्य को विधायक भाव लाना होगा, घृणा भाव नहीं। आपस में एक–दूसरे से घृणा करते–करते ही लोगों का अधःपतन हो गया है। अब केवल सबल होने तथा जीवन को संगठित करने का भाव फैला कर देश के लोगों को उठाना होगा। उसके बाद दुनिया को उठाना होगा।... मैं एक ऐसे धर्म का प्रचार करना चाहता हूँ जिससे मनुष्य तैयार हों।"92

रामकृष्ण मिशन के संन्यासियों अथवा मिशनारियों में कैसे गुण होने चाहिए, इस विषय में अपने विचार प्रकट करते हुए विवेकानन्द ने कहा:

"संन्यासी का प्रथम कर्त्तव्य है त्याग। बिना त्याग के कोई धर्म टिक नहीं सकता। संन्यासी वह मनुष्य है जिसने त्याग किया है और वेदों के अनुसार वह वेदों से भी महान है, क्योंकि वह मत–मतांतरों, देवालयों और पैगम्बरों के बन्धनों से मुक्त है। वह ईश्वर में और ईश्वर उसमें निवास करता है।"[93]

उन्होंने अपने अनुयायियों को आत्मविश्वास की सीख देते ऐतिहासिक अनुभव के आधार पर बताया कि:

"संसार का इतिहास उन थोड़े से लोगों का इतिहास है जिन्हें अपने पर विश्वास था। यह विश्वास भीतरी दिव्यता को जागृत करता है। तुम जो चाहो कर सकते हो। विफल तभी होंगे लक्ष्य प्राप्ति के लिए यथेष्ट प्रयास न करोगे। जब भी कोई मनुष्य या राष्ट्र अपने में विश्वास खो बैठता है, वह मृत्यु को प्राप्त होता है। अतः पहले अपने पर विश्वास रखों, फिर ईश्वर में। मुट्ठी भर आत्मविश्वासी लोग संसार को हिला देंगे।"[94]

जन–साधारण खासकर गरीबों की उन्नति पर ही किसी राष्ट्र का भाग्य निर्भर करता है। इसलिए स्वामीजी ने कहा, "याद रखो, देश के आम लोग ही राष्ट्र के मेरुदण्ड हैं।.... भारतीय राष्ट्र निर्धनों की कुटिया में बसता है। पर हाय! उनके लिए कभी भी किसी ने कुछ भी नहीं किया।"[95] इसलिए उन्होंने रामकृष्ण मिशन के माध्यम से अपने अनुयायियों को अनाथालय, चिकित्सालय और जन शिक्षा केन्द्र खोलकर 'दरिद्रनारायण' की सेवा करने की प्रेरणा दी। वे कहते थे:

"जो धर्म गरीबों का दुःख दूर नहीं करता, वह क्या धर्म कहलाने के योग्य है? गुरु रामकृष्ण का कहना था कि खाली पेट धर्म–कर्म नहीं होता। अतः अन्न की व्यवस्था करने के लिए ही मैं रजोगुणी होने का उपदेश देता हूँ। वर्तमान युग की आवश्यकता के अनुसार दरिद्रनारायण की सेवा – नर नारायण की पूजा ही सच्ची ईश पूजा होगी।"[96]

विवेकानन्द के प्रयत्नों से और बाद में उनके अनुयायियों के प्रयत्नों से रामकृष्ण मिशन की भारत तथा विभिन्न देशों में कुल मिलाकर 118 शाखाऐं कायम हुई। देश के विभिन्न भागों में स्थापित इसकी शाखाएं सांस्कृतिक और राष्ट्रीय पुनर्जागरण के कार्य में संलग्न हो गई। रामकृष्ण मिशन और मठ बहुत से औषधालय, विद्यालय, पुस्तकालय, अनाथालय एवं प्रकाशन केन्द्र चलाते हुए मानव सेवा में संलग्न रहा।[97]

संक्षेप में हम कह सकते हैं कि अपने समाज सेवी संगठन रामकृष्ण मिशन की स्थापना कर स्वामी विवेकानन्द ने समाज सेवा के जरिए राष्ट्र सेवा का मिशनरी कार्य शुरू किया। राष्ट्रीय पुनर्निर्माण हेतु यह उनका दूसरा महान् योगदान था। अपने छोटे से जीवन काल में विवेकानन्द ने भारत को जागृत करने और उसे सशक्त बनाने का न केवल सूत्र खोज निकाला था, अपितु इस दिशा में महत्त्वपूर्ण कदम भी बढ़ा दिए थे। उन्होंने समझ लिया था कि महान भारतीय संस्कृति का गौरव पुनः जगाने का मार्ग–धर्म एवं अध्यात्म सम्बन्धी बड़ी–बड़ी बातें में नहीं, अपितु जन कल्याण एवं 'दरिद्र नारायण' की सेवा में नीहित है। इसी से 'राष्ट्रीय नवनिर्माण' की ओर आगे बढ़ा जा सकेगा।

अध्याय 4

आधुनिक भारत के आध्यात्मिक व सांस्कृतिक पुर्नजागरण, राष्ट्रीय चेतना एवं राष्ट्रवाद पर स्वामी विवेकानन्द के प्रभाव का ऐतिहासिक विश्लेषण

4.1 प्रस्तावनाः *(Introduction)*

राष्ट्र की अवधारणा में एक विशिष्ट अर्थबोध को समाहित करने वाला तत्त्व राष्ट्रवाद है। राष्ट्रवाद एक प्रतिरोधी वैचारिक क्रान्ति है। भारत के संदर्भ में स्वतन्त्रता प्राप्ति के लिए जिन आन्दोलनों का सहारा लिया गया था, उनका ऐतिहासिक महत्व यह है कि उन्होंने सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक व्यवस्थाओं में जो परिवर्तन किया है, उसको आन्तरिक सूत्रबद्धता का रहस्य राष्ट्रवादी भावना का विकास रहा है।

स्वामी विवेकानन्द भारतीय राष्ट्रवाद के अनन्य पुजारी थे उन्होंने भारतीयों के हृदय में स्वधर्म और स्वदेश के प्रति स्वाभिमान उत्पन्न करने और देश में नवजागरण का मन्त्र फूंकने का महान कार्य किया। विवेकानन्द ने ऐसे समय में भारतीय राष्ट्रवाद और नवजागरण का सन्देश दिया, जब भारत पर ब्रिटिश साम्राज्य का शिंकजा कसता जा रहा था। विवेकानन्द ने देशवासियों में अपनी संस्कृति की महानता और देश के प्रति अनुराग जगाया। विवेकानन्द ने भारत में वेदों के महत्व को प्रतिपादित किया।

आध्यात्मिक व्यक्ति ही आध्यात्मिक राष्ट्र बना सकता है। इस प्रकार आध्यात्मिक राष्ट्र बनाना प्रत्येक राष्ट्र का लक्ष्य है। इसमें उसके सदस्यों का और उसका अपना कल्याण है तथा इसी में मानवता का भी कल्याण है। इस दृष्टिकोण को लेकर विवेकानन्द ने सब कहीं मानव समाजों के आध्यात्मिक रूपान्तर की आवश्यकता पर जोर दिया है और उसके लिए उपाय भी सुझाये हैं।

स्वामी विवेकानंद ने अध्यात्म, वैश्विक मूल्यों, धर्म, चरित्र निर्माण शिक्षा एवं समाज को बहुत विस्तृत एवं गहरे आयामों से विश्लेषित किया है। भारत के ही नहीं, बल्कि विश्व के युवाओं के लिए उनके विचार प्रासंगिक एवं अनुकरणीय हैं।

राष्ट्रीय एकता के बारे में स्वामी विवेकानंद ने कहा है कि भले ही भारत में भाषायी, जातिवाद ऐतिहासिक एवं क्षेत्रीय विवधताएं हैं लेकिन इन विविधताओं को भारत की सांस्कृतिक एकता एक सूत्र

में पिरोये हुए है। उन्होंने भारत के विभिन्न हिस्सों में जाकर अपने भाषणों में धार्मिक चेतना को जगाने एवं दलित, शोषित व महिलाओं को शिक्षित कर उन्हें राष्ट्र निर्माण में योगदान देने की बात कही है। स्वामी विवेकानंद एक सच्चे राष्ट्रभक्त थे और उन्हें अपनी राष्ट्रीयता पर गर्व भी था।

प्राचीन भारत के इतिहास से यह स्पष्ट परिलक्षित होता है कि भारत में धार्मिक आन्दोलनो ने सदैव राष्ट्रीय पुनर्जागरण का नेतृत्व किया है। स्वामी विवेकानंद हिन्दूत्व की चेतना को महान अद्वैत दर्शन के आधार पर संगठित करने का कार्य किया। महान अद्वैत दर्शन के प्रभाव के कारण उन्हें पूरे विश्व में ख्याति मिली। उन्होंने पूरे विश्व में गर्व से यह घोषणा की कि 'हम हिन्दू हैं'। इस प्रकार उन्होंने हिन्दुओं का आत्म–सम्मान बढ़ाया।

राष्ट्रीयता और राष्ट्रवाद की भावना राष्ट्र जीवन की सांस्कृतिक चेतना में निहित होती है। आध्यात्मिकता भारतीय जीवन दर्शन की प्राचीन परंपरा रही है। भारतीय जीवन में आध्यातमिकता को समाज जीवन की सभी शक्तियों का स्रोत समझा जाता है।

औपनिवेशिक भारत में स्वस्फूर्त रूप से ऊर्जस्वी (उद्‌भूत) राष्ट्रवाद की अवधारणा में स्वामी विवेकानन्द का अहम योगदान रहा था। स्वामी विवेकानन्द ने भारत की 'सांस्कृतिक विशिष्टता' की चेतना और राष्ट्रवाद की भावना को जाग्रत करने का महत्वपूर्ण कार्य किया।

अतः शोधार्थी द्वारा प्रस्तुत अध्याय में आधुनिक भारत के आध्यात्मिक व सांस्कृतिक पुर्नजागरण, राष्ट्रीय चेतना एवं राष्ट्रवाद पर स्वामी विवेकानन्द के प्रभाव का ऐतिहासिक विश्लेषण करने का प्रयास किया गया है जो निम्न प्रकार हैं–

आध्यात्मिक एवं सांस्कृतिक पुर्नजागरण में स्वामी जी की भूमिका

यद्यपि पाश्चात्य जगत् में राष्ट्रवाद का उदय एक धर्मनिरपेक्ष सिद्धान्त के रूप में हुआ था, लेकिन धार्मिक एवं आध्यात्मिक दृष्टि से समृद्ध रहे भारत जैसे देश में इसका विकास आध्यात्मिक रूप में ही हो सकता था। स्वामी विवेकानन्द, जिन्हें प्राचीन भारतीय इतिहास का व्यापक ज्ञान था, इस तथ्य को भली भांति जानते थे। इसलिए उन्होंने कहा कि "भारत यदि अपने धार्मिक व आध्यात्मिक खजाने को बचाए रखता हैं तो यही वह शक्ति जो इस देश की पहले की तरह आगे भी नष्ट नहीं होने देगी।"[1]

ऐसे में विवेकानन्द ने राष्ट्रवाद सम्बन्धी जो सिद्धान्त प्रतिपादित किया वह बुनीयादी रूप से आध्यात्मिक प्रकृति का था। अर्थात् उनके राष्ट्र–निर्माण कार्यक्रम का सबसे अहम अंग भारत का आध्यात्मिक एवं सांस्कृतिक पुनर्जागरण था। वे मानते थे कि हमें अपने राष्ट्र के निर्माण का आधार अध्यात्मकवाद को बनाना होगा, क्योंकि हमें किसी भी प्रकार के बाहरी व आन्तरिक आघात का सामना करने की शक्ति इसी से हासिल होगी। जब तक हमारे राष्ट्र की आत्मा आध्यात्मिक रहेगी, तब तक विश्व की कोई भी शक्ति इसे तोड़ नहीं सकेगी। अपनी बात को प्रमाणिक आधार देते हुए वे कहते थे कि अतीत काल में विदेशी आक्रमणों एवं ऐसी ही अनेक अन्य आपदाओं का सामना करते हुए जिस तरह भारतीय जिन्दा रहें, उसके पीछे यही शक्ति विद्यमान थी। उन्हीं के शब्दों में "बर्बर आक्रमणकारियों की एक के बाद लहरों ने हमारी इस पवित्र भूमि पर अनेक आघात किए। उस दौर में कोई हिन्दू नहीं जानता था कि कौन–सा क्षण उसका अन्तिम क्षण होगा। फिर भी हम व्यावहारिक रूप से अखण्ड राष्ट्र के रूप में जिंदा रहे हैं।"[2]

विवेकानन्द मानते थे कि भारत में राष्ट्रवाद आध्यात्मिकता को पोषित करते हुए ही विकसित हो सकता हैं। इस देश में कोई भी राष्ट्रीय नवनिर्माण नहीं हो सकता यदि हम सदियों पुरानी अपनी आध्यात्मिक परम्परा को छोड़ दें। इस सन्दर्भ में उन्होंने कहा किः

हर एक राष्ट्र को एक नियति को हासिल करना होता है। हर एक राष्ट्र को एक सन्देश प्रसारित करना होता है, हर एक राष्ट्र को एक मिशन पूरा करना होता है। ऐसे में, हमें भी एक जाति या राष्ट्र के रूप में अपने मिशन को समझना होगा और अपनी नियति को पाना होगा तथा दुनिया के अन्य राष्ट्रों के साथ कदम–ताल करते हुए दुनिया में अपना स्थान बनाना होगा ताकि हम विश्व की अन्य जातियों के मध्य सौहार्द कायम करने में अपना योगदान दे सकें।"[3]

इस तरह विवेकानन्द ने यह स्थापित किया कि यदि भारत आध्यात्मिकता पर आधारित राष्ट्रवाद का सिद्धान्त अपनाता है तो यह न केवल स्वयं भारत के लिए, अपितु पूरे विश्व के लिए शुभ होगा। उनको इस बात का प्रारम्भ से ही एहसास था कि भारतीय संस्कृति बुनियादी रूप से आध्यात्मिक रही है

और इसी के कारण यह एक महान संस्कृति बन पाई। उन के शब्दों में "भारत की संस्कृतियों मानव द्वारा निर्मित दुनिया की महानतम् मानवतावादी और सभ्य बनाने वाली संस्कृति में से एक रही है।"[4] वे मानते थे कि भारत ने एशिया के बहुत सारे पिछड़े देशों को सभ्य बनाने में महान् भूमिका अदा की है। अति प्राचीन काल से ही यह देश अपनी 'सभ्यता–प्रसार भूमिका' को भलीभांति निभाता आ रहा है और श्रीलंका, बर्मा, सियाम, हिन्द–चीन, मलाया, इण्डोनेशिया, अफगानिस्तान, बलुचिस्तान और यहां तक कि अनेक मध्य एशियाई देशों को अपनी सांस्कृतिक परम्पराओं और मूल्यों के जरिए प्रभावित करता रहा है। चीन, कोरिया एवं जापान जैसे देश भी आध्यात्मिक व सांस्कृतिक दृष्टि से भारत से बहुत कुछ हासिल करते रहे हैं।[5] इस प्रकार पूरी एशियाई सभ्यता को विकसित करने में भारत की बहुत महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है। भारतीय संस्कृति विदेश में जहां भी पहुंची, वहां इसने किसी को तबाह नहीं किया बल्कि लोगों को प्रबुद्ध ही बनाया। ऐसे में, हमें अपने राष्ट्र को दोबारा खड़ा करने के लिए अपनी आध्यात्मिकता के साथ–साथ अपनी महान् सांस्कृतिक विरासत को सहेजते हुए आगे बढ़ना होगा।

उपरोक्त ऐतिहासिक परिप्रेक्ष के मद्देनजर स्वामी विवेकानन्द ने अपने राष्ट्र–निर्माण सम्बन्धी कार्यक्रम में इस बात पर जोर दिया कि यदि भारत को उठाना एवं जागृत करना है तो इसकी महान प्राचीन संस्कृति के पुनर्उत्थान से ही ऐसा सम्भव हो सकेगा। इस देश की सांस्कृतिक विरासत के 'आश्चर्यजनक सौन्दर्य' का उल्लेख करते हुए उन्होंने कहा कि "जो देश शास्त्रों, कलाओं और विशाल साहित्य का पालना रहा है और जिस देश के पुत्रों की कर्त्तव्य–परायणता और पुत्रियों के चारित्रिक गुणों की प्रशंसा तमाम् विदेशी यात्रियों ने की, उस देश की सांस्कृतिक विरासत को सहेज कर ही अब एक नया राष्ट्र खड़ा किया जा सकता है।"[6] जाहिर है, विवेकानन्द का बुनियादी उद्देश्य प्राचीन भारतीय संस्कृति का पुनर्उत्थान करना और उस सांस्कृतिक विरासत के आधार पर नए राष्ट्र का सृजन करना था। उन्होंने अपने देशवासियों से बार–बार अपील की कि वे अपने सांस्कृतिक अतीत को न भुलाऐं। उनका अपनी सांस्कृतिक विरासत और इसके गुणों में दृढ़ यकीन था। वे मानते थे कि इन्हीं गुणों को अपनाकर ही भारत का राष्ट्र–निर्माण होगा।[7]

प्राचीन भारतीय संस्कृति का आधार रही वैदिक संस्कृति को स्वामी विवेकानन्द दुनिया की समृद्धतम संस्कृतियों में से एक मानते थे। उनके अनुसार वेद भारतीय संस्कृति के मूल स्त्रोत थे और वेदों में समहित ज्ञान भारत की तमाम् सामाजिक, राजनैतिक व आर्थिक समस्याओं का समाधान करने में सक्षम था। इसलिए यदि भारत में वैदिक संस्कृति का पुनर्जागरण किया गया तो भारत के राष्ट्रीय जीवन में आई अनेक खराबियों को ठीक किया जा सकता है। उनके इसी विचार को देखते हुए एम॰ एन॰ राय जैसे महान सम्यवादी नेता ने उनके बारे में यह टिप्पणी की कि भारतीय राष्ट्रीय संस्कृति की विरासत के पुनर्उत्थान हेतु राष्ट्रीय ऊर्जा को लगाना ही विवेकानन्द का महानतम कार्य था।"[8]

विवेकानन्द मानते थे कि इन्सान को जो भी ज्ञान दिया जाए, वह अवश्य ही संस्कृति पर आधारित हो। इसलिए राष्ट्रवाद सम्बन्धी ज्ञान का आधार भी भारत की महान् संस्कृति ही होनी चाहिए। अपनी बात को स्पष्ट करते हुए उन्होंने कहा कि :

भारत दुनिया की वह भूमि है, जहां दुनिया के किसी अन्य देश की अपेक्षा सर्वप्रथम पहले ज्ञान ने अपना स्थान बनाया। ...धर्म और दर्शन के महान् मूल्यों ने इसी देश में अपने चरम बिन्दू को हासिल किया। यहीं से आध्यात्मिकता की एक के बाद एक लहरें उठती रही व दुनिया में फैलती रही। यही वह भूमि थी जिसने हजारों विदेशी आक्रमणकारियों के आघातों को सहन करते हुए भी अपने शाश्वत् सांस्कृतिक स्वरूप को दृढ़ता से बनाये रखा। मैं भारत के अतीत की ओर देखने के लिए इसलिए कहता हूं क्योंकि इसका भविष्य इसी पृष्ठभूमि के आधार पर ही अपना सही आकार ले सकेगा।"[9]

विवेकानन्द ने अपने देशवासियों को इस बात के लिए आगाह किया कि नए राष्ट्र का निर्माण पाश्चात्य संस्कृति की नकल के आधार पर नहीं, अपितु अपनी गौरवपूर्ण सांस्कृतिक विरासत व परम्पराओं के आधार पर करना होगा। उनका मानना था कि पश्चिम का अनुसरण देश में सांस्कृतिक विकृतियों को ही जन्म देगा। अतः भारतीय परम्पराओं को ही राष्ट्रीय नवनिर्माण का आधार बनाना होगा। उन्होंने कहाः

"हमारे पूर्वज महान् थे। इसलिए हमें सर्वप्रथम यह याद रखना होगा कि हम अपने अस्तित्व के बुनियादी तत्त्वों को जानें। हमारी रगों में जो खून बहता है, उसे पहचाने। केवल अतीतकालीन गौरव की चेतना पर आस्था के आधार पर ही हम भारत का निर्माण उससे भी महान् राष्ट्र के रूप में कर सकते हैं, जितना वह कभी पहले था।"10

विवेकानन्द ने भारत के विभिन्न भागों की अपनी यात्राओं के दौरान हमेशा देशवासियों को अपनी गौरवमयी सांस्कृतिक परम्पराओं के बारे में बताया और पाश्चात्य संस्कृति से इसकी श्रेष्ठता को साबित करने का प्रयास किया। हालांकि वे पश्चिम के विरोधी नहीं थे और पाश्चात्य जगत् की श्रेष्ठ चीजों को भी ग्रहण करना चाहते थे ं। लेकिन उनका यह मानना था कि पश्चिम के अन्धानुकरण से हमारी राष्ट्रीय अखण्डता को खतरा उत्पन्न होगा। इसी कारण वे कहते थे कि भारतीयों को पश्चिमोन्मुखी होने की आवश्यकता नहीं है। यदि हम पश्चिम की नकल करने का ही प्रयास करते रहेंगें तो हम मारे जायेंगें। भारतीय जीवन पद्धति के महत्त्व पर जोर देते हुए उन्होंने कहा किः

"हमें अपनी प्रकृति के अनुसार ही विकसित होना एवं बढ़ना होगा । विदेशी समाजों ने जिस मार्ग पर चलकर अपना भाग्य निर्धारित किया है, उनकी नकल कर भारत का भाग्य बनाना असम्भव हैं। हमें दूसरे राष्ट्रों के मानदण्डों में ढ़लने की आवश्यकता नहीं है। मैं अन्य जातियों की परम्पराओं या संस्थाओं की निन्दा नहीं करता। वे उनके लिए सही होंगी, लेकिन हमारे लिए नहीं। ...हम अपनी परम्पराओं और हजारों वर्षों के अपने कर्मों को साथ रख कर ही अपनी नियति को प्राप्त कर सकेंगे।"11

हालांकि विवेकानन्द के राष्ट्रवाद का सिद्धान्त पुरातन भारतीय संस्कृति के पुनर्उत्थान पर आधारित था, लेकिन इसका अभिप्राय यह नहीं है कि वे बदलते समय की जरूरतों के हिसाब से नई चीजों के अपनाने के पक्ष में नहीं थे। इसलिए उन्होंने इस बात के महत्त्व को समझते हुए कहा कि "सांस्कृतिक पुनर्उत्थान पर जोर देने का मतलब यह नहीं है कि हम अपने आपको नई चीजों से अलग कर लें।"12

जाहिर हैं कि विवेकानन्द पाश्चात्य जगत् तथा दुनिया के अन्य देशों की श्रेष्ठ चीजों व मूल्यों को भी अपनाये जाने के पक्ष में भी थे फिर भी मोटे तौर पर उन्होंने अपने राष्ट्र–निर्माण कार्यक्रम का आधार

भारत की आध्यात्मिक एवं सांस्कृतिक विरासत को बनाया और इसी विरासत को सहेज कर आधुनिक राष्ट्र को खड़ा करने पर जोर दिया।

(2)सामाजिक एवं शैक्षणिक पुननिर्माण

स्वामी विवेकानन्द को भारतीय इतिहास के अपने अध्ययन एवं विश्लेषण के आधार पर इस बात का अहसास हो गया था कि गली–सड़ी धार्मिक और सामाजिक व्यवस्था के परिणामस्वरूप इस देश को कितनी शताब्दियाँ विदेशी आक्रान्ताओं के अधीन रहकर व्यतीत करनी पड़ी थी। इसलिए उन्होंने भारत के राष्ट्र निर्माण हेतु जर्जर हो चुके समाज को सुधारने की अवश्यकता पर भी काफी जोर दिया। उन्होंने स्पष्ट रूप से उस स्थापित समाज व्यवस्था को नकार दिया जो व्यक्ति को समानता का अधिकार नहीं देती थी। उनके लिए वह समाज त्याज्य था जो मानव को मानव नहीं समझता। अतः उन्होंने राष्ट्र–निर्माण हेतु ऐसी तमाम व्यवस्थाओं और परम्पराओं को तोड़ने पर बल दिया।[13] उन्होंने भारतीय समाज से धर्मान्धता, रूढ़िवाद और मिथ्या–विश्वासों को दूर करने की बात कही। उन्होंने लोगों को कूप–मण्डूक न बने रहकर "खुली आंखों से दुनिया को देखने" के लिए कहा और उन्हें "पीछे की ओर देखकर आगे बढ़ने के लिए" प्रेरित किया।[14] विवेकानन्द ने व्यंग्यात्मक शैली में हिन्दू धर्म एवं समाज में व्याप्त हो चुके विकारों का पर्दाफाश किया। वस्तुतः उन्होंने हिन्दू धर्म व समाज व्यवस्था की आलोचनात्मक मीमांसा की और अपने वैचारिक दृष्टीकोण में सामाजिक पुननिर्माण पर काफी बल दिया। हिन्दू धर्म के मूल्यगत विरोधाभासों पर टिप्पणी करते हुए उन्होंने अपनी रचनाओं में कई बार लिखा किः

"हिन्दू धर्म में मानव की महिमा का जैसा गुणगान है, वैसा संसार के किसी अन्य धर्म में नहीं मिलता। परन्तु साथ ही संसार का कोई भी धर्म निरीह सर्वहारा की गर्दन पर पाँव रखकर उसे ऐसे नहीं कुचलता, जैसे हिन्दू धर्म करता है।"[15]

विवेकानन्द ने कहा कि हिन्दू धर्म तो एक 'कच्ची रसोई' है जो किसी के हाथ लगाने से भी 'भ्रष्ट' हो जाती है। 'एज ऑफ कन्सेंट बिल' नामक सुधार विधेयक का हिन्दुओं द्वारा विरोध किए जाने पर उन्होंने पूछा था कि क्या हिन्दू समाज का हित मात्र दस वर्ष की बालिका को गर्भ धारण कराने में ही निहित है? उन्होंने पंडे–पुजारियों पर आरोप लगाया कि वे अपना प्रभुत्व बनाए रखने के लिए हिन्दू

समाज में तरह–तरह के मिथ्या विश्वासों का प्रचार करते हैं और अंधविश्वासों तथा रूढ़ियों पर बल देते हैं।[16] विवेकानन्द का कथन था कि अंधविश्वास मनुष्य का महाशत्रु है, पर धर्मान्धता तो उससे भी बढ़कर है। उन्होंने इस बात को कभी स्वीकार नहीं किया कि किसी मूर्ति की पूजा से प्रत्यक्ष रूप से मुक्ति प्राप्त हो सकती है। उन्होंने चेतावनी दी थी कि जिस धर्म की जड़ें प्रथाओं और रूढ़ियों में होती है, वह "दुकानदारी का धर्म" बन जाता है जिसमें ईश्वर साध्य नहीं, साधन बनकर रह जाता है। ब्राह्मणवादी धर्म की स्पष्ट आलोचना करते हुए उन्होंने कहा था कि "गुरु और शिष्य का सुन्दर सम्बन्ध भी ग्रहित हो चुका है । गुरुवाद हमारे देश में बड़ा चलता हुआ धन्धा बन गया है।"

भोजन के बारे में प्रचलित हिन्दू अंधविश्वासों की वे हंसी उड़ाते थे। उन्होंने प्रश्न किया कि "बन्दर को दूध–भात खिलाने से वह क्या योगी हो जाएगा? इसी तरह जहां तक नदियों में स्नान सम्बन्धी कर्मकाण्ड का प्रश्न है, यदि उसे मान लिया जाए तो सबसे पहले स्वर्ग में मछलियाँ पहुँचेगी, क्योंकि वे तो हर समय स्नान ही करती रहती हैं?[17] वस्तुतः विवेकानन्द भारत को पुनः गौरवशाली राष्ट्र बनाने के मार्ग में भारतीय समाज और धर्म में फैली कुरीतियों को सबसे बड़ी बाधा मानते थे। उनका मानना था कि रूढ़ीवाद, अंधविश्वास, दुर्बलता, आलस्य व कायरता आदि ने हमें हीन जाति बना दिया है। उनका विचार थाः

"कायर और क्लीव बन मात्र गीता का अध्ययन करते रहने की अपेक्षा युवकों को खेल के मैदानों की आवश्यकता है। शक्तिहीन व्यक्ति न तो अपना भाग्य संवार सकता है और न ही दूसरों के काम आ सकता है।"[18]

इसलिए उन्होंने हिन्दुओं को यह समझाने का प्रयास किया कि उन्हें तमाम मिथ्या अनुष्ठानों व धारणाओं को छोड़ देना चाहिए तथा मनुष्य–मनुष्य में किसी प्रकार का भेद नहीं करना चाहिए।[19] वे भारत को मानसिक जड़ता के श्राप से मुक्ति दिलाना चाहते थे। इसलिए वे व्यापक सामाजिक परिवर्तनों के इच्छुक थे। वे कहते थेः

"अपने हाथों अपना भविष्य गढ़ डालो! 'गतस्य शोचना नास्ति', अर्थात् सारा भविष्य तुम्हारे सामने पड़ा हुआ है। तुम सदैव यह बात स्मरण रखो कि तुम्हारा प्रत्येक विचार, प्रत्येक कार्य संचित रहेगा। और यह भी याद रखो कि जिस प्रकार तुम्हारे असत्–विचार और असत्–कार्य शेरों की तरह तुम पर टूट पड़ने की ताक में हैं, उसी प्रकार तुम्हारे सत्–विचार और सत्–कार्य भी हजारों देवताओं की शक्ति लेकर सर्वदा तुम्हारी रक्षा के लिए तैयार हैं।"[20]

अपने राष्ट्रनिर्माण सम्बन्धी दृष्टिकोण में स्वामी विवेकानन्द ने जातिभेद व ऊंच–नीच की समस्या को भारतीय समाज की सबसे गम्भीर समस्या माना और समय रहते उसका हल करने का आह्वान किया। वे निम्न जातियों, अछूतों और गरीबों की दुदर्शा को देखकर बड़े दुःखी होते थे। उन्होंने उनको ऊँचा उठाने के लिए अपने मिशनरियों तथा अन्य देशवासियों को प्रेरणा दी।

यह सत्य है कि विवेकानन्द 19वीं शताब्दी के ज्यादातर हिन्दू समाज सुधारकों की भांति ही वर्ण व्यवस्था का खण्डन नहीं करते थे और न ही उसे जाति–पांति और अस्पृश्यता जैसी बुराईयों से जोड़ कर देखते थे। वे वर्ण व्यवस्था को सामाजिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण मानते थे, यद्यपि उनके अनुसार उसमें बहुत से दोष भी आ गए थे।[21] विवेकानन्द का कहना थाः

"हमारा विश्वास है कि भारतीय वर्ण व्यवस्था भगवान द्वारा मनुष्य को दी गई सर्वोकृष्ट सामाजिक व्यवस्थाओं में से एक है। ब्राह्मणों के अतिशय अज्ञान और मिथ्यभिमान ने एक प्रकार से इस परम गौरवमयी भारतीय व्यवस्था को समुचित रूप से सफल होने में बाधा पहुँचायी थी। फिर भी इस व्यवस्था ने भारत का अद्भुत कल्याण किया और निश्चय ही भारतीय मानव जीवन के पथ प्रदर्शन का श्रेय इस व्यवस्था के अस्तीत्त्व में था।"[22]

लेकिन हमें यहां यह भी स्पष्ट हो जाना चाहिए कि विवेकानन्द जन्म आधारित वर्ण व्यवस्था के पक्ष में हरगिज नहीं थे। वे तत्कालीन भारतीय समाज में व्याप्त जाति–पांति एवं छुआछूत से रहित 'कर्म आधारित आदर्श चातुर्वर्ण्य व्यवस्था' पर टिके समाज की कल्पना करते थे।

यह भी सही है कि विवेकानन्द जाति व्यवस्था के विरुद्ध भी अधिक मुखर नहीं थे। वे मानते थे कि जाति में सबसे गरीब और सबसे धनी व्यक्ति बराबर माने जाते हैं। यह उसकी "सर्वोत्तम विशेषताओं

में से एक” है। ब्राह्मण का जन्म ईश्वोपासना के लिए हुआ है। उनके अनुसार जिस व्यक्ति का जितना उच्चतर वर्ण होगा, उसे उतने ही अधिक राष्ट्र के प्रति कर्तव्यों का निर्वाह करना पड़ेगा।[23] जाति व्यवस्था के विषय में उन्होंने यह भी स्पष्ट किया कि जातियों के मध्य ऊँच–नीच की व्यवस्था कोई नियमित व्यवस्था नहीं थी। वरन् ऐसा इसलिए हुआ था क्योंकि प्रत्येक जाति अपने को दूसरी जातियों से ऊँचा समझने लगी थी। उनके शब्दों में, “जाति प्रथा का धर्म से कोई सम्बन्ध नहीं था। किसी भी मनुष्य का व्यवसाय पैतृक होता है। एक बढ़ई बढ़ई के रूप में, एक सुनार सुनार के रूप में, एक श्रमिक श्रमिक के रूप में और एक पुरोहित पुरोहित के रूप में जन्म लेता है।”[24] जाहिर है, विवेकानन्द भी कई अन्य सुधारकों की तरह जाति व्यवस्था को ‘श्रम का विभाजन’ करने वाली एक सामाजिक संस्था मानते थे। जबकि डॉ॰ बी॰ आर॰ अम्बेडकर जैसे विचारकों ने इसे श्रम नहीं अपितु ‘श्रमिकों को विभाजन’ के रूप में देखा था।

अतः ऐसा प्रतीत होता है कि विवेकानन्द अपने समय के अन्य उच्च वर्गीय समाज सुधारकों की तरह वर्ण एवं जाति जैसी व्यवस्थाओं के प्रति कुछ नरक या लचीला रूख रखते थे। फिर भी ‘दरिद्र नारायण’ एवं ‘दबे–कुचले’ लोगों के प्रति उनके अपार स्नेह के चलते यह भी स्पष्ट हो जाता है कि वे निम्न जातियों के पक्ष में तथा जातिभेद के विरुद्ध थे।[25]

भारत में जाति–पांति की समस्या काफी प्राचीन थी। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र नामक चार वर्ण कालान्तर में दूषित होते गए और इस व्यवस्था में बहुत सी बुराईयां पैदा हो गई। उनमें से एक बुराई यह थी कि यह प्रथा गुण, कर्म और स्वभाव पर आधारित न होकर जन्म पर आधारित हो गई थी।[26] शूद्रों की सन्तान ‘शूद्र’ ही कहलाने लगी। यही नहीं, शूद्रों में भी कुछ वर्ग पददलित ‘अस्पृश्यों’ की श्रेणी में डाल दिए गए जिनके साथ तथाकथित ‘सवर्णों’ अथवा उच्च जातियों ने अमानवीय व्यवहार करना शुरू कर दिया। जातिभेद एवं छुआछूत की यह व्यवस्था स्वामी विवेकानन्द को कदापि स्वीकार्य नहीं थी। उन्होंने उसका खुलकर विरोध किया। उनका कहना था कि जन्म से कोई छोटा या बड़ा नहीं है। अपने मिशनरियों को सम्बोधित करते हुए उन्होंने इस बारे में कहाः

"आओ, हममें से प्रत्येक व्यक्ति दिन और रात उन करोड़ो पद्दलित भारतीयों के लिए प्रार्थना करें जो गरीबी, पुरोहितों के छल और नाना प्रकार के सामाजिक अत्याचारों में जकड़े हुए थे। उन्हीं के उत्थान के लिए दिन–रात प्रयास करें। मैं उच्च वर्गों और धनिकों की अपेक्षा उनको उपदेश देने की चिन्ता अधिक करता हूँ।"[27]

दबे–कुचले वर्गों एवं गरीबों की समस्या को राष्ट्र की सबसे गम्भीर समस्या मानते हुए विवेकानन्द ने एक अन्य स्थान पर कहा :

"मैं दार्शनिक नहीं हूँ। तत्ववेता नहीं हूँ। मैं तो दरिद्र हूँ और दरिद्रों से प्यार करता हूँ। दरिद्रता और अज्ञान के गर्त में सदा से डूबे हुए इन 20 करोड़ नर–नारियों के दुःखों को कौन अनुभव करता है? मैं उसी को 'महात्मा' कहूँगा जो उनके दुखों का अनुभव करता है तथा जिनके ह्रदय में उनके दुःखों के लिए दर्द होता है।.... उन्हें प्रकाश कौन देगा? कौन उनको उठाने के लिए आगे आएगा?"[28]

उल्लेखनीय है कि उस दौर में भारत के जाति आधारित समाज में औपनिवेशिक दखल के कारण कुछ नए तनाव उभर रहे थे। विशेषकर ब्राह्मणों व गैर–ब्राह्मणों तथा सवर्णों एवं दलितों के मध्य दक्षिण भारत के कुछ प्रान्तों में नए सामाजिक एवं राजनीतिक विवाद जन्म ले रहे थे। विवेकानन्द को इन विवादों के चलते राष्ट्र–निर्माण के मार्ग में उत्पन्न हो रही चुनोतियों का अहसास था। इसलिए उन्होंने भारतीय समाज में जाति–पांति पर आधारित विभिन्न जातियों में बढ़ते विवादों पर चिन्ता जाहिर करते हुए एक बार कहा थाः

"मुझे इस बात का खेद है कि वर्तमान समय में जातियों के बीच इतना विवाद है। यह अवश्य बंद होना चाहिए। यह विवाद ऊँची जातियों और नीची जातियों दोनों के लिए समान रूप से निरर्थक है। उन्हें आपसी विवादों का अंत करना चाहिए और यह कार्य जितना शीघ्र हो सके उतना ही अच्छा है। इस कार्य में जितनी देर होगी, उतनी ही राष्ट्र को हानि होगी। भारतवर्ष में विशेषकर ब्राह्मण का यह कर्त्तव्य है कि वह शेष मानव समाज की मुक्ति के लिए कर्मशील बने। जब तक वह ऐसा करता रहेगा, तभी तक वह ब्राह्मण कहलाने के योग्य है।"[29]

इसी बारे में उन्होंने आगे कहा कि, "ऐसे में हमारा पहला कर्त्तव्य यही है कि हम अपने पूर्वजों द्वारा बटोरे हुए धर्मरूपी अनमोल रत्न जिन तहखानों में भी छिपा कर रखे गए हैं, उन्हें तोड़कर बाहर निकालें और उन्हें सब को दें। ब्राह्मणेतर जातियों से मैं कहता हूँ कि ठहरो, जल्दी न करो – ब्राह्मणों के समान ही संस्कार प्राप्त करने के लिए अपनी सारी शक्ति लगा दो। तुम क्यों संस्कृत के पंडित नहीं होते? मेरा प्रश्न तो यहीं है। जिस समय तुम यह कार्य करोगे, उसी क्षण तुम ब्राह्मणों के समान हो जाओगे।"[30]

स्वामी विवेकानन्द ने अस्पृश्यता को "भारत का अभिशाप" बताते हुए इस घृणित कुप्रथा के लिए सवर्ण हिन्दुओं की तीखी आलोचना की थी। उन्होंने कहा था :

"हम हिन्दू नहीं है और वेदान्तिक भी नहीं। असल में हम हैं : 'छुआछूत–पंथी'। रसोई घर हमारा मन्दिर है। पकाने वाले बर्तन उपास्य देवता हैं और 'मत छुओ, मत छुओ' हमारा मन्त्र है! राष्ट्र के इस अन्ध–कुसंस्कार को यथा शीघ्र दूर करना होगा। और यह उपनिषदों के उदार मतों द्वारा हो सकता है।"[31]

देश के करोड़ों दबे–कुचले एवं गरीब लोगों में विवेकानन्द ने सही मायनों में "ईश्वर का साक्षात स्वरूप" देखा। उन्होंने लिखाः

"मैं एक ही ईश्वर को मानता हूँ, जो सभी आत्माओं की एक आत्मा है और सबसे ऊपर है। मेरा ईश्वर दुखी मानव है, मेरा ईश्वर पीड़ित मानव है, मेरा ईश्वर हर जाति का निर्धन मनुष्य हैं। वह दरिद्र नारायण है।"[32]

भारत के अभिजात्य एवं सम्पन्न तबकों का आह्वान करते हुए विवेकानन्द ने कहा कि हरेक कुलीन व्यक्ति का यह कर्त्तव्य है कि नए राष्ट्र के निर्माण हेतु अपने कुलीन तन्त्र की कब्र वह स्वयं ही खोदे। और ऐसा जितना शीघ्र कर सके, उतना ही राष्ट्र–हित के लिए अच्छा है क्योंकि इसमें जितना वह देर करेगा, उतनी ही हमारी व्यवस्था सड़ेगी। ब्राह्मण जाति का कर्त्तव्य है कि वह भारत की सब जातियों के उद्धार की चेष्ठा करें। युगों से ब्राह्मण ही संचित शिक्षा तथा संस्कार के संरक्षक व ब्रह्म–ज्ञान के ज्ञाता होते आए हैं। चूंकि उन्होंने साधारण जनता को वह 'सम्पत्ति' नहीं दी, इसीलिए विदेशियों के

आक्रमण हो सके। ब्राह्मणों ने शुरू से ही साधारण जनता के लिए ज्ञान के दरवाजे नहीं खोले इसी कारण हम अवनत हो गए।[33]

स्वामी विवेकानन्द भारत के राष्ट्र–निर्माण के कार्य हेतु शिक्षा की महत्त्व कर विशेष जोर देते थे। उनका मानना था कि सही शिक्षा से ही एक अच्छे राष्ट्र का निर्माण किया जा सकता है। शिक्षा के बारे में अपने विचार स्पष्ट करते हुए वे कहते थे, "शिक्षा वस्तुतः इन्सान में पहले से ही मौजूद सम्भावनओं का प्रकटीकरण है।"[34] वे यह भी मानते थे कि सही शिक्षा व्यक्ति को समाज की सभी प्रकार की बुराईयों से बचाती है। सभी प्रकार की कुरी तियां का उजागर भी शिक्षा के जरिए हो सकता है।

वस्तुतः शिक्षा के सम्बन्ध में विवेकानन्द की धारणाएं बड़ी वैज्ञानिक थीं। उन्होंने वेदान्त दर्शन में शिक्षा के महत्त्व को रेखांकित करते हुए कहाः

"शिक्षा द्वारा मनुष्य का निर्माण किया जाता है। समस्त अध्ययनों का अन्तिम लक्ष्य मनुष्य का निर्माण करना है ताकि मनुष्य की संकल्प शक्ति का प्रवाह संगठित होकर प्रभावोत्पादक बन सके।"[35]

उनके अनुसार वेदान्त दर्शन मानता है कि प्रत्येक बालक में "असीम ज्ञान और विकास की सम्भावना" होती है, परन्तु उसे आरम्भ में अपनी इन शक्तियों का पता नहीं होता। केवल शिक्षा द्वारा ही उसे इसका अहसास कराया जा सकता है तथा उसके उत्तरोत्तर विकास में सहायता की जा सकती है।[36]

विवेकानन्द का मत था कि ज्ञान मनुष्य में 'स्वभावसिद्ध' है। बाहर से कोई ज्ञान नहीं आता। सब कुछ भीतर ही है। उनके अनुसार आविष्कार का अर्थ है "मनुष्य का अपनी अनन्त ज्ञान–स्वरूपी आत्मा के ऊपर से आवरण को हटा लेना।"[37] उनके शब्दों मेंः

"सभी ज्ञान, चाहे लोकिक हो अथवा आध्यात्मिक, मनुष्य के मन में ही हैं। यह आवरण धीरे–धीरे हटता जाता है तो हम यह समझते हैं कि हम सीख रहे हैं। यह आवरण जिस पर से पूरा हट जाता है, वह 'सर्वदर्शी' हो जाता है। समस्त ज्ञान मनुष्य की आत्मा से ही आता है।"[38]

लेकिन विवेकानन्द ने लोगों का ध्यान खींचते हुए बताया कि जिस प्रकार की शिक्षा हम ग्रहण कर रहे है, वह अपने कुछ अच्छे गुणों के बावजूद बुनियादी रूप से दोषपूर्ण है। उनका आशय ब्रिटिश

युग में लागू की गई अंग्रेजी शिक्षा की तरफ था। उनके अनुसार यह शिक्षा प्रणाली अपनी प्रकृति में नकारात्मक थी, क्योंकि इसके अन्तर्गत यह सिखाया जाता था कि हमारे पूर्वज नकारा लोग थे, हमारा अतीत अन्धकार भरा था। विवेकानन्द ने कहा कि ऐसी शिक्षा एक प्रकार से अनउर्वरक थी। इसने अपनी शुरूआत से लेकर अब तक देश में किसी भी मौलिक मानव का निर्माण नहीं किया। इसलिए उन्होंने जोर देकर कहा कि इस शिक्षा प्रणाली के स्थान पर एक नई भारतीय शिक्षा प्रणाली का सूत्रपात करना होगा। उन्होनें इस संदर्भ में कहा कि शिक्षा केवल दिमाग में डाली जाने वाली सूचनाओं का भण्डार नहीं है। हमें जीवन–निर्माण, मानव–निर्माण व चरित्र–निर्माण जैसी मूल्यों पर बल देने वाली शिक्षा प्रणाली का निर्माण करने की आवश्यकता है।[39]

विवेकानन्द का मानना था कि जो शिक्षा हमें अपनी ही संस्कृति व मूल्यों पर चलने लायक न बना सके, उस शिक्षा का कोई लाभ नहीं है। इसलिए भारतीय संस्कृति पर आधारित राष्ट्रीय शिक्षा प्रणाली ही राष्ट्रीय जीवन की तमाम समस्याओं का उपचार तथा राष्ट्र–निर्माण का श्रेष्ठ माध्यम हो सकती है।[40] विवेकानन्द इस बात पर भी जोर देते थे कि ऐसी शिक्षा किसी काम की नहीं है जो आम आदमी की सहायता न कर सकें। इसलिए वह अपने मिशनरियों को हमेशा कहते थे कि हमारा परम कर्तव्य समाज के निम्न वर्ग के लोगों को शिक्षित करना है ताकि हम उनमें 'उच्च स्तरीय चेतना' का विकास कर सके। इस सन्दर्भ में उनका कहना था :

"हमारे निम्न वर्ग के लिए जो एकमात्र सेवा कार्य हम कर सकते हैं, वह यह है कि हम उनको उनके खोये व्यक्तित्व को पाने के लिए शिक्षा दें......उन्हें विचार दें। यही एकमात्र सहायता है जिसकी उन्हें आवश्यकता है तथा उसके बाद बाकि सब कुछ इसके प्रभावस्वरूप स्वयं उत्पन्न हो जायेगा।....... यदि पहाड़ मोहम्मद के पास नहीं आता तो मोहम्मद को पहाड़ पास जाना होगा। यदि गरीब शिक्षा तक पहुंच नहीं पाता, तो शिक्षा को उसके पास ले जाना होता।"[41]

स्वामी विवेकानन्द यह भी कहते थे कि भारत के आम लोगों की शैक्षणिक आवश्यकताएं भिन्न हैं। बेशक उनको संस्कृति आधारित शिक्षा देनी चाहिए, परन्तु उनको लोक भाषाएं भी पढ़ानी चाहिए। उन्हें राष्ट्रीय और चारित्रिक मूल्यों की शिक्षा दी जानी चाहिए और सबसे महत्त्वपूर्ण उन्हें संस्कृति दी

जानी चाहिए। लोगों को संस्कृति इसलिए सिखानी चाहिए, क्योंकि यह लोगों में राष्ट्रीय एकता और अखण्डता का प्रचार करती है।[42]

विवेकानन्द ने अपने राष्ट्र–निर्माण सम्बन्धी दृष्टिकोण में दलितों व गरीबों के उद्धार हेतु शिक्षा पर सर्वाधिक बल दिया। उनका विश्वास था कि कोई राष्ट्र उसी अनुपात में उन्नति करता है, जिस अनुपात में वहाँ के जनसमूह में शिक्षा तथा विद्या का प्रचार होता है। यदि हम फिर से उन्नति करना चाहते हैं तो हम जन–साधारण में शिक्षा का प्रसार करके ही ऐसा कर सकते हैं। विशेषकर निम्न वर्ग के लोगों के खोए हुए व्यक्तित्व का विकास करने हेतु उन्हें शिक्षा देना अति आवश्यक है।[43]

उन्होंने कहा कि शिक्षा हासिल करना सबका समान अधिकार है। शूद्र, दलित, स्त्री आदि सभी निर्बल वर्गों को शिक्षा समान रूप से मिलना चाहिए।[44] यदि कोई व्यक्ति धन के अभाव के कारण विद्यालय में नहीं आ पाता तो समाज सेवियों को चाहिए कि वे इस प्रकार की व्यवस्था करें कि जिससे कमजोर वर्ग के व्यक्ति अपनी आवश्यकता के अनुसार आसानी से शिक्षा प्राप्त कर सकें।[45] इस सम्बन्ध में उन्होंने भारत के आम एवं गरीब लोगों के विवेक पर भरोसा करते हुए कहा थाः

"संसार में उनके चारों ओर क्या चल रहा है, इसकी उन्हें जानकारी है। वे अपनी मुक्ति का कार्य स्वयं कर लेंगें। राष्ट्र के प्रत्येक स्त्री और पुरुष को अपनी मुक्ति का कार्य स्वयं करना होगा। उनके सामने विचारों को रखो। बस उन्हें इतनी सहायता चाहिए और शेष सब उसके फलस्वरूप स्वयं हो जाएगा।"[46]

जाहिर है, दलित–उत्थान के लिए विवेकानन्द स्वयं दलितों के द्वारा ही उनकी मुक्ति के पक्षधर थे। अन्य वर्गों के लिए वे मात्र यहीं आवश्यक समझते थे कि वे शिक्षित एवं जागरूक होने में उनकी सहायता करें। विवेकानन्द का यह विचार काफी महत्त्वपूर्ण एवं अग्रगामी था। उन्होंने इस तथ्य की ओर भी ध्यान दिलाया कि यूरोप और अमेरिका में निम्न वर्गीय लोगों ने जाग्रत होकर इस दिशा में प्रयत्न भी आरम्भ कर दिए हैं और आज भारत में भी इसके लक्षण दृष्टिगोचर हो रहे हैं।[47] उन्होंने चेताते हुए कहा कि वह समय आने वाला है कि हजार कोशिशें करके भी उच्च जाति के लोग निम्न जाति के लोगों को अधिक देर तक दबाकर नहीं रख सकेंगें।[48]

विवेकानन्द ने अपनी यूरोप यात्रा के दौरान पाया था कि वहाँ राष्ट्र के सभी लोगों, यहां तक कि गरीबों के लिए भी अमन–चैन, सुविधा और शिक्षा का प्रबन्ध करने की कोशिश की जाती थी ।यह देखकर उनके मन में अपने देश के गरीबों की सामाजिक, आर्थिक एवं शैक्षिक दुर्दशा का दृश्य आ जाता था और उन्हीं शब्दों में "मेरी आंखों से आंसू झरने लगते थे।" जाहिर है कि भारत में गरीबों और दबे–कुचले वर्गों की स्थिति को देखकर उन्हें सर्वाधिक पीड़ा होती थी।49

ऐसे में राष्ट्रीय जागरण हेतु देशवासियों का आह्वान करते हुए उन्होंने कहाः

"स्मरण रहें हमारा राष्ट्र झोपड़ियों में बसता है। वर्तमान समय में तुम्हारा कर्त्तव्य है कि तुम देश के एक भाग से दूसरे भाग में जाओ और गांव–गांव जाकर लोगों को समझाओ कि अब आलस्य के साथ बैठे रहने से काम नहीं चलेगा। उन्हें उनकी यथार्थ अवस्था का परिचय कराओ और कहो कि भाइयो, अब उठो! जागो! अब और कितना सोओगे ? उनके मन में यह बात जमा दो कि ब्राह्मणों के समान सभी वर्गों का धर्म एवं ज्ञान पर समान अधिकार है । सभी का, चाण्डाल तक का भी!"50

वे अपने राष्ट्र–निर्माण सम्बन्धी दृष्टिकोण के अन्तर्गत मानते थे कि समाज सुधार के बिना राष्ट्र की रचना कभी नहीं की जा सकती। ठीक इसी तरह, राष्ट्रवाद का विचार भी जर्जर एवं विभाजित समाज को जोड़ने में सहायक हो सकता है। इसलिए देशवासियों में राष्ट्रीय गौरव का भाव जगाने का आह्वान करते हुए वे कहते थे :

"गर्व से कहो कि मैं भारतवासी हूँ। हर भारतवासी मेरा भाई है। तुम यह चिल्लाकर कहो कि ज्ञानी–अज्ञानी भारतवासी सभी मेरे भाई हैं। तुम पुकारते हुए यह कहो कि समस्त भारतवासी मेरे प्राण हैं। भारत के समस्त देवी–देवता मेरे ईश्वर हैं। भारत भूमि ही मेरे बाल्यकाल का झूला, यौवन की फुलवारी तथा बुढ़ापे की काशी है। कहो कि भारत की मिट्टी ही मेरा स्वर्ग है!"51

इस प्रकार स्वामी विवेकानन्द का राष्ट्र–निर्माण सम्बन्धी दृष्टिकोण काफी सुविचारित एवं तर्कपूर्ण था। इसके अन्तर्गत वे मानते थे कि समाज सुधार एवं नवीन समाज का निर्माण राष्ट्र–निर्माण की बुनियादी आवश्यकता है। उनके मन में दबे–कुचले वर्गों के प्रति करूणा, कल्याण तथा सामाजिकता की

भावनाओं का सर्वोच्च स्थान था और गरीबों एवं दलितों के उत्थान पर वे हमेशा बल देते थे। महिलाओं के सम्बन्ध में भी उन्होंने इसी दृष्टिकोण से ओत प्रोत होकर विचार व्यक्त किए।

(3) महिला उत्थान

यह ध्यान देने योग्य है कि विवेकानन्द ने अपने राष्ट्र–निर्माण सम्बन्धी कार्यक्रम में महिलाओं की स्थिति में सुधार एवं महिला उत्थान जैसे मुद्दों को विशेष स्थान दिया। जाहिर है, आधी आबादी को हाशिए पर छोड़ कर कभी भी किसी राष्ट्र का निर्माण नहीं किया जा सकता। विवेकानन्द इस बात को भली–भांति समझते थे इसलिए उन्होंने महिला उत्थान के प्रश्न को हमेशा राष्ट्र–निर्माण हेतु अहम् माना।

स्वामी विवेकानन्द स्त्रियों को बड़े आदर की दृष्टि से देखते थे। निजी जीवन में वे प्रत्येक स्त्री को माँ–बहन के रूप में पूजते थे।

परन्तु उनके समय भारतीय समाज में स्त्रियों की दशा बहुत बदतर थी। उनका मानसिक स्तर भी बहुत नीचा माना जाता था। ऐसे में विवेकानन्द ने उन्हें सामाजिक गुलामी से छुटकारा दिलाने के प्रयास किए, सार्वजनिक जीवन में भाग लेने की प्रेरणा दी तथा उनके उत्थान पर जोर दिया।[52] वे कहते थे कि यह समझना बड़ा कठिन है कि इस देश में आज स्त्रियों और पुरुषों के बीच इतना भेदभाव क्यों विद्यमान है, जबकि वेदान्त की यह घोषणा है कि सभी प्राणियों में एक ही आत्मा विराजमान हैः

"इस देश में पुरुष और स्त्रियों के बीच इतना अन्तर क्यों समझा जाता है, यह समझना कठिन है। वेदान्त में तो कहा गया था कि एक ही चैतन्य सत्ता सर्वभूतों में विद्यमान है। तुम लोग महिलाओं की केवल निन्दा ही करते हो, उनकी उन्नति के लिए तुमने क्या किया? स्मृति आदि लिखकर, नियम–नीति में आबद्ध करके इस देश के पुरुषों ने महिलाओं को एकदम बच्चा पैदा करने की मशीन बना डाला!"[53]

विवेकानन्द ने अक्सर अपने व्याख्यानों व लेखों में भारतीय महिला के प्राचीन पौराणिक 'आदर्श स्वरूप' का चित्रण किया और यह चित्रण उस समकालीन समाज के समक्ष किया जिसमें महिला के प्रति एक संकीर्ण दृष्टिकोण रखा जाता था। साथ ही उन्होंने राष्ट्र में महिलाओं के भविष्य से जुड़े सरोकारों पर भी व्यापक दृष्टि डाली थी। वे महिला को 'राष्ट्रीय विकास की धुरी' मानते थे, इसलिए उन्होंने कहा था "राष्ट्रोत्कर्ष का सर्वोत्तम थर्मामीटर महिला उत्थान है।"[54] लेकिन तककालीन भारतीय समाज में कुछ

ऐसी गम्भीर खामियां थीं, जो महिलाओं के विकास में बाधाएं उत्पन्न करती थीं। कटु सत्य यह था कि उस दौर में हर स्तर पर महिलाओं को दबाया जाता था और उन्हें निम्न स्थान दिया जाता था। देश में महिलाओं व पुरुषों की स्थिति को लेकर समाज की सोच में गहरा अन्तर था। [55]

ऐसे में, भारत के राष्ट्र–निर्माण हेतु स्वामी विवेकानन्द ने स्त्री उत्थान की जरूरत को काफी महत्त्वपूर्ण माना। उन्होंने उन्हें अपनी सामाजिक गुलामी से छुटकारा पाने हेतु घरेलू चार दिवारी व पर्दे से बाहर आकर सार्वजनिक जीवन में भाग लेने की प्रेरणा दी। इस सम्बन्ध में उन्होंने कहाः

"वेदान्त की यह घोषणा है कि सभी प्राणियों में एक ही आत्मा विराजमान है। स्मृतियां आदि लिखकर और स्त्रियों पर कड़े नियमों का बन्धन डालकर पुरुषों ने उन्हें अपने चरणों की दासी बना रखा है। अवनति के उस युग में जबकि पुरोहितों ने निम्न जातियों को वेदाध्ययन के अयोग्य ठहराया, उन्होंने स्त्रियों को भी उनके अधिकारों से वंचित कर दिया था। पर वैदिक और औपनिषदिक युग में तो मैत्रेयी और गार्गी आदि पुण्य–स्मृति महिलाओं ने ऋषियों का स्थान ले लिया था। सहस्त्र वेदान्ती ब्राह्मणों की सभा में गार्गी ने यज्ञवल्यक को ब्रह्म ज्ञान के विषय में शास्त्रार्थ करने के लिए ललकारा था।"[56]

इस संदर्भ में विवेकानन्द ने हिन्दुओं के सामाजिक एवं धार्मिक आदर्शवाद का वर्णन करते हुए लोगों का आह्वान कियाः

"तुम मत भूलना कि तुम्हारी महिलाओं का आदर्श सीता, सावित्री, दमयन्ती हैं। मत भूलना कि तुम्हारे उपास्य सर्वत्यागी उमानाथ शंकर हैं। मत भूलना कि तुम्हारा विवाह, तुम्हारा धन और तुम्हारा जीवन इन्द्रिय सुख के लिए, अपने व्यक्तिगत सुख के लिए नहीं हैं। मत भूलना कि तुम्हारा अस्तीत्त्व उस विराट् महामाया की छाया मात्र है।"[57]

अपने समकालीन समाज में पुरुषों को मिले अधिकारों का हवाला देते हुए विवेकानन्द ने तर्क दिया कि :

"जब पुरुषों को सारे अधिकार मिले हुए हैं तो उनकी भांति हमें महिलाओं को भी अपने अधिकारों का प्रयोग करने के लिए स्वतन्त्रता देनी होगी, क्योंकि महिलाएं भी पुरुषों के समान उन अधिकारों की अधिकारिणी हैं। ऐसा न होने पर समाज या राष्ट्र का उद्धार नहीं हो सकता।" [58]

विवेकानन्द कहते थे कि विश्व के सभी महान राष्ट्रों ने स्त्रियों को समुचित सम्मान देकर ही महानता प्राप्त की है। जो राष्ट्र स्त्रियों को आदर नहीं देते, वे कभी महान नहीं बन सकते।[59] उनका सुझाव था कि हमें अन्य दबे–कुचले वर्गों के साथ–साथ महिलाओं को ऐसी उच्चतम स्थिति में पहुँचा देना चाहिए जहाँ वे "अपनी समस्याओं को अपने ढंग से स्वयं सुलझा सकें।" उनके लिए यह काम न तो कोई और कर सकता है और न किसी को करना ही चाहिए।[60]

वे अपने राष्ट्र सेवक मिशनरियों से प्रायः कहते थे कि हमें महिला और पुरुष के भेद का विचार भी मन में नहीं रखना चाहिए। हमें केवल यहीं चिन्तन करना चाहिए कि हम सभी मानव हैं और परस्पर एक–दूसरे के प्रति सद्व्यवहार करने और सहायता करने के लिए उत्पन्न हुए हैं। भारतीय इतिहास की कुछ महान् विरांगनाओं का जिक्र करते हुए वे उन्हें कहते थे :

"आप में से कुछ ने शायद उस स्त्री (झांसी की रानी लक्ष्मी बाई) के बारे में सुना होगा, जो सन् 1857 के विद्रोह के समय अंग्रेजों के विरुद्ध लड़ी एवं लगभग दो वर्षों तक अपने राज्य व उसकी सेना का सँचालन करते हुए सदैव आगे बढ़कर आक्रमण करती रही।" [61]

इसी तरह भारतीय इतिहास एक और महान मुस्लिम नायिका चान्द बीबी अथवा चान्द सुल्ताना (1556–1599) की कहानी का भी वे अक्सर जिक्र करते थे चान्द बीबी गोलकण्डा की रानी थीं जहाँ उस समय हीरे की खदानें हुआ करती थीं। महीनों तक उन्होंने अंग्रेजों से अपने किले की रक्षा की। अन्ततः किले की दीवार में एक छेद किया गया। जब अंग्रेज सेना ने भीतर प्रवेश करने की कोशिश की, तो कवच एवं शस्त्रों से सुसज्जित चान्द बीबी ने उनका डट कर सामना किया और अंग्रेज सिपाहियों को पीछे हटने पर मजबूर कर दिया।[62] भारतीय इतिहास से इस प्रकार के कई उदाहरण देते हुए विवेकानन्द ने कहा कि :

"राजनीति व राज्य संचालन, यहाँ तक की युद्ध में भी भारत की महिलाओं ने स्वयं को पुरुष–तुल्य सिद्ध किया है। अवसर पाने पर सदैव ही महिलाओं ने पुरुषों जितनी ही योग्यता दिखाई है। यहीं नहीं, इसके साथ ही वे श्रेष्ठ चारित्रिक गुणों से सम्पन्न भी रही है और इस मामले में उनका पतन कदाचित ही होता है। इस प्रकार कम से कम भारत में तो पुरुषों की तुलना में महिलाएं कई गुणा श्रेष्ठ सिद्ध होती हैं। .... इस तथ्य की पुष्टि जॉन स्टुयर्ट मिल जैसे अंग्रेज विद्वान भी करते हैं।"[63]

विवेकानन्द ने कहा कि कुछ लोग पुरुष को सर्वश्रेष्ठ केवल इसलिए ठहराते थे कि वह युद्ध कर सकता है या कठोर शारीरिक श्रम कर सकता है, जबकि इसके विपरीत महिला शारीरिक रूप से कमजोर व लड़ने में सक्षम नहीं होती। परन्तु उन लोगों की यह बात न्यायसंगत नहीं है। महिला भी पुरुष जितनी साहसी व शक्तिशाली होती है। वस्तुतः दोनों में ही अपने–अपने श्रेष्ठ गुण होते हैं। उन्होंने तर्क दियाः

"क्या कोई पुरुष एक महिला की तरह धैर्य, प्रेम और सहनशीलता से बच्चों को पाल सकता है? एक के पास कुछ करने की क्षमता है तो दूसरे के पास सहने की क्षमता है। अगर महिला अधिक शारीरिक श्रम नहीं कर सकती, तो पुरुष भी अधिक दुःख नहीं सह सकता। अगर आप किसी को शेर बनने का अवसर नहीं देंगें तो वह लोमड़ी बन जाएगा। महिला वस्तुतः शक्ति है। वह कमजोर इसलिए दिखती है क्योंकि पुरुष अभी तक महिला का दमन करता आया था।"[64]

विवेकानन्द का दृढ़ विश्वास था कि भारतीय नारियां संसार की अन्य नारियों की भांति कुछ भी करने की क्षमता रखती है। अतः हम आधुनिक भारत के निर्माण के लिए ऐसी "महान् निर्भीक नारियां" तैयार करेंगें जो, "संघमित्रा, अहिल्याबाई और मीराबाई की परम्पराओं" को जारी रख सकेंगीं। ऐसी नारियां जो "वीरों की माताएं होने के योग्य हों, जो पवित्र हो और जो ईश्वरीय ज्ञान से परिपूर्ण हों।"[65] विवेकानन्द ने भारतीय महिलाओं को स्वयं सशक्त बनने का आह्वान करते हुए कहा कि ऐसा तभी सम्भव होगा जब वे राष्ट्रीय गौरव की भावना से ओत–प्रोत होंगीः

"मैं इस देश की नारियों से भी वही बात कहूँगा, जो पुरुषों से कहता हूँ : भारत में विश्वास करो। हमारे 'भारतीय धर्म' में विश्वास करो। शक्तिशाली बनो, आशावान बनो और संकोच छोड़ो। याद रखो

कि यदि हम बाहर से कोई वस्तु लेते हैं, तो संसार की किसी अन्य जाति की तुलना में हमारे पास उसके बदले में देने के लिए अनन्त गुणा अधिक विद्यमान है।"66

अपने भारत–भ्रमण के दौरान विवेकानन्द को देश के विभिन्न भागों में रहने वाले पुरुषों एवं महिलाओं की स्थितियों पूरा ज्ञान हो चुका था। इसी ज्ञान के आधार पर स्त्रियों के सम्बन्ध में केरल जैसे प्रान्तों की श्रेष्ठ सामाजिक परम्पराओं का उल्लेख करते हुए उन्होंने बताया किः

"मालाबार प्रदेश (केरल) में महिलाएं सभी विषयों में अग्रणी हैं। वहां सर्वत्र ही विशेष रूप से स्वच्छता की ओर ध्यान रखा जाता है। और विद्या अर्जन के प्रति भी विशेष उत्साह है। मैं जब इस प्रदेश में गया, तब मैंने वहां ऐसी अनेक महिलाओं को देखा, जो उत्तम संस्कृत बोल सकतीं थीं। स्वाधीनता में उन्नति होती हैं, किन्तु दासता में तो अवनति ही होती है। इसी कारण पुर्तगीज या मुसलमान कभी भी मालाबार को जीत नहीं पाए। द्रविड़ मध्य एशिया की एक अनार्य जाति थी जो यहाँ आर्यों से पहले आयी और अत्याधिक सभ्य थी। उनमें महिलाएं पुरुषों से भी श्रेष्ठ थीं।"67

इसी तरह की समृद्ध दक्षिण भारतीय सामाजिक परम्पराओं के आधार पर विवेकानन्द ने तर्क दिया कि हमें "यूरोपीय आलोचना की अचानक आई हुई बाढ़" और उसके कारण "खुद में उत्पन्न हुई हीनता की भावना" के वशीभूत होकर भारतीय संस्कृति में महिलाओं की असमानता के विचार को स्वीकार करने में "अत्याधिक शीघ्रता" नहीं करनी चाहिए।68

विवेकानन्द के अनुसार भारतीय संस्कृति में नारी के अनेक रूपों में सबसे महत्त्वपूर्ण रूप माँ का रूप है। उनके शब्दों में, "भारत के सभी स्त्री–प्रकारों में माँ सबसे ऊपर है। माँ सब बातों में संतान का साथ देती है। माँ कभी नहीं त्यागती।"69

विवेकानन्द के मतानुसार भारतवर्ष में स्त्रीत्व वस्तुतः "मातृत्व का ही बोधक" है। मातृत्व में महानता, स्वार्थ–शून्यता, कष्ट–सहिष्णुता और क्षमाशीलता का भाव नीहित है। माता "प्रेम का आदर्श" होती है। वह परिवार पर शासन करती है और उस पर अधिकार रखती है। यदि बालक कोई अपराध करता है, तो पिता उसे दण्ड देता है। परन्तु माता सदा पिता और सन्तान के मध्य बीच–बचाव ही करती

है।[70] माँ वह उज्ज्वल प्रेम दर्शाती है, जिसका सौदा नहीं हो सकता। वह प्रेम जो कभी मरता नहीं, केवल माँ में ही हो सकता है। माँ का मन कभी बच्चे को अभिशाप नहीं देता, वह क्षमा ही करता है। त्याग एवं बलिदान की ऐसी भावना सम्भवतः भारत के अतिरिक्त विश्व की किसी भी नारी में नहीं है।"[71] भारतीय नारी के ऐसे आदर्श रूप एवं गुणों की चर्चा करते हुए विवेकानन्द ने कहा :

"प्रत्येक देश में महिला व पुरुषों का सोचने, समझने व देखने का ढंग भिन्न होता है। पुरुषों का देखने का एक कोण है और महिलाओं का दूसरा। पुरुष एक बिन्दु को लेकर विचार–विमर्श करता है एवं महिला दूसरे को लेकर। पश्चिम में आदर्श पत्नी है, (जबकि) भारत में आदर्श माँ है। अतः वह हमारे लिए भगवान का प्रतिनिधि है, क्योंकि भगवान भी इस ब्रह्माण्ड की माँ ही है। वे महिला ऋषि ही थी जिन्होंने सर्वप्रथम भगवान को पाया और उसे वेदों के मंत्रों में सर्वप्रथम गूंथा।"[72]

विवेकानन्द ने जोर देकर कहा कि राष्ट्र–हित में महिलाओं को शिक्षित होने के लिए साहस दिखाना होगा क्योंकि जिस तरह की घटनाएं समाज में उनके साथ घटित हो रहीं थी, उनके मद्देनजर यह आवश्यक था। उस समय लड़कियाँ स्कूल नहीं जा पातीं थीं और जो जातीं थीं, वे भी जल्दी ही समाज के विरोध के कारण स्कूल छोड़ देती थीं। अतः यह आवश्यक था कि महिलाओं को समाज में सशक्त स्थान हासिल करने हेतु शिक्षा हासिल करनी होगी। विवेकानन्द महिलाओं के अधिकारों के पक्के समर्थक थे। उनके अनुसार राष्ट्र में सुधार तब तक नहीं हो सकता, जब तक महिलाओं की स्थिति में सुधार नहीं होता। उन्होंने महिला सशक्तिकरण पर बल देते हुए इसके लिए स्त्री को 'पूर्ण स्वतन्त्रता' देने की बात कहीः

"महिलाएं हजारों वर्षों से दुख झेल रहीं थीं और इसी स्थिति ने उन्हें असीम धैर्य और अनंत दृढ़ता जैसे गुण प्रदान किए हैं। महिला सशक्तीकरण का सबसे सही उपाय पूर्ण स्वतंत्रता है। आत्मा का कोई लिंग नहीं होता। यह न तो पुरुष है न ही महिला। यह केवल शरीर ही है जिसमें लिंग प्रथा है। और जो व्यक्ति आत्मा और परमात्मा तक पहुँचना चाहता है, उसे लिंग के आधार पर बांधा नहीं जा सकता। ऐसे में उसे पूर्ण स्वतंत्रता देनी होगी।"[73]

हालांकि विवेकानन्द इस बात को भी स्वीकार करते थे कि भारतीय समाज पुरुष–प्रधान समाज था जिसमें महिलाओं को कई तरह की समस्याओं का अपने रोजमर्रा के जीवन में सामना करना पड़ता था। इस बारे में उन्होंने कहा :

"मैंने देश में (कुछ स्थानों को छोड़ कर) कहीं भी महिलाओं को शिक्षित नहीं देखा। जैसे यूरोपीय देशों में महिलाएं शिक्षित हैं, हमारे यहां इसका सवर्था अभाव है । हमारे यहां एक ओर तो महिला को लक्ष्मी का रूप समझा जाता है, वहीं दूसरी ओर एक महिला बीमार होकर भी घर का कार्य करती है। वह दवाई लेने तक (घर से बाहर) अकेली नहीं जाती। वह मर्दों द्वारा पूरे नियन्त्रण में रखी जाती है। उनके दुःखों को कोई अनुभव नहीं करता।"[74]

उस दौर में देश में अपनी दबी–कुचली स्थितियों के कारण ही महिलाओं को प्रतिदिन अत्याचार एवं मार–पीट जैसी परिस्थितियों का सामना करना पड़ता था। ऐसे हालातों को देखते हुए स्त्रियों को सशक्त करना आवश्यक था ताकि वे स्वयं की रक्षा कर सकें, अपने आत्म–सम्मान को सुरक्षित रख सकें तथा समाज में सुरक्षित एवं आदरणीय जीवन जी सकें।[75] इसलिए विवेकानन्द ने सुझाव दियाः

"यदि महिलाओं को आत्मनिर्भर बनाना है तो उनको उनके अधिकारों के साथ स्वतंत्र छोड़ देना चाहिए । क्योंकि उनमें वास्तविक आत्म–निर्भरता तब तक नहीं आ सकती, जब तक पुरुष स्वतन्त्र हैं और महिलाएं गुलाम हैं। नियमों व कानूनों को बनाने में भी उनको बराबर का भागीदार बनाना आवश्यक है क्योंकि उनकी भागीदारी के बिना बनाए गए कानूनों को वे बोझ समझती हैं। ऐसे हालात ही महिला जाति के पतन के कारण हैं।"[76]

विवेकानन्द ने कहा कि आधुनिक भारत में स्त्रियों द्वारा आत्मरक्षा के उपाय सीख लेना भी आवश्यक हो गया है। "झांसी की रानी जैसी भारत की अभूतपूर्व स्त्रियों" की तरह उनको भी शक्तिशाली एवं समर्थ बनना होगा।[77] उन्हें हर रूप से सक्षम एवं आत्म–निर्भर बनना होगा।

इस संदर्भ में विवेकानन्द ने राष्ट्र उत्थान हेतु नारी शिक्षा को भी महत्त्वपूर्ण माना। बेशक विवेकानन्द स्त्री शिक्षा के प्रबल समर्थक थे। उन्होंने कहा, "जो माताएं शिक्षित और नीति–परायण हैं, उनके घर महान सन्तानें जन्म लेती हैं।"[78] इसलिए उन्होंने सुझाव दिया कि जिस तरह 30 वर्ष तक

ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए पुत्रों को शिक्षा हासिल करनी चाहिए, ठीक उसी तरह माता–पिता को पुत्रियों की शिक्षा का प्रबन्ध भी करना चाहिए और उनको शिक्षा प्राप्ति हेतु ब्रह्मचर्य व्रत धारण कराना चाहिए।

विवेकानन्द के अनुसार भारतीय स्त्रियों में सेवा भाव, स्नेह, दया, संतुष्टि व भक्ति जैसे कुछ श्रेष्ठ गुण जन्मजात रूप से पाए जाते हैं। शायद पृथ्वी पर और कहीं भी ऐसा नहीं मिलेगा। अतः उचित रीति से शिक्षा पाने पर भारतीय नारियां विश्व की "आदर्श स्त्रियां" बन सकती हैं।[79]

विवेकानन्द कहते थे कि बेशक इसमें कोई शक नहीं कि भारतीय स्त्रियों की बहुत सी कठिन समस्याएं हैं। किन्तु उनका हल केवल शिक्षा के द्वारा ही हो सकता है।[80] उनके शब्दों में, "स्त्रियों की बहुत सी समस्याएं हैं। पर उनमें एक भी ऐसी भी ऐसी नहीं है जो इस जादू भरे शब्द 'शिक्षा' के द्वारा हल न हो सकें।" विवेकानन्द ने जोर देकर कहा कि "पुत्रियों का लालन–पालन और शिक्षा–दीक्षा उतनी ही सावधानी और तत्परता से होनी चाहिए, जितनी कि पुत्रों की।"[81] उन्होंने प्रश्न किया:

"परन्तु हम यर्थात् में क्या कर रहे हैं? उनको सदैव निःसहाय अवस्था में रहने और दूसरों पर गुलाम के समान आवलम्बित रहने की शिक्षा दी जाती है। इसी कारण वे किंचित भी आंसू बहाने के सिवाय और किसी योग्य नहीं रहती। स्त्रियों को ऐसी अवस्था में रखना चाहिए कि वे अपनी समस्याओं को अपने ही तरीके से हल कर सकें।"[82]

विवेकानन्द ने विश्वास जताया कि यदि भारतीय स्त्रियों में से एक भी 'ब्रह्मज्ञानी' हो गई तो उस एक व्यक्तित्व के तेज से राष्ट्र की सहस्त्रों स्त्रियां स्वतः स्फूर्ति एवं प्रेरणा प्राप्त करेगी। इससे राष्ट्र और समाज का बड़ा उपकार होगा।[83]

विवेकानन्द लड़कियों को प्राथमिक शिक्षा ही नहीं अपितु उच्च शिक्षा प्रदान किये जाने के भी समर्थक थे। वे अक्सर कहते थे, "हिन्दू धर्म में तो स्त्रियों को शिक्षा देने का विरोध है ही नहीं।"[84] उनके अनुसार कुछ पुराने धार्मिक ग्रन्थों में तो यह भी लिखा मिलता है कि विद्यापीठों में लड़के और लड़कियाँ दोनों ही पढ़ने जाते थे। किन्तु दुर्भाग्यवश बाद में हमारे ही राष्ट्र में स्त्री शिक्षा उपेक्षित की गई।[85]

विवेकानन्द महिलाओं को आध्यात्मिक, वैज्ञानिक, तकनीकी, कला आदि सभी प्रकार की शिक्षा प्रदान किए जाने के पक्ष में थे। उनके अनुसार कुछ महिलाओं को "सन्यास जीवन के आदर्श" का पालन करने के लिए शिक्षित किया जाए। आदिकाल से भारतीय महिलाओं की "नस–नस में सतीव्रत" भरा है। अतः इसमें कोई कठिनाई नहीं होगी । इस संदर्भ में उन्होंने कहा थाः

"आज के युग की आवश्यकताओं को देखते हुए मुझे यह अत्यन्त आवश्यक प्रतीत होता है कि कुछ महिलाएं संन्यस्त जीवन के आदर्शों का पालन करने के लिए शिक्षित की जाएं जिससे वे आजन्म कौमार्य व्रत धारण करें। उनके आचरण तथा सर्व–साधारण के लिए राष्ट्रीय आदर्श उपस्थित करने के उनके प्रयत्नों के फलस्वरूप लोगों के विचारों, आशाओं एवं आकांक्षाओं में एक क्रांतिकारी परिवर्तन होगा।"[86]

विवेकानन्द का यह भी कहना था कि महिलाओं को विज्ञान, प्रौद्योगिकी एवं अन्य विषय, जिनसे केवल उनका ही नहीं अन्य लोगों एवं समूचे राष्ट्र का हित हो, भी सिखाएं जाऐं।[87] उनका दृढ़ मत था कि मातृभूमि के उत्थान के लिए हमें अनेक "पुण्य संकल्पवान पवित्र ब्रह्मचारियों तथा ब्रह्मचारिणियों" की आवश्यकता है। उन्होंने स्त्री शिक्षा के सम्बन्ध में अनेक सुझाव प्रस्तुत किए, जैसे :

(i) स्त्री शिक्षा का प्रसार सर्वसाधारण में होना चाहिए।

(ii) स्त्रियों में शिक्षा का प्रसार ब्रह्मचारिणियों द्वारा होना चाहिए।

(iii) शिक्षा का प्रसार करते समय वर्तमान में उपलब्ध सभी ज्ञान–विज्ञानों व वैज्ञानिक साधनों का प्रयोग करना चाहिए।

(iv) चरित्र व नैतिकता की शिक्षा सीता जैसी महान् स्त्रियों का आदर्श सामने रखकर देनी चाहिए।[88]

विवेकानन्द का कहना था कि यदि लड़कियों को समय रहते अच्छी शिक्षा नहीं दी गई तो भारतीय समाज में भ्रष्टाचार और व्याभिचार बढ़ने की आशंका है।[89]

राष्ट्रीय शिक्षा प्रणाली सम्बन्धी उनकी अवधारणा आधुनिक पाश्चात्य शिक्षा प्रणाली से कुछ भिन्न थी। इस सम्बन्ध में उनका कहना था :

"शिक्षा से मेरा तात्पर्य आधुनिक प्रणाली की शिक्षा से नहीं, वरन् ऐसी शिक्षा से है जो भावात्मक हो तथा जिससे स्वाभिमान और श्रद्धा के भाव जागें। केवल किताबें पढ़ा देने से कोई लाभ नहीं। हमें ऐसी शिक्षा की आवश्यकता है जिससे चरित्र निर्माण हो, मानसिक शक्ति बढ़े, बुद्धि विकसित हो और देश के युवा अपने पैरों पर खड़े होना सीखें । इस प्रकार की शिक्षा प्राप्त करने पर स्त्रियां भी अपनी समस्याएं स्वयं ही हल कर लेगी।"[90]

विवेकानन्द के अनुसार स्त्री शिक्षा से उनके आचरण में ही नहीं अपितु देश के तमाम लोगों के विचारों एवं आशाओं में भी "क्रान्तिकारी परिवर्तन" होगा।[91]

इसी कारण विवेकानन्द ने संकल्प लिया था कि गृह–लक्ष्मियों में ब्रह्मविद्या के विकास के निमित वे उनके लिए एक मठ स्थापित करेंगें। जगत् का कोई भी महान् कार्य त्याग के बिना नहीं हुआ है। इस विषय में अपने विचार प्रकट करते हुए उन्होंने कहा थाः

"वट वृक्ष का अंकुर देखकर कौन कह सकता है कि समय आने पर वह एक विराट् वृक्ष बनेगा? अभी तो मैं मठ की स्थापना इसी रूप में करूंगा। फिर एकाध पीढ़ी के बाद देशवासी इस मठ की कद्र करने लगेंगें । जो विदेशी महिलाएं मेरी शिष्या बनी हैं, वे ही इस कार्य में जीवन उत्सर्ग करेंगीं। देखना, समय आने पर इसकी प्रभा से देश आलोकित हो उठेगा!"[92]

विवेकानन्द ने अपनी उक्त योजना को और स्पष्ट करते हुए बताया कि पुरुष–मठ के वृद्ध संन्यासी दूर से स्त्री–मठ का कार्य चलाएंगे। स्त्री–मठ में बालिकाओं का एक स्कूल रहेगा। उसमें धर्मशास्त्र, साहित्य, संस्कृत व्याकरण और साथ ही घर–गृहस्थी के सारे नियम तथा शिशुपालन आदि विषयों की शिक्षा भी दी जाएगी। साथ ही जप, ध्यान, पूजा आदि भी शिक्षा के अंग रहेंगें।[93] अपने प्रस्तावित मठ के जरिए भारत में नारी शिक्षा का भविष्य तय करने सम्बन्धी जो स्वप्न विवेकानन्द ने देखा था, वह उन्हीं के शब्दों में इस प्रकार थाः

"महिलाओं से ब्रह्मचर्य का पालन कराने के लिए वृद्ध ब्रह्मचारिणियाँ छात्राओं की शिक्षा का भार लेंगी। इस मठ में 5–7 वर्ष तक शिक्षा प्राप्त करने के उपरान्त लड़कियों के अभिभावक उनका विवाह कर सकेंगें। यदि कोई लड़की अधिक योग्य समझी जाएगी, तो वह अपने अभिभावकों की सम्मति लेकर वहां चिर–कौमार्य व्रत का पालन करती हुई ठहर सकेंगीं। जो बालिकाएं चिर–कौमार्य व्रत का अवलम्बन करेंगी, वे ही मठ की शिक्षिकाएं तथा प्रचारिकाएं बन जाएंगीं और गांव–गांव तथा नगर–नगर में शिक्षा–केन्द्र खोलकर महिलाओं की शिक्षा के विस्तार का प्रयास करेंगी। ऐसी चरित्रवती एवं धर्मभावपूर्ण प्रचारिकाओं द्वारा देश में स्त्री–शिक्षा का प्रसार होगा। इस प्रकार देश में सीता, सावित्री, गार्गी आदि आदर्श स्त्री चरित्रों का फिर से आविर्भाव हो सकेगा।"[94]

विवेकानन्द ने घोषणा की कि अब वह समय आ गया है जब धर्म को केन्द्र बनाकर राष्ट्र में महिला शिक्षा का प्रचार–प्रसार होगा। वर्तमान काल में भारत में आज तक महिला–शिक्षा का जो प्रचार हुआ है, उसमें धर्म को गौण बनाकर रखा गया है। परन्तु सात्विकता व आध्यात्मिकता के ही बल पर महिला जाति का कल्याण हो सकता है।[95]

राष्ट्र–निर्माण हेतु अपने स्त्री उत्थान सम्बन्धी कार्यक्रम में विवेकानन्द ने हिन्दू समाज में व्याप्त स्त्री–विरोधी कुप्रथाओं का भी निषेध करने पर बल दिया। उन्होंने विधवा विवाह का समर्थन किया।[96] साथ ही उन्होंने बाल विवाह पर रोक लगाने पर बल दिया। उन्होंने यह भी कहा कि भारत में ऐसी तमाम कुप्रथाएं शिक्षा के प्रसार से ही बन्द हो सकती है।[97] अनेक पतित व दबी–कुचली महिलाओं की मार्मिक दुर्दशा की ओर ध्यान दिलाते हुए विवेकानन्द ने कहाः

"उन अनगिनत नारियों के सम्बन्ध में कोई भी बात नहीं करता। .... भारत में जब कोई स्त्री दुराचारिणी पायी जाती है, तो उसे जाति था समाज से बहिष्कृत कर दिया जाता है। उसके बाद कोई उससे वार्तालाप या सम्पर्क नहीं कर सकता। यदि वह घर के भीतर जाती है तो उस स्थान की दरियों और दीवारों तक को धोया जाता है। कोई उससे सम्बन्ध नहीं रखता है। एक बार स्त्री गिरती है तो वह सदा के लिए बहिष्कृत हो जाती है – वह और उसके बच्चे, पुत्र और पुत्रियां भी!"[98]

विवेकानन्द का मानना था कि भारत में महिलाओं के पतन का एक मुख्य कारण था – विवाह प्रणाली में परिवर्तन। उनके अनुसार प्राचीनतम विवाह प्रणाली मातृकेन्द्रिक थी। इससे बहुपतित्व की एक विचित्र प्रथा उत्पन्न हुई, जिसमें प्रायः पाँच या छः भाई एक पत्नी से विवाह करते थे। वेदों में इस प्रकार के भी संकेत मिलते हैं कि जब कोई पुरुष निःसंतान मर जाता था, तो उसकी विधवा को उस समय तक दूसरे पुरुष के साथ रहने की अनुमति थी, जब तक कि वह माँ न बन जाए। इस प्रकार जन्म लेने वाले बच्चे अपने जैविक पिता के नहीं, वरन् स्त्री के मृत पति के माने जाते थे। आगे चलकर विधवा को पुनः विवाह करने की अनुमति भी हासिल हो गई थी जिसका कि आधुनिक विचार निषेध करता है।[99] इसी प्रकार बाल विवाह की समस्या भी बाद के युग में उत्पन्न हुई। विवेकानन्द के मतानुसार इसमें 'आर्थिक कारणों' का ही विशेष प्रभाव दिखाई देता हैः

"कन्या का बेचारा पिता भी क्या करे? ज्यों ही बालिका कुछ बड़ी हुई कि उसकी माता, सगे संबंधी और पड़ोसी तक उन पिता से कहना आरम्भ कर देते हैं कि कन्या के लिए शीघ्र ही वर ढूंढों और जब तक वह उनकी इस बात को नहीं मानता, उसे कोई चैन नहीं लेने देता।"[100]

जब अंग्रेजी सरकार ने न्यूनतम सहमति आयु कानून (Age of Consent Bill) द्वारा किसी पुरुष के लिए 12 वर्ष से छोटी कन्या के साथ सहवास करना दण्डनीय ठहराया, तब समाज के पोंगा–पन्थियों ने बड़ा कोलाहल मचाया कि इससे धर्म भ्रष्ट हो जाएगा, कलियुग आ जाएगा आदि। विवेकानन्द के अनुसार अंग्रेज शासक स्वभावतः ऐसी प्रतिक्रियाओं को ही देखकर भारतीयों पर तंज कसते थे कि "वाह! इनका भी क्या धर्म है! और ऐसे ही व्यक्ति राजनीति के आन्दोलन करते थे, राजनीतिक अधिकारों की मांग करते थे।"[101]

विवेकानन्द ने बाल–विवाह के कई दुष्परिणामों का वर्णन किया। उन्होंने कहा कि बाल–विवाह से असामयिक सन्तानोत्पत्ति होती थी और अल्पायु में सन्तान उत्पन्न करने के कारण हमारी महिलाएं अल्पायु होतीं थीं। उनकी दुर्बल और रोगी सन्ताने देश में भिखारियों की संख्या बढ़ाने का कारण बनती थी। ऐसे में उन्होंने जोर देकर कहा कि यदि हमारे यहां कन्याओं के विवाह कुछ अधिक आयु में हों और उनका–लालन पालन सुसंस्कृत वातावरण में हो, तो वे ऐसी श्रेष्ठ सन्तानों को जन्म देगीं जो राष्ट्र का

कल्याण कर सकेंगीं। उन्होंने ध्यान खींचते हुए कहा कि आज घर–घर इतनी अधिक विधवाएँ पाई जाने का मूल कारण बाल–विवाह ही है। यदि बाल विवाहों की संख्या घट जाए, तो विधवाओं की संख्या भी स्वयमेव घट जाएगी।[102] संक्षेप में, विवेकानन्द को सर्वाधिक दबी–कुचली 'दुराचारिणी' स्त्रियों, यहाँ तक कि वेश्याओं समेत, तमाम महिलाओं की चिन्ता थी। राष्ट्र–हित में वे नारी समस्या को समग्र रूप से हल करने के हिमायती थे और महिलाओं को वे समस्त अवसर व अधिकार प्रदान किए जाने के पक्ष में थे जो पुरुषों को उपलब्ध है।[103] महिला उत्थान हेतु वे शिक्षा को सबसे बड़ा साधन मानते थे इस प्रकार अपने राष्ट्र–निर्माण कार्यक्रम में उन्होंने महिला उत्थान से जुड़े मुद्दों को विशेष स्थान दिया।

4.2 राष्ट्रीय आन्दोलन एवं राष्ट्रीय चेतना पर प्रभाव

स्वामी विवेकानन्द एक ऐसे दौर में सामने आए थे, जब 1857 के स्वाधीनता संग्राम की विफलता के बाद ब्रिटिश दमन–चक्र का शिकार हो जाने के कारण भारत थोड़े दिनों के लिए राजनीतिक संघर्ष के क्षेत्र में निष्क्रिय–सा हो गया था। वस्तुतः विद्रोह की विफलता एवं उसके बाद हुए दमन–चक्र के बाद देश में आत्म–मंथन का एक सिलसिला शुरू हुआ। तत्कालीन बुद्धिजीवियों ने इस तथ्य को समझा कि विद्रोह में भारतीयों की पराजय का एक बड़ा कारण भारत के सामाजिक–सांस्कृतिक जीवन में व्याप्त हो चुकी कमजोरियाँ हैं जिन्हें सर्वप्रथम ठीक करना होगा। अतः उन्होंने 1857 के बाद मुख्यतः सांस्कृतिक एवं सामाजिक स्तर पर आन्दोलन शुरू किए। ऐसे ही आन्दोलनों में प्रमुख रूप से ब्रह्म समाज, आर्य समाज ए वं रामकृष्ण मिशन शामिल थे[1] रामकृष्ण मिशन के संस्थापक के रूप में विवेकानन्द ने सांस्कृतिक उत्थान के लिए सर्वाधिक जोर लोक सेवा पर दिया था। जैसा कि हम पिछले अध्याय में जान चुके हैं, उन्होंने भारत के अन्तःकरण में झांक कर यह निष्कर्ष निकाला कि देश के दरिद्र जनगण ही हमारे उपास्य नारायण है। अभाव एवं अज्ञान से त्रस्त देशवासियों के कल्याण के लिए उन्होंने वेदान्त के प्रचार–प्रसार का कार्य आरम्भ किया। वह अपने गुरु रामकृष्ण परमहंस के इस कथन के मर्म को समझते थे कि भूख से बिलखते आदमी के लिए धर्म नहीं, रोटी प्रथम आवश्यकता है। अतः उन्होंने धर्म के नाम पर सामाजिक अन्याय करने वालों की भर्त्सना की और घोषणा की कि "भूखे–नंगे लोगों पर तथाकथित मोक्ष दिलाने वाला धर्म लादने की अपेक्षा उनकी रोटी–कपड़े का प्रबंध करना कहीं अधिक

महत्त्वपूर्ण और कल्याणकारी है।"[2] असल में वे राष्ट्र के पुनर्उत्थान की जरूरत को समझते हुए ये बातें कह रहे थे। इसलिए उन्होंने देश के युवा वर्ग को अज्ञान, अभाव व भूख से संघर्ष करने का आह्वान किया तथा अशिक्षा के अंधेरों को नष्ट करके मानवमात्र को दीनता और हीनता से मुक्ति दिलाने का लक्ष्य अपने अनुयायियों के समक्ष रखा।[3]

जाहिर है, विवेकानन्द अपने देश को ऊँचा उठाने को उत्सुक थे। सांस्कृतिक राष्ट्रवाद जागृत करने के लिए उन्होंने इस बात पर जोर दिया कि हमारे देश भारतवर्ष का चरित्र प्राचीन काल से ऊँचा रहा था। लेकिन बीच में विदेशियों के शासनकाल के फलस्वरूप हम अपने सांस्कृतिक व राष्ट्रीय गौरव को भूल चुके थे इसलिए उन्होंने कहा कि उनका उद्देश्य देश को "अंधकार से जगाकर प्रकाश में" लाना था।[4]

विवेकानन्द द्वारा प्रतिपादित वेदान्त दर्शन के अनुसार सम्पूर्ण मानवता में एकत्व विद्यमान है, परन्तु मानव के गौरव की सर्वप्रथम उपलब्धि राष्ट्रीय धरातल पर ही हो सकती है। इसलिए उन्होंने स्पष्ट शब्दों में कहा कि उनका प्रमुख ध्येय देश में 'राष्ट्रीय गौरव' की भावना का विकास करना है। अपने देशवासियों में राष्ट्रीय गौरव का भाव जमाने हेतु उन्होंने आह्वान किया किः

"गर्व से कहो कि मैं भारतवासी हूँ और प्रत्येक भारतवासी मेरा भाई है। तुम चिल्लाकर कहो, मूर्ख भारतवासी, ब्राह्मण भारतवासी, चांडाल भारतवासी—सभी मेरे भाई हैं। भारतवासी मेरे प्राण हैं! भारत के देवी—देवता मेरे ईश्वर हैं। भारत की भूमि मेरे बचपन का झूला, जवानी की फुलवारी और बुढ़ापे की काशी है। कहो कि भारतभूमि मेरा स्वर्ग है और भारत के कल्याण में ही मेरा कल्याण है। रात दिन तुम्हारी यही रट लगी रहे कि हे ईश्वर, मुझे मनुष्यत्व दो, मेरी दुर्बलता दूर कर दो, मुझे मनुष्य बना दो।[5]

विवेकानन्द के इन्हीं विचारों के आधार पर कई इतिहासकारों ने तर्क दिया गया है कि स्वामी विवेकानन्द ने धर्मयुक्त राष्ट्रवाद का उपदेश दिया। यद्यपि विवेकानन्द ने अपने को राजनीति में कभी नहीं उलझाया, लेकिन वे निसन्देह राष्ट्रवादी चेतना के प्रतीक बन गये थे।[6] डॉ॰ टी॰ एम॰ पी॰ महादेवन जैसे विद्वान तो विवेकानन्द को "आधुनिक भारत के प्रथम राष्ट्रवादी नेताओं में अग्रणी " मानते है तथा

उन्हें भारत में उत्पन्न हुई राष्ट्रवादी चेतना का श्रेय भी प्रदान करते हैं।[7] वे लिखते हैं कि "यह देशभक्त संन्यासी स्वामी विवेकानन्द का वेदान्ती राष्ट्रवाद ही था जिसने गांधी की नीतियुक्त राजनीति को दिशा दी, जिस पर चलकर अन्ततः भारत स्वाधीन हुआ था।"[8] इस तरह वे कहते हैं कि "विवेकानन्द ब्रिटिश औपनिवेशिक राज से भारत की मुक्ति की आवश्यकता को अनुभव करते थे।"[9] इस राजनीतिक दृष्टिकोण के ही साथ वे अपने देशवासियों के प्रति एक आलोचनात्मक दृष्टि भी रखते थे जो अपने विदेशी शासकों का अंधानुकरण करते हुए अपनी सांस्कृतिक जड़ों को भुला बैठे थे।

बेशक स्वामी विवेकानन्द भारत ही नहीं, किसी भी राष्ट्र की स्वाधीनता के पक्षधर थे। उनके अनुसार भारतीय दर्शन में स्वाधीनता को राष्ट्रीय विकास की पहली शर्त माना गया है इसको लिए उन्होंने कठोपनिषद् को उद्धृत किया।[10] इस संदर्भ में आयरिश लोगों के संदर्भ में उन्होंने जो विचार व्यक्त किए थे ं, वे भी उल्लेखनीय हैं :

"न्यूयॉर्क में आने वाला आयरिश व्यक्ति कभी अंग्रेजों के पैरों से कुचला हुए कान्तिहीन, निसम्बल व दरिद्र व्यक्ति था। उनकी चाल और चितवन में डर ही डर समाया रहता था। परन्तु अब वहां भिन्न दृश्य दिखने लगा है। अब वह तन कर चल रहा है। उसकी वेशभूषा बदल गई है। उसकी चाल और चितवन में पहले का डर दिखाई नहीं पड़ता। ऐसा कैसे हुआ? अपने देश में वह आयरिश चारों ओर से घृणा से भरा रहता था। सारी कायनात उसे एक स्वर से कह रही थी, बच्चू तू नीच है। ऐसा सुनते–सुनते उसे विश्वास हो गया कि वह सचमुच अत्यन्त नीच है। पर ज्यों ही उसने अमेरिका में पैर रखे, उसे सभी दिशाओं से ये आवाज जोर से सुनाई देने लगी कि तू भी हमारे ही जैसा मनुष्य है। बस, उसके अन्दर का सोया हुआ ब्रह्मभाव जाग उठा। मानो स्वयं प्रकृति ने उसे कह दियाः 'उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत' – अर्थात् उठो, जागो और ध्येय की प्राप्ति तक मत रूको!"[11]

विवेकानन्द विश्व की ऐसी दलित राष्ट्रीयताओं के उदाहरण देकर परोक्ष रूप से भारतीयों की राष्ट्रीय चेतना को जगाना चाहते थे। वे अभाव, अज्ञान तथा रूढ़ियों को मिटा कर भारत को एक जागृत राष्ट्र के रूप में खड़ा करना चाहते थे। वे एक राष्ट्र के रूप में भारत को इसलिए खड़ा नहीं करना चाहते थे कि वह राजनीतिक स्वार्थ की लड़ाई में उलझकर रह जाए तथा मात्र एक और राजनीतिक

राज्य के रूप में अपनी एक अलग सार्वभौम सत्ता की स्थापना करने की कोशिश करें। वे तो चाहते थे कि भारत सारे विश्व में अज्ञान का विनाश करके वेदान्त रूपी ज्ञान की ज्योति फैलाने का लक्ष्य बना कर चले। वेदान्त के बल पर भारत दिग्विजय करे। अतः उन्होंने कहा कि "नए भारत के लिए वेदान्त दर्शन ही सर्वश्रेष्ठ है।"[12]

औपनिवेशिक गुलामी से मुक्ति पाने के लिए भारत को कैसा राजनैतिक मार्ग चुनना चाहिए, इस बारे में विवेकानन्द के विचार स्पष्ट थे : "यदि सार्वभौम शाश्वत धर्म इस आन्दोलन को संचालित करे तो हमारे उच्चतर उद्देश्य की पूर्ति होगी।"[13] अर्थात् भारत एक समर्थ राष्ट्र बनकर विश्वभर में अज्ञान से संघर्ष करते हुए सम्पूर्ण मानव मात्र में ऐसी चेतना भर देगा कि कोई किसी का शत्रु नहीं होगा अपितु सारी मानव जाति लोक कल्याण की भावना से भरी होगी।[14] लेकिन वें जानते थे कि भारत उस समय जिस स्थिति में खड़ा था, उस स्थिति में उसे पहली लड़ाई उपनिवेशवाद के खिलाफ ही लड़नी होगी। राष्ट्रीय स्वाधीनता पाने के लिए ऐसा करना अनिवार्य था। विवेकानन्द जानते थे कि भारत द्वारा एक ही दिन में उपरोक्त राष्ट्रीय लक्ष्य हासिल नहीं किए जा सकते हैं। सब कुछ क्रमशः एक–एक करके होगा। इसी कारण उन्होंने कहा थाः

"मुझे तो सर्वप्रथम अपने संगठन रामकृष्ण मिशन को धारदार और सक्रिय करना है। ऐसा होने पर मुझे आश्वासन मिल जायेगा कि भारत में मानव कल्याण की एक सतत् धारा प्रवाहित हो गई है जिसे कोई भी ताकत नहीं रोक सकती। और तब मैं निश्चिन्त होकर सो जाऊँगा।"[15]

स्वामी विवेकानन्द गहरी राजनैतिक दूरदर्शिता रखते थे उन्होंने भविष्यवाणी करते हुए कहा था कि अगले पचास वर्षों के भीतर भारत स्वाधीन हो जाएगा। परन्तुः

"जिस प्रकार आमतौर पर देश स्वाधीन हुआ करते हैं, भारत उस प्रकार स्वाधीन नहीं होगा। बीस वर्षों के भीतर ही विश्व के एक महायुद्ध होगा। पाश्चात्य देश यदि भौतिकवाद का त्याग नहीं करते हैं तो युद्ध होना अनिवार्य है। महायुद्ध के बाद भारत को स्वाधीनता पाने से कोई रोक नहीं पाएगा। परन्तु स्वाधीन भारत क्रमशः पाश्चात्य भौतिकवाद को अपना लेगा। उधर अमेरिका आदि देश धीरे–धीरे

आध्यात्मिक होंगें। वे भौतिकवाद के शिखर पर पहुंचकर समझ जाएंगे कि भौतिक वस्तुएं शान्ति नहीं दे सकती।"[16]

इसी तरह उन्होंने 1897 में इंग्लैंड में कहा था कि "यदि तुम भारत में मिशनरी (धर्म प्रचारक) भेजना बंद नहीं करोगे तो पचास वर्ष बाद ही इंग्लैंड भारत से अपना बोरिया–बिस्तर बांधकर चला आयेगा।[17]

हालांकि स्वामी विवेकानन्द सक्रिय राजनीति से दूर रहें, लेकिन फिर भी राष्ट्रीयता के धार्मिक तथा आध्यात्मिक पक्ष का प्रतिपादन कर वे प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से सांस्कृतिक राष्ट्रवाद की विचारधारा को आगे बढ़ा रहे थे। महान् राष्ट्रवादी नेता सुभाष चन्द्र बोस के अनुसार उन्होंने अपने देशवासियों से स्पष्ट कहा था कि "भावी 25 वर्षों तक हमें अपने अन्य देवी–देवताओं को हटा देना चाहिए। फिलहाल 'भारत माता' ही एक ऐसा ईश्वर है जिसे जगाना है। उसमें सभी कुछ समाया हुआ है।"[18] जाहिर है, देशभक्ति का एक महान आदर्श उन्होंने भारतीयों के सम्मुख रखा और उन्हें प्रेरणा दी कि वे राष्ट्रोत्थान तथा मानव उत्थान के महान् कार्य हेतु एकजुट हों।

एक धार्मिक नेता होते हुए भी विवेकानन्द का हृदय राष्ट्रीयता से ओतप्रोत था। उन्होंने देश की राजनीति में कभी भी भाग नहीं लिया, परन्तु अपनी लेखनी द्वारा उन्होंने सदैव राष्ट्रीय चेतना का ही पोषण किया। बोस के शब्दों में, "स्वामी विवेकानन्द का धर्म राष्ट्रीयता को उत्तेजना देने वाला धर्म था। उनके उद्‌गारों से लोगों में आत्मनिर्भरता और राष्ट्रीय स्वाभिमान के भाव जागे।"[19]

बेशक विवेकानन्द के हृदय में भारतीय संस्कृति व हिन्दू धर्म के प्रति अटल विश्वास विद्यमान था। परन्तु वे संकीर्ण व साम्प्रदायिक सोच नहीं रखते थे। अपने देशवासियों को उनका यह स्पष्ट संदेश था कि "समानता, स्वतंत्रता, भ्रातृत्व, कर्मण्यता व लोकतन्त्र की भावना के लिए पश्चिमी बनो; परन्तु साथ ही साथ सांस्कृतिक अन्तर्भावना की दृष्टि से हिन्दू/भारतीय बने रहो।"[20]

वस्तुतः विवेकानन्द एक समन्वयवादी सुधारक थे। भारतीय अध्यात्म का पाश्चात्य भौतिकवाद के साथ तथा भारतीय वेदान्त का पाश्चात्य विज्ञान के साथ समंवय करके वे एक ऐसे आदर्श मानव समाज

की स्थापना पर जोर देते थे जिसमें असमानता, अन्याय, शोषण, निरंकुशता, गुलामी आदि के लिए कोई स्थान न हो।

वे पश्चिम के स्वतंत्रता, समानता एवं लोकतंत्र जैसे मूल्यों का पूर्व की आध्यात्मिकता से समंवय चाहते थे। संक्षेप में, औपनिवेशिक पराधीनता के उस दौर में विवेकानन्द की शिक्षाओं ने देशवासियों के समक्ष आध्यात्मिक एवं सांस्कृतिक राष्ट्रवाद का एक आदर्श प्रस्तुत किया। उन्होंने भारतवासियों को चेतावनी दी कि पाश्चात्य देशों की भौतिकतावादी संस्कृति का अंधानुकरण भारत के उत्थान में कभी सहायक सिद्ध नहीं हो सकता।

विवेकानन्द ने हिंदू धर्म की ऐसी तमाम रूढ़िवादी परम्पराओं का भी पुरजोर खण्डन किया जिसके चलते देश में सामाजिक विभेद व छुआछुत जैसी बुराईयां आ गई थी। उन्होंने राष्ट्र–निर्माण हेतु ज्ञानयोग, कर्मयोग, भक्तियोग का आदर्श प्रतिपादित किया और हिन्दू धर्म के मानवतावादी एवं सार्वभौमिक मूल्यों को रेखांकित किया। उन्होंने बताया कि धर्माचरण दरिद्रता में संभव नहीं है । वस्तुतः दरिद्रता निवारण ही सच्चा मानव धर्म है।[21]

स्वामी विवेकानन्द ने भारत पर राज कर रहे अंग्रेजों के द्वारा किये जा रहे भारत विरोधी दुष्प्रचार के खतरों को भली–भांति भांप लिया था। इसलिए उनके तमाम् कार्यो का एक अन्तर्निहित उद्देश्य अंग्रेजी दुष्प्रचार का जवाब देना भी था। अतः उन्होंने परोक्ष रूप अक्सर अंग्रेजों और अंग्रेजी राज की आलोचना की। उन्होंने यह दर्शाया कि किस तरह अंग्रेज भारत एवं अन्य देशों में रक्त पिपासु तथा शोषक लोगों के रूप में पहुंचें। इस सन्दर्भ में उन्होंने लिखाः हम देखते हैं कि दुनिया के सर्वाधिक सम्पन्न ईसाई राष्ट्र रहे इंग्लैण्ड ने लगभग दो करोड़ पचास लाख ऐशियाई लोगों को अपने कदमों तले रोंदा है।"[22] भारतीय इतिहास को उद्धृत करते हुए विवेकानन्द ने बताया कि अंग्रेजो ने भारतीयों के प्रति ऐसी बर्बर नीति को अपनाया था जिसकी इतिहास में और कोई मिसाल नहीं मिलती। मुसलमानों के साथ अंग्रेजों की तुलना करते हुए उन्होंने लिखा कि काफी लूटपाट व हत्याओं के बावजूद मुसलमानों ने इस देश को विरासत के रूप में शानदार इमारतें दी, परन्तु अंग्रेजों ने "शराब की टूटी बोतलों" के अतिरिक्त कुछ नहीं दिया है।[23]

विवेकानन्द ने इस बात को भलीभांति पहचान लिया कि भारत को सम्पन्न करने के नाम पर अंग्रेज भारतीयों का शोषण कर रहे है ं और इसे दिन–ब–दिन दरिद्र बनाते जा रहे हैं। अगर उनकी भारतीयों के साथ जरा भी सहानुभूति होती तो उनके राज में लाखों भारतीय भुखमरी और अकालों के कारण मारे नहीं जाते। उन्होंन` परोक्ष रूप से अंग्रेजों की आलोचना करते हुए कहा कि "वे ऊपरी रूप से (भारत में) ईसाई धर्म के महान सन्देश अर्थात् प्रेम का प्रचार करते हैं। परन्तु उनके हृदय से रक्त–पिपासा भरी हुई है, उनके हाथ खून से रंगे हैं। ऐसे में, ईश्वरीय न्याय का चाबुक उन पर एक दिन पड़ेगा।"24

इस प्रकार स्पष्ट है कि स्वामी विवेकानन्द अंग्रेजी राज के प्रखर आलोचक थे। अंग्रेजों की आलोचना के पीछे उनका मूल लक्ष्य भारतीयों में राष्ट्रीय चेतना का प्रसार करना था। वे भारत में एक नई सांस्कृतिक एवं राष्ट्रीय क्रान्ति लाना चाहते थे और उसके जरिए एक नए भारत का निर्माण करना चाहते थे। वे चाहते थे कि जो लोग सदियों से दमन व अन्याय का शिकार रहे हैं, वे नए भारत में शान्ति व खुशी के वातावरण में सांस ले सकें। इसी सन्दर्भ में उन्होंने कहा किः

"नए भारत का निर्माण हल चलाने वाले किसान की कुटिया से हो; मछुआरे, चर्मकार, तथा मेहतर के हृदय से हो।.....नए भारत की चेतना जंगलों, पहाड़ों और मैदानों से उभरे।"25

जाहिर है, स्वामी विवेकानन्द सांस्कृतिक चेतना की ज्वाला का प्रसार देश के कोने–कोने में करना चाहते थे। वे कहा करते थे किः

"स्वयं प्रकाशवान बनो व प्रकाश को चारों तरफ फैला दो। कार्य करो, करते जाओ...... (एक दिन) हम अवश्य सफल होंगें । काम ऐसे करो कि सारा कार्य मानो आपको ही करना है। आपकी ओर आने वाली शताब्दियां देख रही है। भारत का भविष्य आप पर निर्भर है।"26

स्वामी विवेकानन्द के दिल में हमेशा औपनिवेशिक हुकूमत से त्रस्त अपनी मातृभूमि एवं उसके लोगों के प्रति गहरी भावनाएं मौजूद रही। वे भारत–भूमि को उनकी गुलामी से निजात दिलाना चाहते थे। इस सन्दर्भ में लाहौर में दिए गए एक भाषण में उन्होंने जो कहा, वह काफी महत्त्वपूर्ण थाः

"गुलामों की तरह बने रहना छोड़ दो। अगले पचास वर्ष के लिए यही आपका सूत्र–वाक्य होना चाहिए। यही हमारी महान् भारत माता के लिए शुभ होगा । हमें अपने दिमाग से सभी प्रकार के निरर्थक देवी–देवताओं को निकाल देना चाहिए। हमें केवल एक ईश्वर की आवश्यकता है, वह है : भारत, जो हमें जगाए और एक राष्ट्र बनाए । हर जगह उसके हाथ हों, पैर हों; हर जगह उस के कान हों।27

स्वामी विवेकानन्द की उपयुक्त वाणी का बेशक उस समय लोगों की राजनैतिक चेतना पर गहरा असर पड़ता था जिसने उनमें राष्ट्रीय स्वाभिमान जगाने में मदद की। उन्होंने लोगों को यकीन दिलाया कि उनके (भारतीयों के) पास बुद्धि है और धन भी है और बाकि की चीजें भी है। परन्तु उनमें उत्साह व निर्भयता की कमी है। केवल इन्हीं अवगुणों के कारण भारतीय अंग्रेजी राज्य के अधीन कष्ट भोग रहे है। इसलिए वे लोगों को बार–बार 'जागृत होने' व 'निर्भय बनने' का आहवान् करते थे। वे कहते थेः "यह एक महान् तथ्य है कि शक्ति ही जीवन है और कमजोरी ही मृत्यु है।"28

स्वामी विवेकानन्द के इस प्रकार के शब्दों ने भारतीय जनगण में अभूतपूर्व उत्साह, साहस और आत्मविश्वास का संचार किया और उनमें ब्रिटिश साम्राज्यवाद के विरूद्ध सोचने की हिम्मत जगाई। इस तरह उन्होंने हजारों प्रबुद्ध भारतीयों के लिए एक प्रेरणा स्त्रोत का काम किया। इसलिए इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि 19वीं या 20वीं सदी में सामने आए भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन के नेताओं पर किसी भी अन्य समाज सुधारक की अपेक्षा स्वामी विवेकानन्द का सर्वाधिक प्रभाव पड़ा था। वास्तव में उनके भाषणों व लेखों का देश के नवोदित प्रबुद्ध वर्ग पर इतना प्रभाव पड़ा था कि इनके परिणामस्वरूप एक नई भारतीय राष्ट्रीय चेतना का विकास हुआ। अनेक लोगों ने उनसे 'कर्मयोग' का सन्देश ग्रहण करते हुए स्वयं को राष्ट्र–सेवा हेतु समर्पित कर दिया। कुल मिलाकर, विवेकानन्द की शिक्षाओं ने भारतवासियों में सांस्कृतिक राष्ट्रवाद की चेतना को सींचा जिसके चलते वे राष्ट्रीय स्वतंत्रता के महत्त्व को समझने लगें। विशेषकर 1897 में कोलम्बों से अलमोड़ा से बीच उन्होंने जो यात्रा की थी, उस यात्रा का तो राष्ट्रीय चेतना के प्रसार में विशेष महत्त्व है। उल्लेखनीय है कि यह वह समय था कि भारत में लार्ड कर्जन नामक एक नए साम्राज्यवादी वायसराय का आगमन हुआ था। उसकी साम्राज्यवादी नीतियों से परेशान भारतीयों को विवेकानन्द के विचारों में एक तरह से मुक्ति–मार्ग मिलता नजर आया। इसलिए विवेकानन्द

द्वारा स्थापित रामकृष्ण मिशन बाद में राष्ट्रवादियों व क्रान्तिकारियों की आश्रयस्थली के तौर पर उभरा।[29]

4.3 राष्ट्रीय नेताओं पर प्रभाव

1918 में रोलेट कमेटी रिपोर्ट में इस बात को रेखांकित किया गया था कि बीसवीं सदी के प्रथम दशक के दौरान स्वतन्त्रता समर्थक मुहीम चलाने वाले भारतीय राष्ट्रीय नेताओं पर स्वामी विवेकानन्द का कितना गहरा प्रभाव पड़ा था।[30] इस तथ्य से जाहिर होता है कि भारत में राष्ट्रीय जागरण उत्पन्न करने में उनका कितना महत्त्वपूर्ण योगदान रहा था। विवेकानन्द ने एक बार यह भय प्रकट किया था कि ब्रिटिश सरकार उन्हें गोली से उड़ा देगी। लेकिन उन्हें लोगों पर अपने प्रभाव का भी अहसास था और उनका यकीन था कि साम्राज्यवादी शक्ति का ऐसा कोई भी कदम देश में हिंसा को जन्म दे सकता है। इसलिए उन्होंने यह भी कहा था कि उनका ऐसा कृत्य उनके ताबूत में पहली कील के समान होगा और मेरी मृत्यु पूरे देश में एक ज्वाला को जन्म दे देगी।"[31]

1893 में जब विवेकानन्द अपने ऐतिहासिक मिशन के लिए अमेरिका रवाना हुए थे, उस समय भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस अपने शैशवकाल में थी। इसके आठ वर्ष के बाद जब इसका अधिवेशन कलकत्ता में हुआ, उस समय विवेकानन्द अपनी मृत्युशैय्या पर थे। इस कारण उनसे मिलने के लिए कांग्रेस के अनेक प्रतिनिधि वैलूर मठ पहुंचे थे वे यह देखकर खुश हुए थे कि कांग्रेस सभी भारतीयों को अपने दायरे में लाने का प्रयास कर रही है। परन्तु उन्होंने यह जानकर निराशा भी व्यक्त की कि इसके नेता विदेशी सरकार के आगे क्षुद्र चीजों के लिए भीख मांग रहे हैं।[32]

यद्यपि विवेकानन्द की बात सही थी, लेकिन कांग्रेसी नेताओं में उस समय कुछ अपवाद भी थे। जैसे 'लाल–बाल–पाल' सरीखे गरम दल से जुड़े नेताओं पर विवेकानन्द की विचारधारा का गहरा प्रभाव पड़ा था। बालगंगाधार तिलक ने 1907 में जब कांग्रेस के मंच पर अपना कार्यक्रम रखा, उस समय उन्होंने यह स्पष्ट किया था कि वे विवेकानन्द की इस शिक्षा पर चल रहे हैं कि हमें निर्भय और सशक्त बनना चाहिए। इसलिए उन्होंने यह लिखा कि "भारत को जाग्रत करने में विवेकानन्द के योगदान ने उनको शंकराचार्य के स्तर का नेता बना दिया है।"[33] तिलक व उनके अनुयायियों ने उन्हीं से प्रेरित

होकर बंगाल और देश के अन्य भागों में स्वदेशी आन्दोलन को आगे बढ़ाया। ये सब लोग 'अतिवादी' कहलाए जिनमें बंगाल से उभर कर आए अरबिन्दों घोष व बिपिन चन्द्र पाल भी शामिल थे। इन दोनों नेताओं पर भी विवेकानन्द का प्रभाव पड़ा था। बिपिन चन्द्र पाल ने इस तथ्य को अपनी एक रचना में स्वीकार भी किया था जिसमें उन्होंने लिखा था कि "स्वामी विवेकानन्द के नेतृत्व में उभरे 'नव वेदान्तवाद' से उन्होंने काफी कुछ ग्रहण किया है।"[34] इसी तरह ऐनी बेसेन्ट ने 1917 में कलकत्ता में हुए कांग्रेस के अधिवेशन में दिए गए अपने भाषण में खुद पर स्वामी विवेकानन्द के प्रभाव को स्वीकार किया था।

वस्तुतः भारत में उभर रहे अतिवादी आन्दोलन के तमाम् नेताओं पर स्वामी विवेकानन्द का प्रत्यक्ष या परोक्ष प्रभाव देखा जा सकता है। जैसा कि रविन्द्रनाथ टैगोर ने लिखा था कि विवेकानन्द के भाषणों ने बंगाली नौजवानों के साहसपूर्ण कृत्य ों को प्रेरित किया व उनमें राष्ट्र सेवा की भावना जगाई। यहां तक कि बंगाली क्रान्तिकारियों तक, जिनमें चटगांव शस्त्रागार लूट के क्रान्तिकारी भी शामिल थे, पर भी विवेकानन्द का प्रभाव देखा जा सकता है।[35]

ऐसा प्रतीत होता है कि बंगाल के स्वदेशी क्रान्तिकारियों ने उनकी (विवेकानन्द की) उस सीख को गंभीरता से ग्रहण किया था जिसमें उन्होंने कहा था कि हमें सिर्फ एक देवी अर्थात् 'भारत माता' को अपना ईश्वर मान लेना चाहिए। और 'भारत माता' की पूजा का विचार क्रान्तिकारियों की 'शक्तिपूजा' की परम्परा से मिलता–जुलता था जिसमें वे एक ऐसी देवी की पूजा करते थे जो उनके सामूहिक शत्रुओं का नाश करने हेतु उन्हें प्रेरित करती थी। उल्लेखनीय है कि विवेकानन्द के गुरु भी 'शक्ति' के उपासक थे और सम्भवतः इसी 'शक्ति' की विस्तृत राष्ट्रीय कल्पना विवेकानन्द ने 'भारत माता' की छवि के रूप में की थी। वस्तुतः विवेकानन्द ने ही बंगाल में 'शक्ति पूजा' की पद्धति की शुरूआत की थी। इसे अरविन्द घोष ओर बारिन्द्र घोष जैसे नायकों ने आगे बढ़ाया।[36] इस प्रकार 1920 के दशक में महात्मा गांधी के उदय से पहले भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन पर जिन क्रान्तिकारियों का प्रभाव रहा, उन सबके प्रेरणास्त्रोत विवेकानन्द रहें।

विवेकानन्द ने भारत के राष्ट्रीय नवनिर्माण के लिए जो विचार दिए थे, उनका देश के अनेक परवर्ती राष्ट्रीय नेताओं पर भी गहरा प्रभाव देखा जा सकता था । इन नेताओं में अरविन्द घोष, महात्मा गांधी, रविन्द्रनाथ टैगोर एवं सुभाषचन्द्र घोष के नाम तो मुख्य रूप से लिये जा सकते हैं।

अरबिन्द घोष :

बंगाला के महान क्रांतिकारी और आध्यात्मिक नेता अरबिन्द घोष स्वामी विवेकानन्द के विचारों से काफी प्रभावित थे और उन्होंने स्वयं को उनका 'अनुयायी' तक बताया था। वे राष्ट्रवाद सम्बन्धी विवेकानन्द की सांस्कृतिक एवं आध्यात्मिक अवधारणा से काफी प्रभावित हुए थे। वे यह मानते थे कि 'राष्ट्रवाद कोई राजनैतिक कार्यक्रम नहीं है बल्कि यह तो एक 'धर्म की तरह' है जो कि स्वयं ईश्वर से जन्म लेता है। ....राष्ट्रवाद अमर है और इसकी मृत्यु इसलिए नहीं हो सकती क्योंकि यह कोई नश्वर जीवित वस्तु नहीं, अपितु स्वयं एक ईश्वरीय ताकत है।"[37]

अरबिन्द घोष ने अपने लेखों और रचनाओं में इस बात को स्वीकार किया है कि उनके क्रांतिकारी चिन्तन पर स्वामी विवेकानन्द के आध्यात्मिक एवं राष्ट्रवाद सम्बन्धी विचारों का कितना अधिक प्रभाव था। विवेकानन्द की तरह वे भी मानते थे कि विश्व का एक प्राचीन एवं महान् राष्ट्र होने के नाते भारत को दुनिया में अपना एक 'मिशन' पूरा करना है। इस कार्य के लिए भारत को अपनी स्वतन्त्र नियति तय करने का अधिकार मिलना चाहिए। जाहिर है , वे ब्रिटिश औपनिवेशिक पराधीनता से मुक्ति की बात का आध्यात्मिक आधार प्रस्तुत कर रहे थे।[38]

विवेकानन्द की तरह अरबिन्द घोष भी इस बात पर जोर देते थे कि भारतीयों की ऐसे देशभक्ति की आवश्यकता है जिससे प्रेरित हो कर वे किसी भौतिक लाभ या पुरस्कार इत्यादि के लिए नहीं , बल्कि निष्काम भावना से आत्म–उत्सर्ग का क्रान्तिकारी मार्ग चुन सके। वे विवेकानन्द के राष्ट्रवादी दर्शन से कितने प्रभावित थे, यह उनके निम्नलिखित विचारों से पता चलता है :

"यह वह समय है जब राष्ट्र स्वदेशी से स्वराज की ओर उन्मुक्त हो रहा है। यह वह समय है, जब हम आत्मप्रकटीकरण से आगे बढ़ कर स्वराज हासिल करने के लिए पूर्णतः समर्पित हो चुके हैं।

....राष्ट्र की भावी सफलता इस बात पर निर्भर होगी कि वह अपनी पहचान, आस्था और लक्ष्यों में कड़ाई से यकीन बनाये रखने में कितना दृढ़ रहता है। हमारा लक्ष्य तब हासिल होगा जब भारत एक विश्व गुरु की भूमिका को अपनाते हुए वेदान्त दर्शन के आदर्श को हासिल करेगा।"[39]

इस तरह अरबिन्द घोष स्वामी विवेकानन्द के विचारों से काफी प्रभावित हुए थे उन्होंने उनसे प्रेरणा हासिल की और राष्ट्रवादी मार्ग पर चलने की कोशिश की। उन्होंने विवेकानन्द के आदर्शवाद को मानते हुए भारत के लोगों के लिए लड़ने का प्रण लिया।

घोष ने अपने भाषणों में उदारवादियों के संवैधानिक तौर–तरीके पर हमला किया। बाद में उन्होंने अपने राजनैतिक व धार्मिक विचारों के आधार पर 'आध्यात्मिक राष्ट्रवाद' के विचार का प्रतिपादन किया।[40] अरबिन्द घोष द्वारा प्रतिपादित 'स्वराज का सिद्धान्त' भी मूलतः स्वामी विवेकानन्द की विचारधारा पर आधारित था। वे भी भारत को जागृत करने के पक्षधर थे। उनका कहना था कि विवेकानन्द की विचारधारा भारत के प्राचीन गौरवमयी युग की याद दिलाती है जो भारत का 'स्वर्ण युग' था। घोष का मानना था कि "विश्व भारत को चाहता हैं, जबकि भारत स्वराज चाहता है और स्वराज हमें वैदिक सिद्धान्तों पर चल कर प्राप्त हो सकता है। ऐसे में राष्ट्रवाद का वास्तविक अर्थ भारत को उसकी प्राचीन पहचान पुनः दिलाना था।"[41] इस संदर्भ में उनका कहना था :

"प्रश्न यह है कि राष्ट्र का कौन सा आदर्श होना चाहिए। पहला यह कि वह अपनी इच्छाओं को मार कर अपने अतीत को भुला हीनता व असुरक्षा की भावनाओं के साथ जीता रहे। दूसरा यह कि वह अपने उन पूर्वजों की कुर्बानी को याद रखें जिन्होंने अपनी मातृभूमि के लिए अपने प्राण तक त्याग दिये थे; तथा उन्हें अपना कर स्वराज प्राप्त करें।"[42]

महात्मा गांधी :

स्वामी विवेकानन्द की तरह महात्मा गांधी भी मानव की एकता में विश्वास रखते थे। वे जो जीवन जीते थे, वह सिद्धान्तों पर टिका था। जाहिर है, गांधीजी विवेकानन्द से भी बहुत प्रभावित हुए थे। भारतीय समाज व संस्कृति के सम्बन्ध में विवेकानन्द के जो विचार थे, गांधीजी ने उनको आत्मसात किया था। वे एक व्यवहारिक चिन्तक थे। उनके विचार ऐसे थे जिसको हर व्यक्ति आसानी से समझ

सकता था। वे भले ही बीसियों वर्षों तक विदेशों में रहें, परन्तु इसके बावजूद पश्चिमी सभ्यता उनको बिल्कुल भी छू न सकी। उन्होंने भारतीय सभ्यता व संस्कृति को कभी नहीं छोड़ा। उन्होंने अफ्रीका में नस्लीय भेदभाव के विरूद्ध आवाज उठाई। वे शायद पहले ऐसे भारतीय नेता थे जिसने नस्लीय भेदभाव के विरूद्ध आवाज उठाई। जाहिर है, गांधीजी भी विवेकानन्द की तरह सार्वभौमिक मानवतावाद में यकीन करते थे[43]

स्वामी विवेकानन्द भी यह महसूस करते थे कि अंग्रेज भारतीयों के साथ नस्लभेदी व्यवहार करते हैं। इसलिए उन्होंने भारतीयों को कहा था कि बहादुर बनो, बहादुरों की तरह सोचो तथा कार्य करो। विवेकानन्द ने ज्यादा जोर वेदान्त दर्शन पर दिया और कर्मयोग की बात कही। महात्मा गांधी ने भी माना कि भारतीयों का जीवन वेदान्त विचारधारा पर आधारित है । वे हमेशा अपने पास *गीता* रखते थे ताकि वे लोगों को इसमें बताये 'निष्काम कर्म' के रास्ते के बारे में बता सकें। गांधीजी ने कभी भी यह दावा नहीं किया उनके विचार उनके अपने मौलिक विचार हैं। वे अपने आपको कभी इतना अहम नहीं मानते थे कि वे बाकि महापुरुषों व विद्वानों के बराबर हैं। जबकि हकीकत में उनके विचार बड़े महान थे। उदाहरणतः छुआछूत को मिटाने की बात करना उनका एक क्रान्तिकारी विचार था। बेशक यह समस्या भारतीय समाज की एक बड़ी समस्या बन चुकी थी। छुआछुत की समस्या को तमाम समाज सुधारकों ने एक बुराई बताया था। परन्तु गांधीजी ने माना कि यह प्रथा भी "भारतीय गुलामी की एक जड़ है।"[44]

इसलिए उन्होंने बड़ी निडरता से अस्पृश्यता सरीखी सामाजिक बुराईयों को समाप्त करने पर जोर दिया। विवेकानन्द की तरह उन्होंने भी तर्क दिया कि वेदों व उपनिषदों में छुआछूत जैसी बुराईयों का जिक्र नहीं है।[45]

गांधीजी के जो अहिंसात्मक सत्याग्रह सम्बन्धी सिद्धान्त थे, वे उन्हें काफी प्राचीन मानते थे। वे दावा करते थे कि उनके अहिंसात्मक सिद्धान्त तमाम नई समस्याओं को भी हल कर सकते थे ये सभी समस्याएं आधुनिक भारत में अंग्रेजी राज तथा उसके साथ आई विज्ञान व तकनीकी की हिंसा की वजह से आई थी।

महात्मा गांधी के आलोचकों के अनुसार उनके कई विचार पुराणपंथी थे तथा वे प्रगतिशील नहीं थे क्योंकि वे अतीत की परम्पराओं तथा व्यवस्थाओं को पुनर्जीवित करने की बात करते थे और पश्चिमी आधुनिकता तथा उद्योगवाद की मुखालफत करते थे ं। परन्तु उनकी इस आलोचना में गांधीजी के चिन्तक की क्रान्तिकारी भावना व लक्ष्य की अनदेखी हो जाती है। दरअसल इस रूप में गांधीजी विवेकानन्द की तरह थे। भारतीय अतीत और उसकी सांस्कृतिक परम्पराओं, संस्थाओं और आध्यात्मिक मूल्यों के मामले में विवेकानन्द का दृष्टिकोण भी काफी सकारात्मक एवं आग्रहपूर्ण था और वे आधुनिक भारत का निर्माण उसकी ऐतिहासिक परम्पराओं के आधार पर करना चाहते थे।[46]

विवेकानन्द से प्रेरणा लेते हुए गांधीजी ने भी ऐसा ही किया। अस्पृश्यता उन्मूलन, कुटीर उद्योगों पर बल तथा यहां तक कि अहिंसात्मक प्रतिरोध, सत्याग्रह तथा असहयोग जैसे उनके विचारों का आधार पाश्चात्य नहीं अपितु भारतीय मूल्य ही थे। उन्हीं मूल्यों में अपने विश्वास के आधार पर ही गांधीजी ने अस्पृश्यता उन्मूलन और दलितोत्थान की बात कही। इसी तरह पाश्चात्य उद्योगवाद को नकारते हुए उन्होंने परम्परागत ग्रामीण व कुटीर उद्योगों को अपनाने पर जोर दिया ताकि लोग औपनिवेशिक शोषणतन्त्र के अन्तर्गत उत्पन्न हुई अपनी गरीबी से निजात पा सके। हिंसा पर आधारित पाश्चात्य क्रान्तिकारी विचारों के स्थान गांधीजी ने अहिंसात्मक भारतीय धार्मिक एवं सांस्कृतिक परम्पराओं की बुनीयादी पर अपने अहिंसात्मक प्रतिकार एवं सत्याग्रह जैसे विचारों को विकसित किया।[47]

वस्तुतः महात्मा गांधी पर अनेक महापुरुषों का प्रभाव पड़ा था जिनमें गौतम बुद्ध, ईसा मसीहा एवं हजरत मोहम्मद से लेकर शंकराचार्य, रामकृष्ण परमहंस तथा विवेकानन्द जैसे महापुरुष शामिल थे। इन सभी महापुरुषों की सामूहिक विशेषता यह थी कि ये सब धर्म और अत्याधिकता के आधार पर समाज में क्रान्तियां लेकर आए थे। विशेषकर विवेकानन्द की तरह गांधीजी का अपने पैतृक धर्म अर्थात हिन्दू धर्म में गहरा यकीन था। हालांकि हिन्दू धर्म की उनकी अपनी ही एक मौलिक अवधारणा व व्याख्या थी जिसका हिन्दू रीति–रिवाजों, कर्मकाण्डों व संस्थाओं से अधिक लेना–देना नहीं था। उन्होंने भी विवेकानन्द की तरह हिन्दू धर्म की व्यापक एवं सार्वभौमिक व्याख्या की और इसकी हर उस चीज को नकार दिया जोकि संकीर्णता पर आधारित थी तथा तर्क एवं मानवता के खिलाफ थी।[48] हालांकि

गांधीजी स्वयं को एक 'सनातन हिन्दू' कहते थे, परन्तु उन्होंने कभी भी सनातन समाज व्यवस्था और मूल्यों को आँख मूंदकर कर स्वीकार नहीं किया बल्कि जातिभेद, लिंगभेद, रूढ़िवाद व अस्पृश्यता जैसी किसी भी प्रथा को 'सनातनी' मानने से स्पष्ट इन्कार कर दिया। इस मामले में उन पर विवेकानन्द का प्रभाव स्पष्ट तौर पर देखा जा सकता है जोकि उपरोक्त तमाम् सामाजिक बुराईयों का खण्डन करते थे और उनमें से किसी को भी भारतीय आध्यात्मिक परम्परा का हिस्सा मानने से इन्कार करते थे।

रविन्द्रनाथ टैगोर

बंगाल के महान् कवि तथा साहित्य के नोबल पुरस्कार से सम्मानित हुए रविन्द्रनाथ टैगोर पर भी स्वामी विवेकानन्द का प्रभाव देखा जा सकता है। 'गुरुदेव' के नाम से प्रसिद्ध टैगोर ने स्वयं इस विषय में लिखा था, "यदि आप भारत को जानना चाहते हो तो विवेकानन्द को पढ़ो। उनमें हर चीज सकारात्मक मिलेगी। विवेकानन्द का मत मानवीय चेतना की पूर्णरूप से जागृति पर बल देता है और इसलिए इसने हमारे युवा वर्ग को कर्मयोग एवं बलिदान के मार्ग पर चल कर मुक्ति हासिल करने के प्रेरणा दी।

वस्तुतः रविन्द्रनाथ टैगोर विवेकानन्द के भारतीय राष्ट्रवाद सम्बन्धी मौलिक विचारों से काफी प्रभावित हुए थे। इन विचारों ने उनकी राष्ट्रवाद सम्बन्धी अपनी समझ को विकसित करने में विशेष मदद् की थी। विवेकानन्द एक तरफ सर्वभौमिकवाद में यकीन करते थे और सम्पूर्ण मानवता को एक मानते थे, परन्तु इसके साथ–साथ वे भारतीय आध्यात्मिक एवं सांस्कृतिक विरासत पर भी गर्व करते थे और भारतीय संस्कृति की श्रेष्ठता में उनका यकीन था। उनका मानना था कि भारतीयों को पश्चिमी जगत् की कई श्रेष्ठ चीजों को अपनाते हुए भी पश्चिम का अन्धानुकरण करने की कतई आवश्यकता नहीं है, क्योंकि भारतीय सांस्कृतिक विरासत से ही भारत के लोग बहुत कुछ हासिल कर सकते हैं। यही नहीं, पाश्चात्य जगत् भी भारत की विरासत से कई चीजें (जैसे अध्यात्मवाद) ग्रहण कर सकता है। दरअसल विवेकानन्द विदेशी पराधीनता के दौर में भारतीयों में आई हीनता की भावनाओं से उनको निजात् दिलाना चाहते थे। विशेषकर वे अंग्रेजी राज द्वारा किए जा रहे इस दुष्प्रचार से अपने देशवासियों को उबारना चाहते थे कि भारतीय उनसे हर दृष्टि से हीन है।[50]

रविन्द्रनाथ टैगोर की राष्ट्रवाद सम्बन्धी अवधारणा पर विवेकानन्द के उपरोक्त विचारों पर असर पड़ा था। वे भी राष्ट्रवाद की संकीर्ण व्याख्या के विरुद्ध अन्तराष्ट्रीयवाद और मानवतावाद के आलोक में ही इसकी व्याख्या करते थे। परन्तु साथ ही वे उस सच्ची भारतीयता के भी पक्षधर थे जो भारतीय सांस्कृतिक व आध्यात्मिक विरासत और राष्ट्रीय गौरव पर टीकी थी। इसलिए उन्होंने विवेकानन्द से प्रेरणा लेने की बात करते हुए कहा कि भारतीयो ं को अपनी पहचान और अधिकारों के लिए दृढ़ता से खड़ा होना होगा। तभी वे विश्व में अपनी पृथक् पहचान बना सकते हैं।[51]

सुभाष चन्द्र बोस :

भारतीय स्वाधीनता संग्राम में विवेकानन्द से प्रेरणा पाने वाले एक अन्य बड़े महापुरुष सुभाषचन्द्र बोस थे। स्वयं बंगाली पृष्ठभूमि से उठकर आए बोस ने उनके हर भाषण और लेख को गहराई से पढ़ा था और अपने निजी जीवन और राजनैतिक आन्दोलन में उनके विचारों का अनुसरण किया था। विवेकानन्द की युवा शक्ति में गहरी आस्था थी और वे मानते थे कि भारत के राष्ट्रीय पुनर्उत्थान का कार्य उस का युवा वर्ग ही कर सकता है। उनके इस विचार से सुभाष चन्द्र बोस विशेष तौर पर प्रभावित हुए थे। वे स्वयं अपने बचपन व युवावस्था में विवेकानन्द के राष्ट्रीय नवनिर्माण सम्बन्धी आह्वान से प्रेरित रहे थे और इसी कारण राष्ट्रीय स्वाधीनता आन्दोलन में कूद पड़े थे। वे भी कर्म एवं सक्रीयता में यकीन करते थे और युवाओं के बल पर राष्ट्रीय मुक्ति संग्राम को निर्णायक दिशा में ले जाना चाहते थे।[52]

सुभाषचन्द्र बोस ने स्वयं अपनी पुस्तक ***'इण्डियन स्ट्रगल'*** में लिखा है कि जब वे 17 साल के थे, भी उन्होंने यह निश्चय किया था कि वे अपने देश के लिए सब कुछ करेंगें ताकि इसे अंग्रेजी राज से आजाद कराया जा सके। परन्तु उन्हें अपने स्कूल या कॉलेज के अध्यापकों से इस दिशा में प्रेरित करने वाला कोई विचार नहीं मिल रहा था जिस कारण उन्हें निराशा होती थी। परन्तु एक दिन उन्हें संयोगवश स्वामी विवेकानन्द की कुछ पुस्तकें मिल गई। इन पुस्तकों को उन्होंने बड़ी रुचि से पढ़ा और उन्हें इस बात को लेकर बड़ी प्रसन्नता हुई कि उन्हें वह 'आदर्श पुरुष' मिल गया है जिसकी उन्हें आवश्यकता थी।[53]

बोस ने विवेकानन्द के विचारों से मुख्यतः दो चीजें ग्रहण कीः प्रथम, मानवता की सेवा का विचार व दूसरे आत्मिक सुन्दरता का विचार। विवेकानन्द कहते थे कि मानव की सेवा ही मातृभूमि की सेवा है। इसी तरह वे यह भी कहते थे हमारी मातृभूमि 'अराधया देवी' है और इसमें रहने वाला हर एक व्यक्ति, चाहे वह गरीब है, अपंग है या मूर्ख ही है, हमारा भाई है।[54] बोस ने विवेकानन्द की इन बातों का गम्भीरता से अनुसरण किया और हर भारतीय से प्रेम किया और मातृभूमि के लिए अपना जीवन समर्पित कर दिया।

सुभाष चन्द्र बोस पर स्वामी विवेकानन्द के गुरु रामकृष्ण परमहंस का भी प्रभाव देखा जा सकता है जो असल में विवेकानन्द की पुस्तकों के माध्यम से ही उन तक पहुंचे थे। परमहंस के आत्म–चैतन्य एवं आत्म–निर्भरता जैसे सिद्धान्तों का बोस पर प्रभाव पड़ा था। उन्होंने एक बार अपनी माता को लिखे एक पत्र में कहा था कि "आत्म–चैतन्य के सिद्धान्त में यकीन करने वाला व्यक्ति कभी भी इस भौतिक जगत् से हार नहीं मानता।"[55]

सुभाष चन्द्र बोस ने स्वयं स्वीकार किया है कि विवेकानन्द का अध्ययन करने के बाद उनके जीवन में एक नया मोड़ आया। उन्होंने इसके बाद परिवार का मोह छोड़ दिया, सादगी से जीने लगे, और साधना करने लगे। साथ ही वे गरीब व जरूरतमंद लोगों की सेवा करने लगे और विशेषकर शोषितों और दलितों की सेवा हेतु विभिन्न स्थानों पर जाने लगें। उनके इन कार्यो को देख कर उनके दोस्त उन्हें 'सन्यासी' भी कहने लगे थे। बाद में बोस ने राष्ट्रीय नवनिर्माण एवं स्वाधीनता के लिए जब 'फारवर्ड ब्लॉक' तथा 'आजाद हिन्द फौज' को खड़ा किया, तब उन्होंने विवेकानन्द के इस विचार को ही फलीभूत करने का प्रयास किया कि युवा शक्ति के बल पर हम भारत का भाग्य बदल सकते हैं। इस तरह बोस ने भारत के युवाओं का मार्ग प्रशस्त किया जिस पर चल कर वे औपनिवेशिक राज से स्वाधीनता की लड़ाई लड़ सकें।[56]

अध्याय 5
mi lgkj ,o lkjk'k

5.1 प्रस्तावनाः *(Introduction)*

राष्ट्रवाद से सम्बन्धित प्राप्त तथ्यों में मात्र एक बात महत्वपूर्ण रूप से हमारे सामने आती है, वह है ''निजी स्वार्थों से हटकर राष्ट्र की भलाई।'' वास्तव में समाज व निजी स्वार्थ से सर्वोपरि राष्ट्र होता है। राष्ट्रीय भावना को विकसित करने में उन सभी निर्णायक सावयवों में पारस्परिकता, एकता, सौहार्दपूर्ण व्यवहार अपेक्षित होता है। राष्ट्र के सम्मुख आनेवाली विषम परिस्थितियों में जहाँ राष्ट्र की सुरक्षा व्यवस्था पर खतरे की आशंका होती है, वहाँ लोगों के एकजुट होने की भावना ही 'राष्ट्रवाद' है। राष्ट्रवाद की भावना में आत्मानुभूति की प्रासंगिकता को सभी समाजविदों, समाजवैज्ञानिकों तथा हमारे प्रमुख राजनेताओं ने स्वीकार किया है। अतः इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि राष्ट्रवाद आध्यात्मवाद का एक प्रमुख अंग है। अब तक जितने श्रीदर्शन एवं विचार उपलब्ध हुए हैं, वे सभी 'राष्ट्रवाद' के आध्यात्मिक सिद्धान्त की ओर संकेत करते पाये गये हैं, जो राष्ट्रीयता के प्रासंगिकता को सार्थक बनाने में सहायक रहे हैं।

भारतीय राष्ट्रवाद का प्रारम्भिक रूप 19वीं शताब्दी के पुनर्जागरण और सुधारवाद के रूप में सामने आया। ब्रिटिश साम्राज्यवादियों की सफलता ने देशप्रेमी भारतीयों को यह सोचने पर विवश कर दिया कि भारत पराधीन क्यों है तथा उसकी इस दुर्दशा को कैसे सुधारा जा सकता है ? उन्होंने पाया कि इसके लिए मध्य युगीन भारतीय समाज का एक आधुनिक राष्ट्रीय समाज में रूपान्तरण आवश्यक था। वे इस प्रयत्न में जुट गये। इससे 19वीं शताब्दी से भारत में पुनर्जागरण तथा सुधार का एक नया युग प्रारम्भ हुआ।

स्वामी विवेकानन्द के प्रादुर्भाव के समय अर्थात् 19वीं शताब्दी में भारत औपनिवेशिक पराधीनता का शिकार बन चुका था। साथ ही यह देश सामाजिक–आर्थिक दृष्टि से भी पतनोन्मुख हालात से जूझ रहा था। समूचा भारतीय समाज, विशेषकर हिन्दू समाज, प ूरी तरह धार्मिक रूढ़ीवाद एवं तरह–तरह के

अन्धविश्वासों के जाल में जकड़ा हुआ था। तत्कालीन हिन्दू धर्म के सम्बन्ध में महान पाश्चात्य सामाजिक चिन्तक मैक्स वेबर ने लिखा है, "हिन्दू धर्म दरअसल जादू–टोना, अन्धविश्वास और अध्यात्मवाद की खिचड़ी बनकर रह गया था।"[1]

स्वामी विवेकानन्द के जन्म के समय लगभग सारे भारत पर ब्रिटिश राज कायम हो चुका था। अंग्रेजों का राज एक औपनिवेशिक राज था जिसका मूल उद्देश्य भारत का शोषण करना था। प्लासी के युद्ध के पश्चात् देश में दमन एवं शोषण का दौर शुरू हुआ। 19वीं शताब्दी में भारत के आर्थिक एवं सामाजिक जीवन में अंग्रेजों का हस्तक्षेप बढ़ता जा रहा था। इस कारण सामाजिक, नैतिक और बौद्धिक रूप से देश पतन की ओर जा रहा था। आम जनता अनपढ़ थी। पंडित और मौलवी जैसे भी आम लोगों को बहकाते थे, वे वैसा ही किया करते थे। विशेषकर हिन्दू समाज काफी हद तक अंधविश्वासों और कुरीतियों का शिकार हो गया था।[2] अंधविश्वासों की बढ़ती संख्या के कारण समाज के पंडितों का प्रभुत्व भी बढ़ता गया। अधिकांश लोग ब्राह्मणवाद से त्रस्त थे। इसी विचारधारा के अंतर्गत बालिका वध, बाल विवाह, विधवा प्रथा, सती प्रथा और ऐसी ही अन्य सामाजिक बुराईयों को 'शास्त्रोचित' और 'धार्मिक' करार दे दिया गया था। इसी प्रकार जातपात, अस्पृश्यता और गुलामी जैसी घृणित सामाजिक कुप्रथाएं भी 'शास्त्रोचित' समझी गई और उन्हें विधि–सम्मत करार दिया गया।[3]

हमारे अध्ययनकाल में हिन्दू–धर्म के परम्परागत कानूनों और धार्मिक प्रथाओं ने स्त्रियों को बहुत ही निम्न स्तर पर धकेल दिया था। परम्परागत दृष्टि से औरतों की माँ और पत्नी के रूप में तो प्रशंसा की जाती थी, लेकिन एक व्यक्ति के रूप में उनका स्थान पुरुषों से बहुत नीचे था।[4] सती हो जाना या किया जाना, नदियों में कन्याओं का 'अर्पण', देवदासियों के रूप में शोषण सहना या भगवान जगन्नाथ के रथ के पहिए के नीचे पिसकर मर जाना आदिधार्मिक दृष्टि से 'पुण्य–कार्य' समझे जाते थे ं। हिन्दू समाज में महिलाओं को व्यक्तिगत स्वतन्त्रता नहीं थी, न ही उन्हें अपने व्यक्तित्व को विकसित करने का अधिकार ही था। इसी तरह हिन्दू समाज में जातिभेद भी लिंगभेद के समान एक बड़ी समस्या के रूप में पाया जाता था। जाति व्यवस्था पर आधारित भारतीय समाज की जड़ें अत्यन्त प्राचीन कालीन वर्ण व्यवस्था में पाई जाती थी। इस व्यवस्था में पाई जाने वाली ऊँच–नीच की अवधारणा के चलते

अस्पृश्यता जैसी धृणित सामाजिक संस्था भी अस्तित्व में आई जिसके अन्तर्गत अनेकों निम्न जातियों को 'अस्पृश्य' वर्ग का दर्जा दे दिया गया।[5]

उन्नीसवीं शताब्दी में अधिकांश भारतीयों का सामाजिक जीवन 'वर्ण–धर्म' के नाम पर पूर्णतः जाति प्रथा से संचालित था। इसका स्वरूप देश के विभिन्न क्षेत्रों में अलग–अलग था। एक जाति के लोग अपने से नीची जाति के लोगों द्वारा पकाया भोजन नहीं खाते थे। विभिन्न जातियों में परस्पर वैवाहिक सम्बन्ध निषिद्ध थे। छोटे–छोटी बातों पर 'जाति से भ्रष्ट होने के खतरे' से अन्तर्जातीय सम्बन्ध असम्भव से हो गए थे जिससे समाज अनेक खांचों में बंट गया था।[6] जातियों के कुछ व्यापक 'वर्ग' अस्तित्व में आ गए थे ; जैसे 'सवर्ण जातियां', 'द्विज जातियां' या 'उच्च जातियां', 'प्रभुत्वशाली जातियां', 'निम्न जातियां', 'अस्पृश्य जातियां' 'आदिवासी जातियां' आदि।

इन्हीं स्थितियों के मद्देनजर विवेकानन्द ने हिन्दू धर्म एवं समाज के उत्पन्न हो चुकी तमाम विकृतियों एवं कुरीतियों का खण्डन किया तथा हिन्दू धर्म को पुनजीर्वित करने के गम्भीर प्रयास किए। उनका मानना था कि हिन्दू धर्म एवं संस्कृति के पुनर्जीवन का भारत के 'राष्ट्रीय पुनर्जीवन' से गहरा सम्बन्ध है क्योंकि 'सांस्कृतिक राष्ट्रवाद' हेतु हिन्दू धर्म एवं संस्कृति ही एक बड़ी आधारशिला का काम कर सकती है। अपनी इसी समझ के आधार पर विवेकानन्द ने भारत में सांस्कृतिक राष्ट्रवाद का नवसृजन किया, भूले हुए आध्यात्मवाद को पुनर्जीवित किया और सामाजिक सुधार का मार्ग प्रशस्त किया। इस प्रकार आधुनिक भारत के लिए वे प्रेरणा, विश्वास और राष्ट्रीय गर्व के स्त्रोत बने।[7]

वस्तुतः स्वामी विवेकानन्द भारत के उस नवोदित प्रबुद्धवर्ग से सम्बद्ध थे जिसने देश में सांस्कृतिक पुनर्जागरण की नींव रखी। सर्वप्रथम यह पुनर्जागरण बंगाल में उभर कर आया जहां आधुनिक शिक्षा की प्रगति सर्वाधिक हुई थी। जीवन के प्रति आध्यात्मिक, विवेकपूर्ण और वैज्ञानिक दृष्टिकोण अपनाते हुए भारत में धार्मिक–सांस्कृतिक पुनर्रुद्धार आन्दोलन आगे बढ़ा। भारतीय पुनर्जागरण आन्दोलन का एक महत्त्वपूर्ण अंग सामाजिक–धार्मिक सुधार आन्दोलन थे। इस सम्बन्ध में सी॰एच॰ हाईमसाथ नामक इतिहासकार ने अपने विश्लेषण में भारतीय समाज सुधार आन्दोलन के इतिहास की तीन अवस्थाओं का वर्णन किया है। पहली अवस्था में सुधारकों ने धार्मिक–सामाजिक बंधनों के विरूद्ध व्यक्तिगत रूप से

विद्रोह किया। यह अवस्था राजा राममोहन राय के काल से सम्बन्धित थी। दूसरी अवस्था में बेहरामजी मेरवानजी मालाबारी और भारतीय सामाजिक सम्मेलन के प्रयत्नों के फलस्वरूप समाज सुधार आन्दोलन राष्ट्रीय स्तर पर उभरकर आया। तीसरी अवस्था में समाज सुधार के प्रश्न को राष्ट्र के सांस्कृतिक जागरण के साथ जोड़ दिया गया। इसे विवेकानन्द तथा कुछ अतिवादी राष्ट्रीय नेताओं के कार्यों से संबद्ध करके देखा जाता है। इसके आगे की अवस्था को हम उस काल से जोड़ सकते हैं जिसमें महात्मा गांधी के नेतृत्व में समाज सुधार भारतीय राष्ट्र के सर्वतोमुखी पुनर्निर्माण आन्दोलन का ही भाग बन गया।[8]

कुल मिला कर 19वीं शताब्दी में उभरे पुनर्जागरण एवं सुधार आन्दोलनों ने देश में धार्मिक व सामाजिक सुधार के साथ–साथ राष्ट्रीय चेतना जागृत करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की। इन आन्दोलनों ने भारत में सांस्कृतिक राष्ट्रवाद के उभार का मार्ग प्रशस्त किया। ऐसे में स्वामी विवेकानन्द द्वारा 'रामकृष्ण मिशन' की स्थापना तथा उनके सुधार आन्दोलन की पृष्ठभूमि को तैयार करने में उनके युग के चल रहा भारतीय पुनर्जागरण आन्दोलन एक बड़ा महत्त्वपूर्ण उत्प्रेरक था।

19वीं शताब्दी में देश के बदलते सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक और सांस्कृतिक परिदृश्य के दौरान विवेकानन्द का प्रादुर्भाव भारतीय इतिहास की एक महान घटना थी। वस्तुतः विवेकानन्द को प्रेरित करने में अकेले भारतीय पुनर्जागरण की भूमिका ही नहीं थी, बल्कि कई दूसरी अहम शक्तियों व तत्त्वों ने उनके व्यक्तित्व और विचारों को आकृति प्रदान की थी। उनके जीवन के आरम्भिक दौर में ही उनमें राष्ट्रीयता की भावना का विकास हुआ जिस पर उनके पिता का विशेष प्रभाव था। उन्होंने इस भावना को अपने जीवन के अन्तिम समय तक सहेजकर रखा। पिता के अलावा उन पर अनेक दार्शनिकों व मनीषियों का प्रभाव पड़ा था। उदाहरणतः अपनी शिक्षा के आरम्भिक काल में वे हरबर्ट स्पेंसर के सिद्धांतों पर विचार करने लगे थे। हालांकि स्पेंसरवाद उनकी बुद्धि की भूख को पूर्णतः शांत नहीं कर सका। जॉन स्टुअर्ट मिल की रचना "धर्म पर तीन निबंध" ने भी नरेन्द्र के बालकपन को झकझोर कर रख दिया था। उनके आशावादी विचारों, जो उन्होंने ब्रह्म समाज से आत्मसात किये थे, के स्थान पर मिल व स्पेन्सर जैसे पाश्चात्य चिन्तकों ने उसके दिमाग में एक अज्ञेवादी दर्शन का प्रवेश करा दिया था

जिसके चलते उन्हें धर्म पर दुविधा उत्पन्न होने लगी । हीगल का 'सार्वभौमिक धार्मिक सिद्धांत' भी विवेकानन्द की प्राकृतिक जिज्ञासा को शांत नहीं करा सका।[9] स्वामी विवेकानंद ने अपने युग के अन्य महान पाश्चात्य दार्शनिकों यथा हैवल, शौपन हैवर, इमैनुअल कांत, डार्विन आदि का भी बखूबी अध्ययन किया था। इसी से उनमें आलोचनात्मक एवं विश्लेषणात्मक दृष्टिकोण पनपा। इस कारण वे आंख मूंदकर किसी भी वस्तु अथवा विचार को स्वीकार नहीं करते थे।

अपनी आध्यात्मिक सन्तुष्टि के लिए विवेकानन्द एक के बाद दूसरे धार्मिक व्यक्तियों से भी मिलते रहे। पर किसी ने उनकी जिज्ञासा शान्त न की। उनकी खोज तब तक चलती रही जब तक उनको अपना गुरु अर्थात् रामकृष्ण परमहंस नहीं मिला। इस संदर्भ में रोमा रोलां लिखती हैं कि रामकृष्ण वर्षों से लोगों की धार्मिक पिपासा व जिज्ञासा को शान्त कर रहे थे उनके साथ हुई मुलाकातों ने बेशक नरेन्द्र के जीवन को पूरी तरह से बदल दिया था। हालांकि उन्होंने तुरन्त रामकृष्ण को अपना गुरु नहीं माना था। वे उनके आध्यात्मिक व्यक्तित्व की तरफ जरूर आकर्षित हुए, परन्तु उन्होंने किसी भी ऐसे विचार को कभी ग्रहण नहीं किया जिसकी रामकृष्ण तार्किक रूप से व्याख्या नहीं कर पाएं। वस्तुतः युवा नरेन्द्र को रामकृष्ण को अपना गुरु मानने में लगभग पांच या छः वर्ष का समय लगा था।

आध्यात्मिक व रहस्यवादी बातों को छोड़ कर यदि व्यवहारिक दृष्टिकोण से बात की जाए तो हम कह सकते हैं कि विवेकानन्द ने अपने गुरु रामकृष्ण से यह सीखा था कि लोगों के बीच में भाईचारे की भावना को स्थापित करने में मुख्य रुकावट अनेक धर्मों का वजूद व उनके मतभेद हैं। यह बाधा दूर होनी चाहिए। यह तभी संभव है, जब केवल मानवतावाद का पालन किया जाए और प्रेम का प्रचार किया जाए। इस प्रकार रामकृष्ण के धार्मिक विचारों का सार मुख्यतः दो बातों में किया जा सकता है। पहला, वे सभी धर्मों की एकता में विश्वास करते थे। दूसरा, उन्होंने कहा कि जीव ही ब्रह्म है। अतः ईश–कृपा–प्राप्ति नहीं, अपितु जीव की सेवा करना मनुष्य का धर्म है। उनके शिष्य विवेकानन्द ने उनके इस सन्देश को समझा और अपना पूरा जीवन पीड़ित जीवों अर्थात् गरीबों, दलितों और लाचारों की सेवा में लगा दिया।

स्वामी विवेकानन्द के विचारों पर हिन्दू धर्म के वेदान्त दर्शन का सर्वाधिक गहरा प्रभाव पड़ा था। वे कहते थे कि वेदान्त ही एक ऐसा साधन है जिसके द्वारा भारत विश्व में अपनी वह स्थिति प्राप्त कर सकेगा जो पहले थी। *भगवद्गीता* भी विवेकानन्द की प्रेरणा का एक महत्त्वपूर्ण स्त्रोत रही। उनके सिद्धान्तों यथा 'काम को काम के लिए करो', तथा 'अपने पड़ोसियों से भी उसी तरह प्यार करो जैसे आप अपने आप से करते हो' – की जड़े *गीता* में ही मिलती है। विवेकानन्द बुद्ध के सिद्धान्तों को भी मानते थे। एक जगह वे घोषणा करते हैं कि "भगवान् बुद्ध मेरे भगवान है।"[10] उनका मानना था कि वेदान्त की बौद्ध धर्म से कोई लड़ाई नहीं है।[11]

विवेकानन्द ने भारत के विभिन्न प्रदेशों और उनमें रहने वाले समुदायों की सामाजिक और आर्थिक स्थितियों का गहन अध्ययन किया था। उन्हें महसूस हुआ कि 'सोने की चिड़िया' कहलाने वाला देश अपनी अज्ञानता, निष्क्रियता और जड़ता के कारण पतन के गर्त में जा रहा है। भारत के दरिद्रों, पतितों व दलितों का कोई साथी नहीं था। उनके अनुसार, "वे दिन–पर–दिन डूबते जा रहे थे। क्रूर समाज उन पर लगातार चोटें कर रहा था।" वस्तुतः विवेकानन्द ने दीन–दुखियों की सेवा में ही अपना स्वर्ग पाया। उन्होंने कहा, "मेरा ईश्वर इन भूखे–नंगे लोगों में रहता है। इनकी सेवा ह ी मुझे अन्तिम सत्य तक ले जाएगी।"[12] उन्होंने 'दरिद्रनारायण' की पूजा को सबसे बड़ी पूजा माना।

विवेकानन्द ने भारत के नवनिर्माण हेतु व्यापक चिन्तन किया। सर्वप्रथम उन्होंने राष्ट्र–निर्माण के मार्ग में विद्यमान चुनौतियों को पहचाना। उन्होंने जाति प्रथा, जो उस समय एक संक्रामक रोग बन गई थी तथा जिसने भारत में रहने वाले सभी लोगों को अपनी चपेट में ले लिया था, को राष्ट्र निर्माण के मार्ग में मौजूद एक बड़ी चुनौति माना। अपने एक लेख "कास्ट प्रॉब्लम इन इण्डिया" में उन्होंने इस विषय पर अपने विचार प्रस्तुत किए हैं। जाति, समाज और धर्म के संबंधों के विषय में विचार करते हुए उन्होंने कहा था कि जाति व्यवस्था ऊपरी तौर पर धर्म से संबंधित लगती है। परन्तु असल में एक सामाजिक प्रथा है। सभी पूर्ववर्ती सुधारक इसे धर्म से संबंधित समझकर धर्म और जाति दोनों को एक साथ समाप्त करने की कोशिश करते रहें, इसलिए असफल रहें।[13]

विवेकानन्द के अनुसार जातीय भेदभाव के कारण देश को अनेक दुष्परिणाम भुगतने पड़े। इसी के कारण मध्यकाल तथा आधुनिक काल में भारत आए विदेशी आक्रमणकारियों के अल्पसंख्यक होते हुए भी भारतीयों को उनकी राजनैतिक दासता स्वीकार करनी पड़ी। जात–पात की व्यवस्था के कारण समाज दो ऐसे बड़े वर्गों में विभाजित हो गया था जिनमें एक वर्ग 'स्पृश्य' था और दूसरा वर्ग 'अस्पृश्य'। अस्पृश्यता अथवा छूआछूत की प्रवृत्ति अपने आप में सामाजिक असमानता का सबसे घृणित रूप थी। एक संवेदनशील सुधारक होने के नाते विवेकानन्द के दलित वर्ग की दुर्दशा कदापि स्वीकार्य नहीं हो सकती थी। इसलिए उन्होंने अस्पृश्यता, इसे जन्म देने वाली व्यवस्था तथा इस संदर्भ में हिन्दुओं के पाखण्डपूर्ण आचरण पर तीव्र प्रहार किया। इस संदर्भ में उन्होंने कहा कि "पृथ्वी पर ऐसा कोई धर्म नहीं है जो हिन्दू धर्म की तरह इतने उच्च स्वर में मानवता के गौरव का उपदेश देता ह ो और पृथ्वी पर ऐसा कोई धर्म भी नहीं है, जो हिन्दू धर्म के समान गरीबों और निम्न जाति वालों का गला ऐसी क्रूरता से घोंटता हो।"[14]

स्वामी विवेकानंद के मतानुसार भारत के पराभाव का मुख्य कारण हमारे धार्मिक एवं सामाजिक दृष्टिकोण का संकुचित हो जाना ही था। इसलिए वे कहते थे, "हमारा सर्वोच्च लक्ष्य है : उदार बनाना, कूपमण्डूकता को त्यागकर बाहर आना और खुद को सार्वभौमिक बना देना। किन्तु हम अपने को नित्य लघुतर बनाते जा रहे हैं और अपने को सबसे अलग करते जा रहें हैं।"[15]

विवेकानन्द कहते थे कि कोई देश उसी अनुपात में उन्नत हुआ करता है जिस अनुपात में वहां के जन समूह में शिक्षा और ज्ञान का प्रसार होता है। भारतवर्ष की पतनावस्था का एक मुख्य कारण यह भी रहा है कि मुट्ठी भर लोगों ने देश के सम्पूर्ण ज्ञान पर एकाधिपत्य कर लिया। अतः समाज में व्याप्त सामाजिक कुरीतियों और समस्याओं का खात्मा जनसमूह को जागरूक कर और उनमें शिक्षा का प्रचार करके ही हो सकता है। संक्षेप में, विवेकानन्द ने सामाजिक विषमताओं एवं पतन को भारत में राष्ट्र–निर्माण के मार्ग में विद्यमान सबसे बड़ी चुनौति के रूप में देखा और इस पर सर्वाधिक प्रहार किया।

इसके साथ ही उन्होंने राष्ट्र–निर्माण के मार्ग में मौजूद दूसरी बड़ी चुनौति के रूप में औपनिवेशिक पराधीनता को पहचाना। स्वभाविक रूप से विवेकानन्द अंग्रेजों द्वारा भारत पर किए जा रहे अत्याचारों से बहुत दुःखी थे। उनको एक प्रबुद्ध भारतीय होने के नाते अपने व्यक्तिगत अनुभवों से भारत की औपनिवेशिक पराधीनता की स्थिति का भली–भांति ज्ञान हो गया था। इसलिए उन्होंने उस दौर में भी विदेशी शासन का आलोचनात्मक मूल्यांकन किया जिसका ऐतिहासिक रूप से काफी महत्त्व है।

अंग्रेजों की भारत को कई क्षेत्रों में देन को स्वीकार करते हुए भी विवेकानन्द मानते थे कि उनके राज में आध्यात्मिकता की यह धरती अपने इतिहास के गौरव को भूल गई। राम और कृष्ण की पवित्र धरती अब अपनी रचनात्मकता को खो रही थी। नए सिद्धान्त केवल भौतिकता पर आधारित थे। शिक्षा की नई पद्धतियाँ केवल ब्रिटिश शासन को बनाए रखने और उसका गुणगान करने वाली थी। लोगों द्वारा औपनिवेशिक रंग–ढंग से जीने की शुरूआत हो रही थी तथा पुराने विचारों व मूल्यों को 'अतार्किक' व 'अनावश्यक' माना जा रहा था। लोगों के पास किसी भी तरह की स्वतंत्रताएं नहीं थीं। वे तो केवल 'लकड़ी के पुतले' और 'पानी के बुलबुले' जैसे बन गए थे जो केवल अपने विदेशी शासकों के आदेशों का पालन कर रहे थे। इस प्रकार भारत एक "दिशाहीन युग" में प्रवेश कर चुका था।[16]

औपनिवेशिक व्यवस्था के प्रभावों के फलस्वरूप भारत में व्यापक दरिद्रता भी फैलती जा रही थी। उस युग में देश में चोतरफा परसती जा रही दरिद्रता की समस्या से विवेकानन्द बड़े दुःखी थे। वे इस समस्या के कारण भलीभांति समझते थे और इसका समाधान अपने आध्यात्मिक एवं राष्ट्रवादी चिन्तन के अन्तर्गत खोजना चाहते थे। विवेकानन्द ने यह भी महसूस किया कि अंग्रेजी राज के अन्तर्गत ईसाई मिशनरियों की गतिविधियों को इस विचार के साथ बढ़ावा दिया जा रहा था कि इससे 'भारतीय दिमाग' को जीता जा सकता है। इस पर बहुत सारा पैसा खर्च किया जा रहा था। इसलिए औपनिवेशिक काल में यह समय "सबसे अधिक आतंक का समय" था। वस्तुतः ईसाई धर्म प्रचारकों के भारत–विरोधी प्रचार का उनके मानस पर गहरा प्रभाव पड़ा था। उन्होंने उनके बारे में लिखा कि "वे भगवान के बारे में उपदेश देते हैं, परन्तु एक भी शब्द सत्य बोलने की हिम्मत नहीं करते हैं।"[17] इस सन्दर्भ में विवेकानन्द

अपने पत्रों आदि में जो बातें लिखते हैं, उनसे ऐसा प्रतीत होता है कि वे औपनिवेशिक गुलामी के उस दौर में भारतीयों की स्थिति के बारे में काफी चिन्तित थे।

कुल मिलाकर विवेकानन्द ने एक सच्चे राष्ट्रवादी दृष्टिकोण को आगे बढ़ाते हुए ब्रिटिश औपनिवेशिक शासन को भारत के राष्ट्र – निर्माण के मार्ग में उपस्थित एक बड़ी चुनौती माना। यह चुनौती बेशक भारतीयों के सामाजिक पतन के चलते ही उपस्थित हु ई थी। इसलिए उन्होंने यही कहा कि इसका मुकाबला अपने स्वावलम्बन व आत्मविश्वास को बहाल करके ही किया जा सकता है। बेशक विवेकानन्द का यह दृष्टिकोण अपने दौर के किसी भी देशभक्त भारतीय की तरह राष्ट्रवादी विचारधारा पर आधारित था। लेकिन वे जानते थे कि अंग्रेजों की औपनिवेशिक पराधीनता को चुनौती देना तभी सम्भव होगा जब हम सर्वप्रथम सामाजिक पतन सम्बन्धी अपनी खुद की समस्या से उबर सके। इसलिए उन्होंने स्वयं आगे बढ़ कर ऐसी पहल की जिससे राष्ट्र–निर्माण के कार्य में सहायता मिली और देश सांस्कृतिक राष्ट्रवाद की ओर उन्मुख हुआ। इस पहल को आगे बढ़ाने का एक सुनहरी अवसर नियति ने 1893 में धर्म सम्मेलन के रूप में उन्हें दिया जिसमें भाग लेने के बाद उन्होंने राष्ट्रीय पुनर्निर्माण सम्बन्धी अपने बड़े प्रयास आगे बढ़ाए। वस्तुतः विवेकानन्द द्वारा धर्म सम्मेलन में भाग लेने की घटना भारी ऐतिहासिक महत्त्व रखती है।

धर्म संसद में भाग लेने के लिए प्राथमिक रूप से उनका उद्देश्य था : भारत की गरीबी के निवारण के लिए समृद्ध अमेरिका का सहयोग प्राप्त करना।[18] विवेकानन्द ने धर्म–संसद से दिये गए अपने भाषण में हिन्दू धर्म को "सभी धर्मों का आधार" बताय ा, क्योंकि इसी ने संसार को सहिष्णुता और सार्वभौमिकता का पाठ पढ़ाया है। हिन्दू धर्म की मूल शिक्षा है कि एक–दूसरे को समझो और स्वीकार करो। अपने मत की पुष्टि के लिए उन्होंने वेदों के पदों के उद्धृत किया और सिद्ध करने का प्रयास किया कि हिन्दू धर्म में साम्प्रदायिकता, संकीर्णता, धर्मान्धता आदि के लिए कोई स्थान नहीं है। विवेकानन्द की हिन्दू धर्म सम्बन्धी बातें अमेरिकावासियों को काफी रोचक लगी। दरअसल अन्य सभी वक्ताओं ने अपने–अपने सम्प्रदाय की बात की थी। सिर्फ विवेकानन्द ही एकमात्र ऐसे वक्ता थे जिन्होंने 'सार्वभौमिक धर्म' की चर्चा की और सब धर्मों/मतों को 'सार्वभौमिक धर्म' के हिन्दू धर्म सम्बन्धी विचार

से आबद्ध कर दिया। इस कारण शिकागों में दिए उनके अभिभाषणों के बाद अमेरिकी समाचार पत्रों ने उन्हें "धर्म सम्मेलन के महानतम व्यक्ति" के रूप में चित्रित किया।[19]

लेकिन इतनी कीर्ति हासिल हो जाने के बावजूद विवेकानन्द को कोई प्रसन्नता का अनुभव नहीं हो पा रहा था। दरअसल वे निजी प्रसिद्धि पाने के लिए तो अमेरिका आए नहीं थे। वे तो यहाँ अपने पीड़ित देशवासियों के कल्याण का मार्ग खोजने के लिए पहुंचें थे। इधर विवेकानन्द की उपरोक्त 'धर्म विजय' का समाचार सुन कर सारे भारतवर्ष में उल्लास की लहर फैल गयी। उनकी इस सफलता का प्रभाव देश के राष्ट्रीय जीवन पर व्यापक रूप से पर पड़ा। केवल धर्म और अध्यात्म के क्षेत्र में ही नहीं, वरन् देश के सांस्कृतिक और सामाजिक जीवन पर भी उसका प्रभाव देखा जा सकता था। वस्तुतः इसे राष्ट्रीय गौरव की पुनःर्स्थापना के प्रारब्ध के रूप में देखा जा रहा था। लेकिन विवेकानन्द इसी उपलब्धि से संन्तुष्ट नहीं थे। अपितु अब वे इस उपलब्धि का लाभ उठाते हुए राष्ट्र के पुननिर्माण हेतु अपने व्यापक प्रयासों में सलंग्न हो गए।

मार्च 1896 में न्यूयार्क में स्वामीजी ने वेदान्त के प्रचार के लिए एक संस्था स्थापित की जिसका नाम 'फांउडेशन ऑफ वेदान्त सोसाइटी' रखा गया। इसका सभापति श्री फ्रांसिस एच॰ लिगेट को बनाया गया। विवेकानन्द का विश्वास था कि जब तक प्राच्य आध्यात्म और पाश्चात्य विज्ञान का संगम नहीं होगा, तब तक मानवता का कल्याण असंभव है। इसी उद्देश्य की पूर्ति हेतु उनकी संस्था ने उनके पाश्चात्य शिष्यों को भारत भेजा और भारतीय शिष्यों को अमेरिका एवं यूरोप बुलाया।[20] नवम्बर 1896 में विवेकानन्द ने अपने भारत स्थित साथियों को स्वदेश लौटने की सूचना दी। अब उनकी इच्छा मद्रास, कलकत्ता, बम्बई और प्रयाग में अपने सेवा केन्द्र खोलने की थी।

स्वदेश पहुँचने पर विवेकानन्द ने भारत के राष्ट्रीय पुर्ननिर्माण हेतु अपनी योजना प्रस्तुत करते हुए कहा कि "मेरी योजना है कि भारत में ऐसी संस्थाएं स्थापित हों जो हमारे शास्त्रों के सत्य को देश–देशान्तर में प्रसारित करने के लिए हमारे नवयुवकों को प्रशिक्षित करें। मुझे श्रेष्ठ मनुष्य चाहिए, और सब कुछ तो मिल ही जायेगा। बस मुझे चाहिए बलवान, उत्साही, विश्वासी व सच्चे नवयवुक। ऐसे सौ नवयुवक संसार में क्रांति ला देंगें।"[21] राष्ट्र के पुननिर्माण हेतु क्रान्तिकारी सन्देश देते हुए उन्होंने

कहा कि "अगले पचास वर्षों तक के लिए अपने मन से सब मिथ्या देवी–देवताओं को बाहर कर दो। हमारे अपने देशवासी ही हमारे ईश्वर हैं।"[22] वे समझा रहे थे कि भारत के राष्ट्र निर्माण का सूत्र है : स्वयं पर भरोसा करना, अपनी ताकत को समझना एवं निडर बनना।

विवेकानन्द की प्रबल इच्छा थी कि राष्ट्र एवं मानव सेवा का यह कार्य सुनियोजित और व्यवस्थित तरीके से हो। इसलिए उन्होंने जन सेवा कार्य का विस्तार करने के लिए अपने सभी संन्यासी और गृहस्थ साथियों व भक्तों को साथ लेकर 1897 में 'रामकृष्ण मिशन' नाम से एक संघ का गठन किया। उनका यह संगठन सामाजिक, मानवीय और सर्वभौम कल्याण के उद्देश्यों को समर्पित था। अधिकांश धार्मिक संगठनों के विपरीत यह आधुनिक जीवन में विज्ञान व तर्क की महत्ता के विरुद्ध नहीं था, अपितु विज्ञान के साथ चलना चाहता था। इसका लक्ष्य देश की आध्यात्मिक और भौतिक उन्नति में सहयोग देना और शिल्प कलाओं तथा उद्योगों को प्रोत्साहित करना था। इसका सबसे बड़ा लक्ष्य जनसाधारण का कल्याण था। साथ ही विभिन्न धर्मों व देशों के लोगों के बीच भ्रातृत्व की स्थापना करना एवं सार्वभौमिक धर्म का प्रचार करना भी इसका अहम उद्देश्य था।

विवेकानन्द ने रामकृष्ण मिशन का नामकरण अपने गुरु के नाम पर किया था। उन्होंने यह भी आवश्यक माना कि रामकृष्ण द्वारा प्रतिपादित विचार पद्धति का मिशन द्वारा प्रचार–प्रसार हो। परन्तु इस तथ्य से भी इन्कार नहीं किया जा सकता कि वे अपने गुरु की विचार–पद्यति की एक सार्वभौमिक एवं व्यापक व्याख्या का प्रतिपादन कर रहे थे। वस्तुतः यह उनकी मौलिक सोच थी जिसका अमिट प्रभाव उनके संगठन की विचारधारा एवं लक्ष्यों पर पड़ा। उदाहरणतः विवेकानन्द ने अपने संगठन की कार्य–पद्धति में भावुकता पर आधारित देव भक्ति को अधिक महत्त्वपूर्ण स्थान नहीं दिया। उनका विचार था कि बंगाल में अंधश्रद्धा के कारण ही पौरुष का पतन हुआ है।[23] वे राष्ट्र–भक्ति को अधिक महत्त्व दे रहे थे

रामकृष्ण मिशन की स्थापना के बाद 1897 ई॰ के वर्षान्त तक विवेकानन्द ने उत्तर भारत की यात्रा की। वे अपने समाज सेवी संगठन के प्रचार–प्रसार में कोई कसर नहीं छोड़ना चाहते थे। हालांकि उन दिनों उनका स्वास्थ्य क्रमशः गिरता जा रहा था। उन्हें इस बात का अहसास भी हो चुका था कि

उनके पास सम्भवतः अधिक वक्त नहीं बचा है । इसलिए वे अपने संगठन को मजबूती प्रदान करना चाहते थे। अपनी पंजाब यात्रा के दौरान विवेकानन्द ने विद्यार्थियों को उपदेश दिया कि ईश्वर में श्रद्धा के लिए पहले मनुष्य से प्रेम करना सीखना चाहिए। विभिन्न जातियों और उपजातियों के बीच अन्तर्जातीय विवाह को बढ़ावा देने और अछूतों की स्थिति को सुधारने का उपदेश दिया।[24] लगभग पाँच महीनों तक उन्होंने उत्तर भारत की यात्रा की और अपना संदेश लाखों लोगों को दिया। खराब स्वास्थ्य के साथ वे कलकत्ता लौटे।[25]

अब विवेकानन्द भागीरथी नदी के तट पर जल्दी से जल्दी एक स्थायी मठ का निर्माण करना चाहते थे। यहाँ पर बैलूर गाँव में स्वामीजी की अंग्रेज शिष्या मिस हेनरी एटा मूलर द्वारा दान में दी गई धनराशि से भूमि खरीदी गई। दूसरी अमेरिकी शिष्या मिसेज ओलीबुल ने मठ के निर्माण का सारा भार उठाया और मठ के संचालन के लिए एक लाख से अधिक रुपये भी दिये। लगभग एक वर्ष में मठ का निर्माण हो गया। शीघ्र ही बेलूर मठ अब रामकृष्ण मिशन की गतिविधियों का केन्द्र बन गया। स्वामीजी ने स्वरूपानन्द स्वामी को यहीं दीक्षा दी थी। वे अद्वैत आश्रम के अध्यक्ष भी बनें।[26]

22 मई 1898 को विवेकानन्द ने हिमालय में एक और आश्रम स्थापित करने की इच्छा से अल्मोड़ा की यात्रा की। उनके साथ में पाश्चात्य जगत से आए उनके शिष्य एवं शिष्याएं भी थे। सेवियर दम्पत्ति को प्रोत्साहित कर उन्हें यहां 'मायावती आश्रम' के निर्माण में लगा दिया। इसके अलावा नारी शिक्षा का श्रीगणेश करने के उद्देश्य से 12 नवम्बर 1898 को स्वामीजी ने कलकत्ता में एक बालिका विद्यालय प्रारम्भ कर उसकी बागडोर निवेदिता के हाथों में सौंप दी।[27]

उन्होंने रामकृष्ण मिशन के माध्यम से अपने अनुयायियों को अनाथालय, चिकित्सालय और जन शिक्षा केन्द्र खोलकर 'दरिद्रनारायण' की सेवा करने की प्रेरणा दी।"[28] विवेकानन्द के प्रयत्नों से और बाद में उनके अनुयायियों के प्रयत्नों से रामकृष्ण मिशन की भारत तथा विभिन्न देशों में कुल मिलाकर 118 शाखाऐं कायम हुई। देश के विभिन्न भागों में स्थापित इसकी शाखाएं सांस्कृतिक और राष्ट्रीय पुनर्जागरण के कार्य में संलग्न हो गई।[29]

रामकृष्ण मिशन की स्थापना कर स्वामी विवेकानन्द ने 'समाज सेवा के जरिए राष्ट्र सेवा' का मिशनरी कार्य शुरू किया था। राष्ट्रीय पुनर्निर्माण हेतु यह उनका एक महान् योगदान था। अपने छोटे से जीवन काल में विवेकानन्द ने भारत को जागृत करने और उसे सशक्त बनाने का न केवल सूत्र खोज निकाला था, अपितु इस दिशा में महत्त्वपूर्ण कदम भी बढ़ा दिए थे। उन्होंने समझ लिया था कि महान भारतीय संस्कृति का गौरव पुनः जगाने का मार्ग धर्म एवं अध्यात्म सम्बन्धी बड़ी–बड़ी बातें में नहीं, अपितु जन–कल्याण एवं 'दरिद्र नारायण' की सेवा में नीहित है। इसी से 'राष्ट्रीय नवनिर्माण' की ओर आगे बढ़ा जा सकेगा।

विवेकानन्द ने अपने समग्र चिन्तन में राष्ट्र–निर्माण सम्बन्धी एक कार्यक्रम भी प्रस्तुत किया था। वस्तुतः राष्ट्रवाद सम्बन्धी जो सिद्धान्त उन्होंने प्रतिपादित किया था वह बुनीयादी रूप से आध्यातमिक प्रकृति का था। अर्थात् उनके राष्ट्र–निर्माण कार्यक्रम का सबसे अहम अंग भारत का आध्यात्मिक एवं सांस्कृतिक पुनर्जागरण था। वे मानते थे कि हमें अपने राष्ट्र के निर्माण का आधार अध्यात्मकवाद को बनाना होगा, क्योंकि हमें खुद पर किसी भी प्रकार के बाहरी व आन्तरिक आघात का सामना करने की शक्ति इसी से हासिल होगी। जब तक हमारे राष्ट्र की आत्मा आध्यात्मिकता रहेगी, तब तक विश्व की कोई भी शक्ति इसे तोड़ नहीं सकेगी। अपनी बात को प्रमाणिक आधार देते हुए वे कहते थे कि अतीत काल में विदेशी आक्रमणों एवं ऐसी ही अनेक अन्य आपदाओं का सामना करते हुए जिस तरह भारतीय जिन्दा रहें, उसके पीछे यही शक्ति विद्यमान थी। उपरोक्त ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य के मद्देनजर विवेकानन्द ने अपने राष्ट्र–निर्माण सम्बन्धी कार्यक्रम में इस बात पर जोर दिया कि यदि भारत को उठाना एवं जागृत करना है तो इसकी महान प्राचीन वैदिक संस्कृति के पुनर्उत्थान से ही ऐसा सम्भव हो सकेगा।[30]

विवेकाननद ने अपने देशवासियों को इस बात के लिए आगाह किया कि नए राष्ट्र का निर्माण पाश्चात्य संस्कृति की नकल के आधार पर नहीं, अपितु अपनी गौरवपूर्ण सांस्कृतिक विरासत व परम्पराओं के आधार पर करना होगा। हालांकि वे पश्चिम के विरोधी नहीं थे और पाश्चात्य जगत् की श्रेष्ठ चीजों को भी ग्रहण करना चाहते थे ं। लेकिन उनका यह मानना था कि पश्चिम के अन्धानुकरण से हमारी राष्ट्रीय अस्मिता को खतरा उत्पन्न होगा। जाहिर हैं उन्होंने अपने राष्ट्र–निर्माण कार्यक्रम का

आधार भारत की आध्यात्मिक एवं सांस्कृतिक विरासत को बनाया और इसी विरासत को सहेज कर आधुनिक राष्ट्र को खड़ा करने पर जोर दिया।

विवेकानन्द ने भारत के राष्ट्र–निर्माण हेतु जर्जर हो चुकी समाज व्यवस्था को सुधारने की अवश्यकता पर भी काफी जोर दिया। उन्होंने स्पष्ट रूप से उस स्थापित समाज व्यवस्था को नकार दिया जो व्यक्ति को समानता का अधिकार नहीं देती थी। उनके लिए वह समाज त्याज्य था जो मानव को मानव नहीं समझता। अतः उन्होंने राष्ट्र–निर्माण हेतु तमाम रूढ़ीवादी व्यवस्थाओं और परम्पराओं को तोड़ने पर बल दिया।[31] विवेकानन्द ने व्यंग्यात्मक शैली में हिन्दू धर्म एवं समाज में व्याप्त हो चुके विकारों का पर्दाफाश किया। उदाहरणतः उन्होंने पंडे–पुजारियों पर आरोप लगाया कि वे अपना प्रभुत्व बनाए रखने के लिए हिन्दू समाज में तरह–तरह के मिथ्या विश्वासों का प्रचार करते हैं और अंधविश्वासों तथा रूढ़ियों पर बल देते हैं।[32] ब्राह्मणवादी धर्म की स्पष्ट आलोचना करते हुए उन्होंने कहा था कि "गुरु और शिष्य का सुन्दर सम्बन्ध भी ग्रहित हो चुका है। गुरुवाद हमारे देश में बड़ा चलता हुआ धन्धा बन गया है।"

वस्तुतः विवेकानन्द भारत को पुनः गौरवशाली राष्ट्र बनाने के मार्ग में इसके समाज और धर्म में फैली कुरीतियों को सबसे बड़ी बाधा मानते थे। उनका मानना था कि रूढ़ीवाद, अंधविश्वास, दुर्बलता, आलस्य व कायरता आदि ने हमें हीन जाति बना दिया है।

उन्होंने साहसपूर्ण कहा कि "कायर और क्लीव बन मात्र गीता का अध्ययन करते रहने की अपेक्षा युवकों को खेल के मैदानों की आवश्यकता है।"[33]

अपने राष्ट्र–निर्माण सम्बन्धी दृष्टिकोण में विवेकानन्द ने जातिभेद व ऊंच–नीच की समस्या को भारतीय समाज की सबसे गम्भीर समस्या माना और समय रहते उसका हल करने का आह्वान किया। वे निम्न जातियों, अछूतों और गरीबों की दुदर्शा को देखकर बड़े दुःखी होते थे। हालांकि यह सत्य है कि विवेकानन्द 19वीं शताब्दी के ज्यादातर हिन्दू समाज सुधारकों की भांति ही वर्ण व्यवस्था का खण्डन नहीं करते थे। वे जाति व्यवस्था के विरुद्ध भी अधिक मुखर नहीं थे। वे मानते थे कि जाति में सबसे गरीब और सबसे धनी व्यक्ति बराबर माने जाते हैं और यह उसकी "सर्वोत्तम विशेषताओं में से एक" है।

ऐसा प्रतीत होता है कि विवेकानन्द अपने समय के अन्य उच्च वर्गीय समाज सुधारकों की तरह वर्ण एवं जाति जैसी व्यवस्थाओं के प्रति कुछ नरम या लचीला रुख रखते थे। फिर भी 'दरिद्र नारायण' एवं 'दबे–कुचले' लोगों के प्रति उनके अपार स्नेह के चलते यह भी स्पष्ट हो जाता है कि वे निम्न जातियों के पक्ष में तथा जातिभेद के विरुद्ध थे।[34] उल्लेखनीय है कि उस दौर में भारत के जाति आधारित समाज में औपनिवेशिक दखल के कारण कुछ नए तनाव उभर रहे थे। विशेषकर ब्राह्मणों व गैर–ब्राह्मणों तथा सवर्णों एवं दलितों के मध्य दक्षिण भारत के कुछ प्रान्तों में नए सामाजिक एवं राजनीतिक विवाद जन्म ले रहे थे। विवेकानन्द को इन विवादों के चलते राष्ट्र–निर्माण के मार्ग में उत्पन्न हो रही चुनोतियों का अहसास था। इसलिए उन्होंने भारतीय समाज में जाति–पांति पर आधारित विभिन्न जातियों के मध्य बढ़ते विवादों पर चिन्ता जाहिर की थी ।[35]

इसके साथ ही स्वामी विवेकानन्द ने अस्पृश्यता को "भारत का अभिशाप" बताते हुए इस घृणित कुप्रथा के लिए सवर्ण हिन्दुओं की तीखी आलोचना की थी। उन्होंने कहा था कि "हम हिन्दू नहीं है और वेदान्तिक भी नहीं। असल में हम हैं 'छुआछूत–पंथी'। रसोई घर हमारा मन्दिर है। पकाए जाने वाले बर्तन उपास्य देवता हैं और 'मत छुओ, मत छुओ' हमारा मन्त्र है! राष्ट्र के इस अन्ध–कुसंस्कार को यथा शीघ्र दूर करना होगा।"[36] भारत के अभिजात्य एवं सम्पन्न तबकों का आह्वान करते हुए विवेकानन्द ने कहा कि हरेक कुलीन व्यक्ति का यह कर्त्तव्य है कि नए राष्ट्र के निर्माण हेतु अपने कुलीन तन्त्र की कब्र वह स्वयं ही खोदे। और ऐसा जितना शीघ्र कर सके, उतना ही राष्ट्रहित के लिए अच्छा होगा क्योंकि इसमें जितना वह देर करेगा, उतनी ही हमारी व्यवस्था सड़ेगी। ऐसे में ब्राह्मण जाति का कर्त्तव्य है कि भारत की सब जातियों के उद्धार की चेष्ठा करें । ब्राह्मणेतर जातियों को ब्राह्मणों के समान ही संस्कार प्राप्त करने के लिए अपनी सारी शक्ति लगा देनी चाहिए।

विवेकानन्द ने अपने राष्ट्र–निर्माण सम्बन्धी कार्यक्रम में दलितों व गरीबों के उद्धार हेतु शिक्षा पर सर्वाधिक बल दिया। उनका विश्वास था कि कोई राष्ट्र उसी अनुपात में उन्नति करता है, जिस अनुपात में वहाँ के जनसमूह में शिक्षा तथा विद्या का प्रचार होता है।[37] दलित–उत्थान के लिए विवेकानन्द स्वयं दलितों के द्वारा ही उनकी मुक्ति के पक्षधर थे। अन्य वर्गों के लिए वे मात्र यहीं आवश्यक समझते थे

कि वे शिक्षित एवं जागरुक होने में उनकी सहायता करें। विवेकानन्द का यह विचार काफी महत्त्वपूर्ण एवं अग्रगामी था। उन्होंने चेताते हुए कहा कि वह समय आने वाला है कि हजार कोशिशें करके भी उच्च जाति के लोग निम्न जाति के लोगों को अधिक देर तक दबाकर नहीं रख सकेंगें।[38]

शिक्षा के सम्बन्ध में विवेकानन्द की धारणाएं बड़ी वैज्ञानिक थीं। उनका मत था कि ज्ञान मनुष्य में 'स्वभावसिद्ध' है। बाहर से कोई ज्ञान नहीं आता। सब कुछ भीतर ही है। उनके अनुसार आविष्कार का अर्थ है "मनुष्य द्वारा अपनी अनन्त ज्ञान–स्वरूपी आत्मा के ऊपर से आवरण को हटा लेना।"[39]

यह ध्यान देने योग्य है कि विवेकानन्द ने अपने राष्ट्र–निर्माण सम्बन्धी कार्यक्रम में महिलाओं की स्थिति में सुधार एवं महिला उत्थान जैसे मुद्दों को भी विशेष स्थान दिया। आधी आबादी को हाशिये पर छोड़ कर कभी–भी किसी राष्ट्र का निर्माण नहीं किया जा सकता । विवेकानन्द इस बात को भली–भांति समझते थे । इसलिए उन्होंने महिला उत्थान के प्रश्न को हमेशा अपने राष्ट्र–निर्माण सम्बन्धी कार्यक्रम में खास स्थान दिया।

विवेकानन्द स्त्रियों को बड़े आदर की दृष्टि से देखते थे। निजी जीवन में वे प्रत्येक स्त्री को माँ–बहन के रूप में पूजते थे। उन्होंने अक्सर अपने व्याख्यानों व लेखों में भारतीय महिला के प्राचीन पौराणिक 'आदर्श स्वरूप' का चित्रण किया और यह चित्रण उस समकालीन समाज के समक्ष किया जिसमें महिला के प्रति एक संकीर्ण दृष्टिकोण रखा जाता था। साथ ही उन्होंने राष्ट्र में महिलाओं के भविष्य से जुड़े सरोकारों पर भी व्यापक दृष्टि डाली थी। वे महिला को "राष्ट्रीय विकास की धुरी" मानते थे। विवेकानंद ने हिन्दुओं के सामाजिक एवं धार्मिक आदर्शवाद का वर्णन करते हुए लोगों का आह्वान किया कि "मत भूले कि तुम्हारी महिलाओं का आदर्श सीता, सावित्री, दमयन्ती हैं।" वे भारतीय इतिहास की कुछ महान् विरांगनाओं का जिक्र करते थे। वे अक्सर उन्हें कहते थे कि "आप ने शायद उस स्त्री (झांसी की रानी लक्ष्मी बाई) के बारे में सुना होगा, जो सन् 1857 के विद्रोह के समय अंग्रेजों के विरुद्ध लड़ी।" इसी तरह भारतीय इतिहास एक और महान मुस्लिम नायिका चान्द बीबी अथवा चान्द सुल्ताना (1556–1599) का कहानी का भी वे अक्सर जिक्र करते थे चान्द बीबी गोलकण्डा की रानी थीं जिसने अंग्रेजों से लोहा लिया था।

विवेकानन्द अक्सर कहते थे कि हम आधुनिक भारत के निर्माण के लिए ऐसी "महान् निर्भीक नारियां" तैयार करेंगे ˙ जो, "संघमित्रा, अहिल्याबाई और मीराबाई की परम्पराओं" को जारी रख सकेंगीं। ऐसी नारियां जो "वीरों की माताएं होने के योग्य हों, जो पवित्र हो और जो ईश्वरीय ज्ञान से परिपूर्ण हों।" विवेकानन्द ने भारतीय महिलाओं को स्वयं सशक्त बनने का आह्वान करते हुए कहा कि ऐसा तभी सम्भव होगा जब वे राष्ट्रीय गौरव की भावना से ओत– प्रोत होंगी : "मैं इस देश की नारियों से भी वही बात कहूँगा, जो पुरुषों से कहता हूँ : भारत में विश्वास करो। शक्तिशाली बनो, आशावान बनो और संकोच छोड़ो।"[40]

विवेकानन्द ने जोर देकर कहा कि नवीन राष्ट्र के निर्माण हेतु महिलाओं को शिक्षित होने के लिए साहस दिखाना होगा क्योंकि जिस तरह की घटनाएं समाज में उनके साथ घटित हो रहीं थी, उनके मद्देनजर यह आवश्यक था। उनके अनुसार राष्ट्र में सुधार तब तक नहीं हो सकता, जब तक महिलाओं की स्थिति में सुधार नहीं होता। उन्होंने महिला सशक्तिकरण पर बल देते हुए इसके लिए स्त्री को 'पूर्ण स्वतन्त्रता' देने की बात कही। उन्होंने कहा कि आधुनिक भारत में स्त्रियों द्वारा आत्मरक्षा के उपाय सीख लेना भी आवश्यक हो गया है। "झांसी की रानी जैसी भारत की अभूतपूर्व स्त्रियों" की तरह उनको भी शक्तिशाली एवं समर्थ बनना होगा।[41] विवेकानन्द के अनुसार भारतीय स्त्रियों में सेवा, स्नेह, दया, संतुष्टि व भक्ति जैसे कुछ श्रेष्ठ गुण जन्मजात रूप से पाए जाते हैं। शायद पृथ्वी पर और कहीं भी ऐसा नहीं मिलेगा। अतः उचित रीति से शिक्षा पाने पर भारतीय नारियां विश्व की 'आदर्श स्त्रियां' बन सकती हैं। वे लड़कियों को प्राथमिक शिक्षा ही नहीं अपितु उच्च शिक्षा प्रदान किये जाने के भी समर्थक थे। वे अक्सर कहते थे, "हिन्दू धर्म में तो स्त्रियों को शिक्षा देने का विरोध है ही नहीं।"[42] ऐसे में वे विवेकानन्द महिलाओं को आध्यात्मिक, वैज्ञानिक, तकनीकी, कला आदि सभी प्रकार की शिक्षा प्रदान किए जाने के पक्ष में थे। उनके अनुसार कुछ महिलाओं को 'सन्यासी जीवन के आदर्श' का पालन करने के लिए शिक्षित किया जाए।[43]

विवेकानन्द के अनुसार स्त्री शिक्षा से उनके आचरण में ही नहीं अपितु देश के तमाम लोगों के विचारों एवं आशाओं में भी 'क्रान्तिकारी परिवर्तन' होगा।[44] इसी कारण उन्होंने संकल्प लिया था कि

गृह–लक्ष्मियों में ब्रह्मविद्या के विकास के निमित वे एक मठ स्थापित करेंगें। विवेकानन्द ने अपनी उक्त योजना को स्पष्ट करते हुए बताया था कि उसमें धर्मशास्त्र, साहित्य, संस्कृत व्याकरण और साथ ही घर–गृहस्थी के सारे नियम तथा शिशुपालन आदि विषयों की शिक्षा भी दी जाएगी। "ऐसी चरित्रवती एवं धर्मभावपूर्ण प्रचारिकाओं द्वारा देश में स्त्री–शिक्षा का प्रसार होगा। इस प्रकार देश में सीता, सावित्री, गार्गी आदि आदर्श स्त्री चरित्रों का फिर से आविर्भाव हो सकेगा।"[45]

राष्ट्र निर्माण हेतु अपने स्त्री–उत्थान सम्बन्धी कार्यक्रम में विवेकानन्द ने हिन्दू समाज में व्याप्त स्त्री–विरोधी कुप्रथाओं का भी निषेध करने पर बल दिया। उन्होंने विधवा विवाह का समर्थन किया।[46] साथ ही उन्होंने बाल विवाह पर रोक लगाने पर बल दिया। जब अंग्रेजी सरकार ने न्यूनतम सहमति आयु कानून (Age of Consent Bill) द्वारा किसी पुरुष के लिए 12 वर्ष से छोटी कन्या के साथ सहवास करना दण्डनीय ठहराया, तब समाज के पोंगा–पन्थियों ने बड़ा कोलाहल मचाया कि इससे धर्म भ्रष्ट हो जाएगा, कलियुग आ जाएगा आदि। विवेकानन्द के अनुसार अंग्रेज शासक स्वभावतः ऐसी प्रतिक्रियाओं को ही देखकर भारतीयों पर तंज करते थे कि "वाह! इनका भी क्या धर्म है! और ऐसे ही व्यक्ति राजनीति के आन्दोलन करते थे, राजनीतिक अधिकारों की मांग करते थे।"[47]

वास्तव में विवेकानन्द को सर्वाधिक दबी–कुचली 'दुराचारिणी' स्त्रियों, यहाँ तक कि वेश्याओं समेत तमाम महिलाओं की चिन्ता थी। राष्ट्र हित में वे नारी समस्या को समग्र रूप से हल करने के हिमायती थे और महिलाओं को वे ऐसे समस्त अवसर प्रदान किए जाने के पक्ष में थे जो पुरुषों को उपलब्ध है।

वे अपने राष्ट्र निर्माण सम्बन्धी दृष्टिकोण के अन्तर्गत मानते थे कि समाज सुधार के बिना राष्ट्र की रचना कभी नहीं की जा सकती। ठीक इसी तरह, राष्ट्रवाद का विचार भी जर्जर एवं विभाजित हो चुके समाज को जोड़ने में सहायक हो सकता है। इसलिए देशवासियों में 'राष्ट्रीय गौरव' का भाव जगाने का आह्वान करते हुए वे कहते थे कि "गर्व से कहो कि मैं भारतवासी हूँ। हर भारतवासी मेरा भाई है। यह चिल्लाकर कहो कि ज्ञानी–अज्ञानी सभी भारतवासी मेरे भाई हैं।"[48]

इस प्रकार स्वामी विवेकानन्द का राष्ट्र–निर्माण सम्बन्धी दृष्टिकोण काफी सुविचारित एवं तर्कपूर्ण था। इसके अन्तर्गत वे मानते थे कि समाज सुधार एवं नवीन समाज का निर्माण राष्ट्र–निर्माण की

बुनियादी आवश्यकता है। उनके मन में दबे–कुचले वर्गो के प्रति करूणा, कल्याण तथा सामाजिकता की भावनाओं का सर्वोच्च स्थान था और गरीबों, दलितों एवं महिलाओं के उत्थान पर वे हमेशा बल देते थे। वस्तुतः विवेकानन्द अपने देश को ऊँचा उठाने को उत्सुक थे। सांस्कृतिक राष्ट्रवाद जागृत करने के लिए उन्होंने इस बात पर जोर दिया कि हमारे देश भारतवर्ष का चरित्र प्राचीन काल से ऊँचा रहा था। लेकिन बीच में 'विदेशियों के शासनकाल' के फलस्वरूप हम अपने सांस्कृतिक व राष्ट्रीय गौरव को भूल चुके थे। इसलिए उन्होंने कहा कि उनका उद्देश्य देश को "अंधकार से जगाकर प्रकाश में" लाना था।[49] विवेकानन्द के अनुसार सम्पूर्ण मानवता में एकत्व विद्यमान है, परन्तु मानव के गौरव की सर्वप्रथम उपलब्धि राष्ट्रीय धरातल पर ही हो सकती है।[50] इसलिए उन्होंने स्पष्ट शब्दों में कहा कि उनका प्रमुख ध्येय देश में राष्ट्रीय गौरव की भावना का विकास करना है।

बेशक स्वामी विवेकानन्द भारत ही नहीं, किसी भी राष्ट्र की स्वाधीनता के पक्षधर थे। उनके अनुसार भारतीय दर्शन में स्वाधीनता को राष्ट्रीय विकास की पहली शर्त माना गया है। विवेकानन्द ने आयलैण्ड जैसी विश्व की अनेक दमित राष्ट्रीयताओं के उदाहरण देकर परोक्ष रूप से भारतीयों की राष्ट्रीय चेतना को जगाने का प्रयास किया। वे अभाव, अज्ञान तथा रूढ़ियों को मिटा कर भारत को एक जागृत राष्ट्र के रूप में खड़ा करना चाहते थे। वे तो चाहते थे कि वेदान्त के बल पर भारत दिग्विजय कर ।"[51]

स्वामी विवेकानन्द के विचारों ने भारतीय जनगण में अभूतपूर्व साहस और आत्मविश्वास का संचार किया और उनमें ब्रिटिश साम्राज्यवाद के विरूद्ध सोचने की हिम्मत जगाई। इस तरह उन्होंने हजारों प्रबुद्ध भारतीयों के लिए एक प्रेरणास्त्रोत का काम किया। इसलिए इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि 19वीं या 20वीं सदी में भारत में सामने आए राष्ट्रीय आन्दोलन के नेताओं पर किसी भी अन्य समाज सुधारक की अपेक्षा स्वामी विवेकानन्द का सर्वाधिक प्रभाव पड़ा था।

बालगंगाधार तिलक ने 1907 में जब कांग्रेस के मंच पर अपना कार्यक्रम रखा, उस समय उन्होंने यह स्पष्ट किया था कि वे विवेकानन्द की इस शिक्षा पर चल रहे हैं कि हमें 'निर्भय' और 'सशक्त' बनना चाहिए। उन्होंने यह लिखा था कि "भारत को जाग्रत करने में विवेकानन्द के योगदान ने उनको

शंकराचार्य के स्तर का नेता बना दिया है।[52] बिपिन चन्द्र पाल ने भी ऐसे ही अपनी एक रचना में स्वीकार करते हुए लिखा था कि स्वामी विवेकानन्द के नेतृत्व में उभरे 'नव वेदान्तवाद' से उन्होंने काफी कुछ ग्रहण किया है।"[53] इसी तरह ऐनी बेसेन्ट ने 1917 में कलकत्ता में हुए कांग्रेस के अधिवेशन में दिए गए अपने भाषण में खुद पर स्वामी विवेकानन्द के प्रभाव को स्वीकार किया था।

वस्तुतः भारत में उभर रहे अतिवादी आन्दोलन के तमाम् नेताओं पर स्वामी विवेकानन्द का प्रत्यक्ष या परोक्ष प्रभाव देखा जा सकता है। जैसा कि रविन्द्रनाथ टैगोर ने लिखा था कि विवेकानन्द के भाषणों ने बंगाली नौजवानों के साहसपूर्ण कृत्यों को प्रेरित किया व उनमें राष्ट्र सेवा की भावना जगाई। ऐसा प्रतीत होता है कि बंगाल के स्वदेशी क्रान्तिकारियों ने उनकी उस सीख को काफी गंभीरता से ग्रहण किया था जिसमें उन्होंने कहा था कि हमें सिर्फ एक देवी अर्थात् 'भारत माता' को अपना ईश्वर मान लेना चाहिए। इसी प्रकार 1920 के दशक में महात्मा गांधी के उदय से पहले भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन पर जिन क्रान्तिकारियों का प्रभाव रहा, उन सबके प्रेरणास्त्रोत विवेकानन्द रहें।

विवेकानन्द ने भारत के राष्ट्रीय नवनिर्माण के लिए जो विचार प्रकट किये थे, उनका देश के अनेक परवर्ती राष्ट्रीय नेताओं पर गहरा प्रभाव देखा जा सकता था। इन नेताओं में अरबिन्द घोष, महात्मा गांधी, रविन्द्रनाथ टैगोर एवं सुभाषचन्द्र घोष के नाम तो मुख्य रूप से लिये जा सकते है।

बंगाला के महान क्रांतिकारी और आध्यात्मिक नेता अरबिन्द घोष स्वामी विवेकानन्द के विचारों से इतने प्रभावित थे कि उन्होंने स्वयं को उनका 'अनुयायी' बताया था। घोष ने अपने लेखों और रचनाओं में इस बात को स्वीकार किया है कि उनके क्रांतिकारी चिन्तन पर विवेकानन्द के आध्यात्मिक एवं राष्ट्रवाद सम्बन्धी विचारों का कितना अधिक प्रभाव था। विवेकानन्द की तरह वे भी मानते थे कि विश्व का एक प्राचीन एवं महान् राष्ट्र होने के नाते भारत को दुनिया में अपना एक 'मिशन' पूरा करना है। विवेकानन्द की तरह वे भी इस बात पर जोर देते थे कि भारतीयों को ऐसे देशभक्ति की आवश्यकता है जिससे प्रेरित हो कर वे किसी भौतिक लाभ या पुरस्कार इत्यादि के लिए नहीं, बल्कि निष्काम भावना से आत्म–उत्सर्ग का क्रान्तिकारी मार्ग चुन सकें।

घोष द्वारा प्रतिपादित 'स्वराज का सिद्धान्त' भी मूलतः स्वामी विवेकानन्द की विचारधारा पर आधारित था। वे भी भारत को जागृत करने के पक्षधर थे। उनका कहना था कि विवेकानन्द की विचारधारा भारत के उस 'प्राचीन गौरवमयी युग' की याद दिलाती है जो भारत का 'स्वर्ण युग' था।[54]

महात्मा गांधी भी विवेकानन्द से बहुत प्रभावित हुए थे। उन्होंने भी माना कि भारतीयों का जीवन वेदान्त विचारधारा पर आधारित है। वे हमेशा अपने पास *गीता* रखते थे ताकि वे लोगों को इसके बताये निष्काम कर्म के रास्ते के बारे में बता सकें। दरअसल इस मामले में गांधीजी विवेकानन्द की तरह थे। भारतीय अतीत और उसकी सांस्कृतिक परम्पराओं, संस्थाओं और आध्यात्मिक मूल्यों के मामले में गांधीजी का दृष्टिकोण भी काफी सकारात्मक एवं आग्रहपूर्ण था और वे भी आधुनिक भारत का निर्माण उसकी ऐतिहासिक परम्पराओं के आधार पर करना चाहते थे [55]

विवेकानन्द से प्रेरणा लेते हुए गांधीजी ने ऐसा किया भी। अस्पृश्यता उन्मूलन, कुटीर उद्योगों पर बल तथा यहां तक कि अहिंसात्मक प्रतिरोध, सत्याग्रह तथा असहयोग जैसे उनके विचारों का आधार पाश्चात्य नहीं अपितु भारतीय मूल्य ही थे। उन्होंने भी विवेकानन्द की तरह हिन्दू धर्म की व्यापक एवं सार्वभौमिक व्याख्या की और इसकी हर उस चीज को नकार दिया जोकि संकीर्णता पर आधारित थी तथा तर्क एवं मानवता के खिलाफ थी।[56]

बंगाल के महान् कवि तथा साहित्य के नोबल पुरस्कार से सम्मानित हुए रविन्द्रनाथ टैगोर पर भी स्वामी विवेकानन्द का प्रभाव देखा जा सकता है। 'गुरूदेव' के नाम से प्रसिद्ध टैगोर ने स्वयं इस विषय में लिखा था, "यदि आप भारत को जानना चाहते हो तो विवेकानन्द को पढ़ो। उनमें हर चीज सकारात्मक मिलेगी।" टैगोर की राष्ट्रवाद सम्बन्धी अवधारणा पर विवेकानन्द के विचारों पर असर पड़ा था। वे भी राष्ट्रवाद की संकीर्ण व्याख्या के विरुद्ध अन्तराष्ट्रीयवाद और मानवतावाद के आलोक में ही इसकी व्याख्या करते थे। परन्तु साथ ही वे उस सच्ची भारतीयता के भी पक्षधर थे जो भारतीय सांस्कृतिक व अध्यात्मिक विरासत और राष्ट्रीय गौरव पर टीकी थी।[57] इसलिए उन्होंने विवेकानन्द से प्रेरणा लेने की बात करते हुए कहा कि भारतीयों को अपनी पहचान और अधिकारों के लिए दृढ़ता से खड़ा होना होगा। तभी वे विश्व में अपनी पहचान बना सकते हैं।[58]

भारतीय स्वाधीनता संग्राम में विवेकानन्द से प्रेरणा पाने वाले एक अन्य बड़े महापुरुष नेताजी सुभाष चन्द्र बोस थे। स्वयं बंगाली पृष्ठभूमि से उठकर आए बोस ने उनके हर भाषण और लेख को गहराई से पढ़ा था और अपने निजी जीवन और राजनैतिक आन्दोलन में उनके विचारों का अनुसरण किया था। बोस ने विवेकानन्द के विचारों से मुख्यतः दो चीजें ग्रहण कीः प्रथम, मानवता की सेवा का विचार व दूसरे, आत्मिक सुन्दरता का विचार। विवेकानन्द कहते थे कि मानव की सेवा ही मातृभूमि की सेवा है। इसी तरह वे यह भी कहते थे हमारी मातृभूमि 'अराधया देवी' है और इसमें रहने वाला हर एक व्यक्ति, चाहे वह गरीब है, अपंग है या मूर्ख ही है, हमारा भाई है।[59] बोस ने विवेकानन्द की इन बातों का गम्भीरता से अनुसरण किया और हर भारतीय से प्रेम किया और मातृभूमि के लिए अपना जीवन समर्पित कर दिया।

सुभाष चन्द्र बोस ने स्वयं स्वीकार किया है कि विवेकानन्द का अध्ययन करने के बाद उनके जीवन में एक नया मोड़ आया। उन्होंने इसके बाद परिवार का मोह छोड़ दिया, सादगी से जीने लगे, और साधना करने लगें। साथ ही वे गरीब व जरूरतमंद लोगों की सेवा करने लगें। बाद में बोस ने राष्ट्रीय नवनिर्माण एवं स्वाधीनता के लिए जब 'फारवर्ड ब्लॉक' तथा 'आजाद हिन्द फौज' को खड़ा किया, तब उन्होंने विवेकानन्द के इस विचार को ही फलीभूत करने का प्रयास किया कि युवा शक्ति के बल पर हम भारत का भाग्य बदल सकते हैं। इस तरह बोस ने भारत के युवाओं का मार्ग प्रशस्त किया जिस पर चल कर वे औपनिवेशिक राज से स्वाधीनता की लड़ाई लड़ सकें।[60]

अन्त में कह सकते हैं कि स्वामी विवेकानन्द ने देशभक्ति का एक महान आदर्श भारतीयों के सम्मुख रखा और उन्हें प्रेरणा दी कि वे राष्ट्रोत्थान तथा मानव उत्थान के महान् कार्य हेतु एकजुट हों। एक धार्मिक नेता होते हुए भी विवेकानन्द का हृदय राष्ट्रीयता से ओतप्रोत था। उन्होंने देश की राजनीति में कभी भी भाग नहीं लिया, परन्तु अपनी लेखनी द्वारा उन्होंने सदैव राष्ट्रीय चेतना का ही पोषण किया। महान् राष्ट्रवादी नेता सुभाष चन्द्र बोस के शब्दों में, "स्वामी विवेकानन्द का धर्म राष्ट्रीयता को उत्तेजना देने वाला धर्म था। उनके उद्गारों से लोगों में आत्मनिर्भरता और राष्ट्रीय स्वाभिमान के भाव जागे।"[61] बेशक उनके हृदय में भारतीय संस्कृति व हिन्दू धर्म के प्रति अटल विश्वास विद्यमान था। परन्तु वे

संकीर्ण व साम्प्रदायिक सोच नहीं रखते थे। अपने देशवासियों को उनका यह स्पष्ट संदेश था कि "समानता, स्वतंत्रता, भ्रातृत्व, कर्मण्यता व लोकतन्त्र की भावना के लिए पश्चिमी बनो; परन्तु साथ ही साथ सांस्कृतिक अन्तर्भावना की दृष्टि से हिन्दू भारतीय बने रहो।"[62]

विवेकानन्द ने राष्ट्र–निर्माण हेतु ज्ञानयोग, कर्मयोग, भक्तियोग का आदर्श प्रतिपादित किया और हिन्दू धर्म के मानवतावादी एवं सार्वभौमिक मूल्यों को रेखांकित किया। उन्होंने बताया कि धर्माचरण दरिद्रता में संभव नहीं है। वस्तुतः दरिद्रता निवारण ही सच्चा मानव धर्म है।[63] वस्तुतः विवेकानन्द एक समन्वयवादी सुधारक थे। भारतीय अध्यात्म का पाश्चात्य भौतिकवाद के साथ तथा भारतीय वेदान्त का पाश्चात्य विज्ञान के साथ समन्वय करके वे एक ऐसे आदर्श मानव समाज की स्थापना पर जोर देते थे जिसमें असमानता, अन्याय, शोषण, निरंकुशता, गुलामी आदि का कोई स्थान न हो। कुल मिलाकर विवेकानन्द की शिक्षाओं ने भारतवासियों में सांस्कृतिक राष्ट्रवाद की चेतना को सींचा जिसके चलते वे राष्ट्रीय स्वतंत्रता के महत्त्व को समझने लगें।

इस प्रकार हम निष्कर्ष स्वरूप कह सकते है कि स्वामी विवेकानन्द का राष्ट्रवाद पूरी तरह से भारतीय आध्यात्मिकता एवं नैतिकता ओत–प्रोत था। स्वअभिव्यक्ति के लिए स्वतंत्रता, समानता और सार्वभौमिक बंधुत्व (भाईचारे) के आधार पर विश्व का आध्यात्मिक एकीकरण उनके राष्ट्रवाद का आधार था।

स्वामी विवेकानन्द की लेखनी और भाषणों में जादुई प्रभाव होता था। उनके शब्द न केवल भारतीयों के दिमाग को उद्वेलित करते थे, बल्कि मातृभूमि के लिए प्रेम भी जगाते थे स्वामी विवेकानन्द ने अपने देशवासियों के दिलो–दिमाग में पूजा करने के लिए एकमात्र देवी के रूप में भारत माता की स्थापना की। उन्होंने भारतीय के मन मस्तिस्क में राष्ट्रीयता और राष्ट्रवाद की भावना को प्रज्जवलित किया।

स्वामी विवेकानंद राष्ट्रवाद और मानवतावाद को एक–दूसरे का पूरक मानते थे उन्होंने सनातन धर्म पर आधारित मानवतावादी चिंतन का प्रचार प्रसार किया। विश्व मानवता के कल्याण के लिए स्वामी विवेकानंद एक शक्तिशाली और जागृत भारत का निर्माण करना चाहते थे स्वामी विवेकानंद ने भारत के महान आदर्शों का व्यापक दृष्टिकोण लोगों के सामने रखा। उन्होंने भारतीय जन मानस की आत्मविस्मृति

दूर करने का कार्य किया। स्वामी विवेकानंद ने भारतीय जनमानस में इस विचार को जन्म दिया कि 'हम एक विशिष्ट सांस्कृतिक इकाई हैं', 'हम एक स्वतंत्रता राष्ट्र हैं और स्वतंत्रता हमारा अधिकार है'।

स्वामी विवेकानंद को भारत की आध्यात्मिक शक्ति पर विश्वास था। उन्होंने इस राष्ट्र को अपनी विस्मृत अवस्था से बाहर निकलने और पुनः जागृत होने की प्रेरणा दी और सभी स्तरों पर इस महान राष्ट्र को जागृत करने के लिए कार्य किया। स्वामी विवेकानंद के ऐसे योगदान के कारण ही लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक विवेकानंद को भारतीय राष्ट्रवाद का जनक मानते थे।

वर्तमान पीढ़ी जिस परिवर्तन के दौर से गुजर रही है उसके कारण जीवनशैली, नैतिक मूल्यों एवं आदर्शों में बदलाव आ रहा है। आज की युवा पीढ़ी विकास एवं आर्थिक उन्नयन के बोझ तले इतनी अधिक दब गई है कि वह अपने पारंपरिक आधारभूत उच्च आदर्शों से समझौता तक करने में हिचक नहीं रही है। आज के युवाओं के पास उत्तराधिकार के रूप में स्वामी विवेकानंद के विचारों की धरोहर है जिसके अनुपालन से वह भारत में ही नहीं, वरन विश्व में सफलता के नए आयाम स्थापित कर सकते हैं।

इस प्रकार हम कह सकते है कि वर्तमान युग में स्वामी विवेकानन्द जी के राष्ट्रवाद सम्बन्धि विचारों की उपादेयता एवं प्रासंगिकता उतनी ही है जितनी की उनके समयकाल में थी। वास्तव में स्वामी विवेकानंद के चिन्तन व दर्शन में भारत के ही नहीं वरन् पूरे विश्व का नवनिर्माण करने की क्षमता हैं। उनका चिन्तन, उनका संदेश न कभी पुराना पड़ सकता है, न कभी मर सकता है। वह पुनर्नवा है। वह आज के लिए भी सार्थक है और कल के लिए भी सार्थक सिद्ध होगा।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

प्राथमिक स्त्रोत :

(I) विवेकानन्द की रचनाएँ

1. ***कम्प्लीट वर्क्स ऑफ विवेकानन्द,*** खण्ड I-X, अद्वैत आश्रम, कलकत्ता

2. ***विवेकानन्द साहित्य,*** खण्ड I-X, अद्वैत आश्रम, कलकत्ता

3. *अग्निमन्त्र,* 1896.

4. *ईस्ट एण्ड वेस्ट,* 1905.

5. *इन्सपायर्ड टॉक,* 1909.

6. *ज्ञानयोग राजयोग, 1896*

7. *कर्मयोग, 1896 हिन्दू धर्म*

8. *हिन्दू धर्म के पक्ष में शिकागो वक्तृता हमारा भारत*

9. *प्रेमयोग*

10. *व्यावहारिक जीवन में वेदान्त मेरे गुरुदेव*

11. *मेरा भारत, अमर महान भक्ति और वेदान्त*

12. *भारतीय नारी, 1897*

13. *भारत और उनकी समस्याएं भारत जागरण*

14. *शिक्षा*

15. *शिक्षा के विविध आयाम शिक्षा का आदर्श*

16. *शिक्षा, संस्कृति और समाज*

17. *युवक और युवतियां से हिन्दू धर्म क्या है? रामकृष्ण आश्रम*

18. *राष्ट्र का आह्वान मरणोत्तर जीवन ज्ञान रहस्य देववाणी*

19. *जाति, संस्कृति और समाजवाद*, 2005.

20. *नया भारत गढो*, 2006.

21. ***प्राच्य और पश्चात्य,*** 2008.

22. भारत का ऐतिहासिक क्रम विकास, ***2004.***

(II)

1. **विवेकानन्द के लेख व भाषण** "ऐथर", ***न्यूर्याक मेडिकल टाइम्स,*** फरवरी, 1895. "रिइनकॉरनेशन," ***द मेटाफिजिकल मेगजीन,*** मार्च 1895. "इज द सोल इम्मोर्टल," ***न्यूयार्क मार्निंग एडवाईजर***, 1896.

2. "एजुकेशन : इण्डियाज नीड," ***भारती,*** 1897.

3. "नॉलेज एण्ड सोलेस एक्वारमेंट," ***उद्‌बोधन,*** फरवरी, 1899. "माडर्न इण्डिया" ***उद्‌बोधन,*** मार्च, 1899.

4. "प्रोब्लम ऑफ माडर्न इण्डिया एण्ड इट्स सोल्यूशन," ***उद्‌बोधन,*** 14 जनवरी 1899.

5. "द पेरिस कांग्रेस ऑफ द हिस्ट्री ऑफरिलीजन, में उद्‌बोधन," 1900.

6. बहन निवेदिता, ***रिलीजन एण्ड धर्मा,*** 1915.

7. बहन निवेदिता, ***प्रव्राजिका आत्मप्राण***

8. स्वामी परमानन्द, ***मैसेज ऑफ इ ईस्ट***

(III)

भारतीय समाचार पत्रों की रिपोर्टें

1. ***द इण्डियन मिरर,*** 7 दिसम्बर 1893

2. ***द बंगाली,*** 18 मई 1895

3. ***द ब्रह्मोदित,*** 18 जुलाई, 1896

4. ***द जरनल ऑफ द महाबोधी सोसायटी,*** नवम्बर 1896

5. ***द अमृत बाजार पत्रिका,*** 8 जनवरी 1897.

6. ***द अमृत बाजार पत्रिका,*** 10 जुलाई 1897.

7. ***द इण्डियन रिफॉर्मर,*** 16 जून 1901

8. ***इ इण्डियन मिरर,*** 22 सितम्बर 1896.

9. ***इ इण्डियन मिरर,*** 20 जुलाई 1894.

(IV)

अमेरीकी समाचार पत्रों की रिपोर्टें

1. ***द लिस्टलर***, 10 जनवरी 1895.
2. ***आइडियल ऑफ वुमैनहूड***, 21 जनवरी 1895.
3. ***ट्रयू बुद्धिज्म***, 4 फरवरी 1895.
4. ***द न्यूयार्क टाईम्स***, 28 फरवरी 1895.
5. ***बालटीमोर अमेरिकन***, 22 अक्तूबर 1894.
6. ***द रिलीजन ऑफ बुद्धा,*** 22 अक्तूबर 1894.
7. ***द शिकागो लैटर,*** नवम्बर 1893.
8. ***लन्दन मोर्निंग पेपर,*** 27 अक्तूबर 1895.
9. ***क्रिश्चीयन कॉमनवेल्थ,*** 23 नवम्बर 1895.
10. ***द लाइट,*** 4 जुलाई 1896.

(II) अन्य पुस्तकें

(अ) अंग्रेजी में पुस्तकें :

1. अल्तेकर, ए॰ एस॰, ***द पोजिशन ऑफ वीमेन इन हिन्दू सिविलाईजेशन,*** मोतीलाल बनारसी दास पब्लिशर, बनारस, 1951.
2. अशरफ, के॰ एम॰, ***लाइफ एण्ड कन्डीशन्स ऑफ दी पीपुल ऑफ हिन्दुस्तान,*** गयान पब्लिशिंग हाऊस, नई दिल्ली, 2001.
3. अरोड़ा वी॰ के॰, ***सोशल एण्ड पॉलिटिक्ल फिलॉसफी ऑफ स्वामी विवेकानन्दा,*** पुन्थी पुस्तक पब्लिकेशन्स, 1968.
4. आदिश्वरनन्द, ***स्वामी विवेकानन्द : ए वर्ल्ड टीचर,*** वरमेन्ट प्रकाशन दिल्ली, 2006.
5. उपाध्याय पूनम, सोशल, ***पॉलिटिक्ल, इकॉनामिक एण्ड एजुकेशनल आईडियाज ऑफ राजाराम मोहन राय,*** दिल्ली
6. कॉलेट, एस॰ डी॰, ***द लाइफ एण्ड लैटर्स ऑफ राजा राममोहन राय,*** कलकत्ता, 1900.

7. कश्यप, शैलेन्द्र, ***सेविगं ह्युमेनटी : स्वामी विवेकानन्द प्रोस्पेक्टिव,*** विवेकानन्द स्वाध्याय मण्डल, दिल्ली, 2012.

8. क्रिश्चियन, वी॰ डी॰, ***फिलोसफी ऑफ ए रिलिजियस लीडर,*** ग्रीनबुड पब्लिकेशन, लन्दन, 1999.
किशोर, बी॰ आर॰, ***स्वामी विवेकानन्दा,*** रामकृष्ण मिशन, कलकत्ता, 1997.

9. गोखले, बी॰ जी॰, ***स्वामी विवेकानन्द एण्ड इण्डिया,*** ऑक्सफोर्ड युनिवर्सिटी, 1964.

10. गुप्त, कांति प्रसन्न सेन, ***दि क्रिश्चियन मिशनरीज इन बंगाल,*** कलकता, 1971.

11. गुप्ता, एन॰ एल॰, ***स्वामी विवेकानन्द,*** अनमोल पब्लिकेशन, दिल्ली, 2003.

12. घोष, गौतम, ए बायोग्राफी आफ स्वामी विवेकानन्दा, मेहता पब्लिक हाऊस, कलकत्ता, 2004.

13. चन्द, पदमाराम, ***एनसाईक्लोपिडिया ऑफ इण्डियन ऐजुकेशन,*** खण्ड–II, पृ॰ 1843.

14. चौधरी, एस॰ के॰, ***द ग्रेट थिंकर : स्वामी विवेकानन्दा,*** सोनाली पब्लिकेशन, नई दिल्ली, 2008.

15. चक्रवर्ती, मोहित, ***स्वामी विवेकानन्द :ए स्टडी ऑफ एन ऐसथेटिक,*** अटलान्टिक पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली, 1993.

16. चक्रवर्ती, टी॰ के॰, ***स्वामी विवेकानन्दः ए कम्प्रीहंसिव ट्रयू फिलॉसपर,*** बलैकवैल पब्लिशर दिल्ली, 2001.

17. चहल, एस॰ के॰, ***दलित्स पैट्रनाइजड : द इण्डियन कांग्रेस एण्ड अनॅटचेबल्स ऑफ इण्डिया, 1921–1947,*** शुभी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2002

18. जार्ज, एफ॰, ***द योगा ट्रेडीसन,*** दिल्ली, 2002.

19. धर, शैलेन्द्र नाथ, ***कम्प्रीहंसिव बायोग्राफी ऑफ स्वामी विवेकानन्द,*** विवेकानन्द प्रकाशन केन्द्र, मद्रास, 1976.

20. निखिलनन्दा, स्वामी, ***स्वामी विवेकानन्द : ए बायोग्राफी,*** रामकृष्ण मठ, कलकत्ता, 1953.

21. नायक, एम॰ के॰,***स्टीयरस्पीडः ए प्रोसस ऑफ स्वामी विवेकानन्दा,*** अभिनव पब्लिकेशन, दिल्ली, 2003.

22. पालीट, प्रोजीत कुमार, ***स्वामी विवेकानन्द एण्ड नैशनल इन्टीग्रेशन,*** डेल्टा बुक वर्ल्ड, नई दिल्ली, 2013.

23. प्रसाद, विमल, ***स्वामी विवेकानन्द : एन एन्थोलॉजी,*** विकास पब्लिशिंग हाऊस, नई दिल्ली, 1994.

24. फारुख, जे॰ एन॰, ***माडर्न रिलिजियस मूवमेंट इन इण्डिया,*** लन्दन, 1915.

25. बूक्री, मैरी लूसी, ***स्वामी विवेकानन्द इन द वेस्ट,*** अद्वैत आश्रम, कलकत्ता, 1985.

26. बैनर्जी, जी॰ एस॰,***लाइफ एण्ड फिलोसफी ऑफ स्वामी विवेकानन्द,*** अटलांन्टिक प्रकाशन, दिल्ली, 1998.

27. भूयान, पी॰ आर॰, ***मसीहा ऑफ रिसरजेन्ट इण्डिया,*** अटलांटिक प्रकाशन, नई दिल्ली, 2003.

28. भारती, के॰ एस॰, ***द पोलिटिकल थॉट ऑफ विवेकानन्द,*** कन्सेप्ट पब्लिकेशन, दिल्ली, 1998.

29. मजूमदार, आर॰ सी॰, ***स्वामी विवेकानन्द : ए हिस्टोरिकल रिव्यू,*** अद्वैत आश्रम, कलकत्ता, 2000.

30. मार्क, बेस्टर, ***हिन्दू मैरिज***, लंदन, 1926

31. मुखर्जी, आर॰ के॰, ***ऐन्सिएन्ट इण्डियन एजुकेशन,*** मोतीलाल बनारसी दास पब्लिशर, नई दिल्ली, 1960.

32. व्यास, धर्म सी॰, ***बायोग्राफी आफ स्वामी विवेकानन्दा,*** कलकत्ता, 1976.

33. सेन, ए॰, ***स्वामी विवेकानन्दा,*** अद्वैता आश्रम, कलकत्ता, 2001. सेन अमीया, ***स्वामी विवेकानन्दा***, दिल्ली, 2003.

34. सिंह, पुर्णिमा, ***इण्डियन कल्चरल नेशनलीज्म,*** इण्डिया फस्ट फांऊडेशन, दिल्ली, 2004.

(ब) हिन्दी में पुस्तकें :

1. आविनाशेलिंगम, टी॰ एस॰, ***विवेकानन्द की शिक्षा,*** रामकृष्ण आश्रम, कलकत्ता, 1996.
2. अनिल, राजकुमार, ***स्वामी विवेकानन्द,*** किताब घर, दिल्ली, 1975.
3. आहुजा, राम, ***भारतीय सामाजिक व्यवस्था,*** रावत पब्लिकेशन्स, जयपुर, 1995.
4. कुमार, राज, ***नारी–शोषण समस्याएं एवं समाधान,*** नई दिल्ली, 2003.
5. कुमार, रिपुन्जय, ***स्वामी विवेकानन्द का वेदान्त दर्शन एवं शिक्षाएं,*** क्लासिकल पब्लिशिंग कम्पनी, नई दिल्ली, 2014.
6. कपूर, धर्मपाल, ***स्वामी विवेकानन्द***, पंचकूला, 2014.

7. गोहित, राजीव कुमार, ***भारत का सामाजिक, सांस्कृतिक और आर्थिक इतिहास,*** नई दिल्ली, 2011.

8. गुप्ता, चारू, ***स्त्रीत्व से हिन्दुत्व तक : औपनिवेशिक भारत में यौनिकता और साम्प्रदायिकता,*** राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 2012.

9. गुप्त, राजेन्द्र प्रसाद, ***स्वामी विवेकानंद : व्यक्ति और विचार,*** राधा पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली, 1997.

10. चक्रवती, शरतचन्द्र, ***विवेकानंदजी के संग में,*** प्रभात प्रकाशन, दिल्ली.

11. चन्द्रा, बिपन, ***भारत का स्वतंत्रता संघर्ष,*** हिन्दी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली, 1990.

12. चोपड़ा, पुरी, दास, ***भारत का सामाजिक, सांस्कृतिक और आर्थिक इतिहास,*** (भाग–III) मैकमिलन इण्डिया, नई दिल्ली, 1976.

13. जैन, कैलाश चन्द, ***प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास,*** राजकमल, प्रकाशन, नई दिल्ली, 2011.

14. जैन, यशपाल, ***राष्ट्र की विभूतियां : विवेकानन्द,*** रसभारती, मुरादाबाद, 1977.

15. झा, सुमंगला, ***मनुस्मृति में नारी,*** हिन्दी माध्यम कार्यान्वयन, निदेशालय, दिल्ली, 2006.

16. तेजस्वानन्द, स्वामी, ***स्वामी विवेकानन्द : संक्षिप्त जीवनी,*** अद्वैत आश्रम, कलकत्ता.

17. तेजस्वानन्द, स्वामी, ***रामकृष्ण मठ : आदर्श और इतिहास,*** रामकृष्ण मठ, धन्तौली, नागपुर, 1974.

18. दत्त, कार्तिक चन्द्र, ***राजा राममोहन राय : जीवन और दर्शन,*** इलाहाबाद, 1993.

19. देसाई, ए॰ आर॰, ***भारतीय राष्ट्रवाद की सामाजिक पृष्ठभूमि,*** मैकमिलन इण्डिया, नई दिल्ली, 1976.

20. नागोरी, जीतेश, ***मुगलकालीन भारत (1656–1761),*** राज पब्लिशिंग हाऊस, जयपुर, 2006.

21. पालीवाल, सुभाषिणी, ***भारत में महिला शिक्षा और साक्षरता,*** कल्याणी शिक्षा परिषद्, दिल्ली, 2008.

22. बतरा, अशोक, ***तेजपुंज विवेकानन्द,*** श्री माधव जनसेवा न्यास, सोनीपत, 2013.

23. बेदी, हरमहेन्द्र सिंह, ***स्वामी विवेकानंद : दर्शन और विचार,*** ग्रेशियस बुक्स, पंजाबी विश्वविद्यालय, पटियाला, 2014.

24. मित्तल, सतीश चन्द्र, ***भारत का सामाजिक–आर्थिक इतिहास 1758–1947,*** हरियाणा साहित्य अकादमी, पंचकूला, 2005.

25. मजूमदार, सत्येन्द्र नाथ, ***विवेकानन्द चरित्र,*** रामकृष्ण आश्रम, नागपुर, 1996.

26. रोमां रोला, ***विवेकानंद की जीवनी,*** अद्वैत आश्रम, कलकत्ता, 2015.

27. रानडे, एकनाथ, ***हे हिन्दू राष्ट्र! उत्तिष्ठत जागृत!!*** सुरूचि प्रकाशन, नई दिल्ली, 2013.

28. वर्मा, रामशरण, ***प्राचीन भारत का सामाजिक एवं आर्थिक इतिहास,*** नई दिल्ली, 2003.

29. वोहरा, आशा रानी, ***औरत : कल, आज और कल,*** कल्याणी शिक्षा परिषद्, दिल्ली, 2006.

30. वोहरा, आशा रानी, ***नारी शोषण! आईने और आयाम,*** नेशनल पब्लिशिंग हाऊस, नई दिल्ली, 2003.

31. विद्यालंकार, सत्यकेतू, ***आर्य समाज का इतिहास,*** भाग–III, नई दिल्ली, 1983.

32. सेन, गुप्ता एस॰सी॰ ***स्वामी विवेकानन्दा एण्ड नेशनलीज्म,*** रामकृष्ण मिशन, कलकत्ता, 2001.

33. शर्मा, प्रज्ञा, ***महिला विकास और सशक्तीकरण,*** जयपुर, 2001.

34. शर्मा, शिव कुमार, ***मध्यकालीन भारतीय संस्कृति का इतिहास,*** दिल्ली, 2008.

35. शेखर, हिमांशु, ***विवेकानन्द के सपनों का भारत,*** डायमण्ड बुक्स, नई दिल्ली, 2012.

36. शास्त्री, उदयवीर, ***वेदान्त दर्शन का इतिहास***, विरजानन्द वैदिक संस्थान, मेरठ, 1971.

37. सक्सेना, श्रीमती लक्ष्मी, ***समकालीन भारतीय दर्शन,*** हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, लखनऊ, 1976.

38. सेठ, कीर्ति, ***भारतीय शिक्षा दार्शनिक,*** मेरठ, 1992.

39. सरकार, सुमित, ***आधुनिक भारत का इतिहास,*** राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2009.

40. श्रीवास्तव, के॰ सी॰, ***प्राचीन भारत का इतिहास तथा संस्कृति,*** युनाइटेड बुक डिपो, इलाहाबाद, 2012.

41. अलका व गिल, अरविन्द कुमार (2013); **स्वामी विवेकानन्द के विचार,** *इंटरनेशनल एजुकेशनल ई–जर्नल,* **वॉल्यूम 4,** दिसम्बर, पृ० 22–27

42. राऊल, अमित कुमार (2013); **स्वामी विवेकानन्द ऑन इंडिया एज ए नेशन,** *जर्नल ऑफ ह्यूनिटिज़ एण्ड सोशल साईंस,* **वॉल्यूम 9(3),** मार्च–अप्रैल, पृ० 25–28

43. गुप्ता, दीक्षित (2018); **स्वामी विवेकानन्द का नैतिक दर्शन,** *प्रबुद्ध भारत,* **वॉल्यूम 119(1),** जनवरी 2018

44. धर, बेनुलाल (2015); **विवेकानन्द : भारत और अवचेतन की अवधारणा,** *प्रबुद्ध भारत,* **वॉल्यूम 119(1),** जनवरी।

45. गुप्ता, आदित्य कुमार (2017); **स्वामी विवेकानन्द के विचार,** *प्रबुद्ध भारत,* **वॉल्यूम 118(9),** सितम्बर।

Impact Factor 4.545
UGC Approved Journal No. 64691 ISSN 2347-680X
International Journal of New Era Research Volume-VI, Issue 1, March 2019

Political Science

"A Study of Vivekananda's Philosophy for Social Transformation of Indian Society and Mapping Nationalism in Indian Context"

Shashikant * Dr. Mahesh Kumar Saini **

Abstract

Man consists of two factors, the mind and the body. Mind with its consciousness is said to be directly opposed to, though somehow or other intimately connected with, the body with its extension; for, the mind has no extension; and the body, consciousness. Now, the consciousness of mind assumes the form of reason in man, while consciousness is the common property of all living beings. Hence is the celebrated, yet much condemned, definition of man, man is a rational animal. In this way, man has two sides – a higher rational side; a lower animal one. A perfect man is he who can work out a perfect synthesis between these two sides of his nature with, of course, the higher controlling the lower, as natural and beneficial. A perfect society also, therefore, is one in which there is such a perfect synthesis between spiritualism and materialism, with, of course, the former controlling the latter, as inevitable and essential.

Society is, of course, a divine institution. Still, from the practical point of view, its inner divinity, real nature, has to be manifested. And, then this great fact has to be kept in mind, viz. that it has to manifest, and not manufacture Truth. As a matter of fact, Truth, real Truth cannot be manufactured at all at will; it can be only manifested through wisdom and good sense. Vivekananda's concept of society, though derived from Vedantik philosophy, seeks to integrate both the spiritualistic and materialistic interpretations of both man and society; it is both individualistic and socialistic. Believing in the divine nature of man, Vivekananda seeks to establish a continuum between society, culture and civilization, like the wick, oil and the flame. In the present study the author has explained the Vivekananda's Philosophy for social transformation of Indian society and he also discuss the Vivekananda's concept of Mapping Nationalism in Indian Context.

Keywords: Society, Vedanta, Materialism, and spiritualism.

INTRODUCTION:

Vivekananda says, "Two attempts have been made in the world to found social life. The one was upon religion or spirituality or transcendentalism, and the other was upon social necessity or materialism or realism.

* Ph.D. Research Scholar, Dept. of Political Science, MUIT, Lucknow, U.P.
** Associate Professor, Research Guide, Dept. of Political Science, MUIT, Lucknow, U.P.

The one looks beyond the horizon of the little material world.. While the other is content to stand on things of the world and expects to find a firm footing there.”[1] Referring to Western and Eastern society he observed, "The West is groaning under the tyranny of the Shylocks, and the East is groaning under the tyranny of the priests, each must keep the other in check. Do not think that one alone is to help the world."[2] Thus, it is clear that Vivekananda admits the necessity of both - Spiritualism and Materialism, Idealism and Realism. Both are complementary to each other. Vivekananda is quite familiar with the West's materialistic approach to life. So he warns the West to make spirituality the basis of her life. He writes, "The whole Western civilization will crumble to pieces in the next fifty years, if there is no spiritual foundation.”[3]

In Vivekananda’s view, “The Western man is born individualistic, while the Hindu is socialistic – entirely socialistic.”[4] In marriage, and many other affairs in the West, each individual can assert that he or she will abide by personal predilection and not be directed to by others. The Hindu demands that the individual shall bow down to the needs of society, and that those needs shall regulate his personal behaviour. As a result of these two attitudes, the West has granted freedom to society, so that society has grown and become dynamic, whereas the Hindu society has become cramped in every way. Pointing out this distinction he says, "In India, religion was never shackled"[5]

He noted that the Indian reformers of his days, dazzled by the glamour of Western civilization failed to distinguish between the two outlooks on life, and, consequently, they believed that India's salvation lay in a blind imitation of everything Western. In his book `East and West', he further pointed out that, in addition to the basic outlooks, one had to take into account the climatic, historical, and other influences, which mould a nation's character. Dress, food, architecture, personal behaviour, etc., are largely the products of geographical conditions.

While making a choice between the imitative, soft-brained, orthodox bigot, he preferred the latter, "There are two obstacles in our path in India-the Scylla of old orthodoxy and the Charibadis of modern European civilization. Of these two, I vote for the old orthodoxy, and not for the Europeanized system; for the old orthodox man may be ignorant, he may be crude, but he is a man, he has a faith, he has strength, he stands on his own feet, while the Europeanized man has no backbone.” Vivekanand further points out, "In spite of the sparkle and glitter of Western civilization... I tell them to their face, that it is all vain.” The civilization of the West is derived from the Greeks, whose watchword was expression, as against the Indian keynote of meditativeness. Hence Western art excels in perfection of form, whereas Indian art tells of deep thoughts. Europe is engrossed so much in action and expression that it has hardly any time for meditation, while India thinks so deeply that she hardly knows how to express or act. The extrovert West tends to keep itself confined to matter, whereas the introvert east is liable to get lost in the non-material. In brief, Vivekananda's comparative study of the East and the West is in the secular sphere. But in the spiritual sphere, he unhesitatingly declares that India can still become the teacher of the whole world. Not only can the Vedanta philosophy of India stand its own ground against all scientific and

rational onslaughts; but it can also take under its protective wings all who search for rational assurance. He propounds, "The nations of the West are coming to us for spiritual help. A great moral obligation rests on the sons of India to fully equip themselves for the work of enlightening the world on the problems of human existence."

Religion has become somehow subordinate to secular needs in the West. This is proved by the revolt in Russia against religion, which submitted to Czarist dictation and justified the oppression of the masses. As against this, Indian spirituality kept itself free from secular trammels through her independent world-renouncing sannyasis, and selfless poor Brahmins Protestant West denied monasticism and the result has been that it has not produced a single outstanding saint during the past centuries. The philosophical thoughts of Western religious people merely follow scholasticism or theology. Like their Greek predecessors they are searching for truth externally. As a result, science has developed and the spirit has been cramped, and consequently, religion can hardly command the allegiance of the intelligentia. It suffers from arrested growth, dogmatism, and superficiality. Thus Vivekananda observed that Western society lacks a stable foundation in spirituality. He vibrantly asserts, "I must tell you frankly that the very foundations of Western civilization have been shaken to their base. The mightiest buildings, if built upon the loose sand foundations of materialism, must totter to their destruction some day."

However, Vivekananda's criticism of the West is, therefore, matched by his more caustic criticism of the East. When his countrymen characterize the Westerners as materialists, he turns upon them with the remark. 'Grapes are sour'. He observes, "How much of enterprise and devotion to work, how much enthusiasm and manifestation of rajas (activism) are there in the lives of the Western people. While in India it is as if the blood has become congealed in the heart, so that it cannot circulate in the veins – as if paralysis has overtaken the body and it has become languid."

Review of Literature

C. Rajagopalachari remarked that :- "Swami Vivekananda saved Hinduism and saved India. But for him we would have lost our religion and would not have gained our freedom. We therefore owe everything to Swami Vivekananda. " The influence of Vivekananda could not remain confined within the boundary walls of a Country, but it spread far and wide. The great personalities of the world eulogized his contribution.
William James admired Vivekananda in his book 'Pragmatism'. He wrote that,

" the Swami is an honour to humanity in any case."

Dr. V.P. Verma in his work and titled 'Swami Vivekananda- the Hero Prophet' establishes that Swami Vivekananda is a humanist, a philanthropist, a nationalist, a reformist and a thinker with a clear intellectual-vision- all rolled into one. To him Vivekananada is the one who realized the supra-cosmic-truth. He worked assiduously and achieved his great objective of regeneration of India.

Abnish Singh Chauhan (2012) has meticulously selected some of Swamiji's speeches which are especially useful to Indian young people who have to do the

onerous task of nation building. These speeches are: Six speeches which Vivekananda delivered at Parliament of Religions, How India Can Win the World, The Future of India, Work And Its Secret, The Importance of Psychology, and Nature and Man. These speeches are of especial significance in the present context of India when the Govt of Indian has been exhorting the youth of the country to contribute their mite to the reconstruction of the nation and to establish her on the pedestal of Vishava Guru in order to realise the dream of Swami Vivekananda.

R. K. Dasgupta (2013) deals with Swami Vivekananda's ideas of comparative religion, his response to Western Indology, Western philosophy and his view of history are here discussed perhaps for the first time in some detail. In this book the author has tried to define Swami Vivekananda's idea of universal religion.

Objectives of the Study

- To study the concept of society, culture and Civilization of Swami Vivekananda.
- To study that how far Vivekananda philosophy of practical Vedanta is related to social transformation of Indian society.

Hypothesis of the Study

- Vivekananda unconsciously developed a system of social and political thought, unknown to both East and West, a unique system in itself, with both theoretical and practical wisdom, which was a historical necessity of the present times.
- Swamiji was a humanist, a patriot, a philosopher, a religious preacher who awakened the people of Hinduism from its age old slumber and infused into it a new life and new blood.
- By adopting Swamiji's Practical Vedanta the problems of society can easily be sort out.

Data Collection and Research Methodology

The present study is based on both primary and secondary sources. The secondary data is collected through books, newspapers, magazines, periodicals , research journals, various authentic sources and websites etc.The primary sources are the writings and correspondence of Swami Vivekananda, autobiographies, original draft of speeches, articles newspaper-accounts, addresses, the data preserved by Ramakrishna Math and Mission, the information compiled by other affiliated organizations, reports of various committees, government-policies etc. The secondary sources included articles, books, magazines, newspaper articles, editorials, biographies, commemorative volumes and research-reports on Swami Vivekananda. The present study is Exploratory cum descriptive in nature.

Findings and Discussions

According to the Indian view, society is not a human creation, but a divine institution. The Indian Monotheistic Doctrine of Creation holds that the universe of souls and matter is a cosmos, not a chaos, and not only that, it is also an entirely teleological or a purposive one. Like nature, society, too, is a perfect system. It is a full organic whole, a loving and a living union. Its basis is religion, its purpose,

spiritualism, and its instruments scriptural injunctions. He asserts, "It is not a political organisation, not an economic unit and not a prudential concern at all."

His concept of society is in consonance with the principles laid down in the Rig Vedic `Purusa-Sukta', In this Sukta the whole of society has been conceived as a universal or social Man. Of Him, society is only a reflex; and the various vocational groups are His different limbs. This social Man, or Purusa, is pictured there as 'thousand-headed, thousand-eyed, and thousand-legged', who spreads over all the earth and rules over all living creatures. The mouth, or rather the head, of this Purusa-of society-is the Brahman, the man of knowledge, of science, of thought and learning, the preserver of its spiritual heritage; His arms are the Ksatriya, the man of action, of valour the preserver of law and order in society; His trunk is the Vaisya, the man of desires, of acquisitive nature, and of business enterprise; His legs are represented by the Sudra, the man or little or ordinary intelligence, who is unable to deal with subtle and abstract ideas, and who is chiefly suited to do physical work. These four types of people are to be found in every society, though the classification gradually became crystallized in Hindu society because of some varnas claiming exclusive privilege and superiority over others. It should, however, be noted here that the varna classification was made on the basis of the congenial vocational temperaments and aptitudes of the people, and not to uphold the superiority or the privileges of some individuals because of their birth and heredity.

An Ideal Form of Society

To Vivekananda, an ideal form of society is that where the highest truth can be held, practised and lived by all. At another place he writes, "The ideal society would be the one in which would be synthesised the Indian idea of spiritual integrity and the western idea of social progress." He writes further, "If society is net fit for highest truths; make it so, and the sooner, the better." He further says, "Societies should be moulded upon truth, and truth has not to adjust itself to society. If it cannot be practiced in society, it is better for man to give up society and go into the forest." Society is a divine institution.

From this Highest Truth follows the principle of universal fraternity and service to mankind as advocated by Vivekananda in his social philosophy. One of the noblest conceptions of Hindu social organisation is that of the four stages of life, "The student, the householder, the hermit, and the monk." Renunciation forms the basis of all these stages of life. While the principle of renunciation pervades the activities of the first three stages of life, in the last stage, man is required to renounce the world totally to gain spiritual wisdom before his life on earth terminates. According to Vivekananda, "All the men and women, in any society, are not of the same mind, capacity, or of the same power to do things."

Vivekananda believes that the history of the world is the manifestation of four principles which find their concrete realization in the fourfold social varnas - the Brahmin, the Kshatriya, the Vaisya and the Sudra. The spiritual principle, he thinks, is embodied in Indian history. The history of Roman expansion and imperialism

represents the Kshatriya or military factor in action. The British mercantile aristocracy is the concrete demonstration of the ascendancy of the Vaisya principle, while "The American democracy will represent the Sudrocracy of the future.” By and large he feels, "the east symbolized the concept of suffering while the west typifies the notion of action and struggle."

Vivekananda is inspired “by the ideal of social harmony and synthesis embodied in the theory of *Varna* (caste) system of ancient India.” Originally, Varna system is the division of individuals into different sections or classes, according to their different tendencies and capacities. He does not propose any leveling of castes but he earnestly wanted that the caste system should be ennobled. He says, "Caste is a very good thing. Caste is the plan we want to follow ...There is no country in the world without caste. In India, from caste we reach to the point where there is no caste.” To him caste is a means to help everybody in attaining the status of a true Brahmin. A Brahmin is he who has killed all selfishness. To be a Brahmin is to be spiritually enlightened.

Concept of Culture

Culture is the psychological cultivation of the mind, which yields values that govern human behaviour and human relations. Thus culture is the culturing or cultivation of human mind. It is that psychological process of mental organization by which the fundamental, innate, inherited elements of the mind are built round objects and persons. Vivekananda has pointed out the difference between culture and civilization and their relation with knowledge. He says, "It is culture that withstands shocks, not a simple mass of knowledge." From this statement, it logically follows that a nation may have a large reservoir of knowledge but no culture because, in spite of knowledge as Vivekananda points out, "they are like tigers; they are like savages, because culture is not there." Vivekananda further pointed out, "Knowledge is only skin-deep as civilization is, and a little scratch brings out the old savage." That is why Vivekananda emphasizes time and again that Indian masses should develop and reinforce. He feels, "To the Brahmans I appeal that they must work hard to raise the Indian people... by giving out the culture that they accumulated for centuries."

Thus, Vivekananda castigates the upper classes for their exploitative tendencies and snobbery. He lionizes the downtrodden who have the potential to expedite the emergence of ‘New India’. He asserts, “Let her arise-out of the peasant's cottage, grasping the plough... Let her spring from the grocer's shop, from beside the oven of the fritter-seller. Let her emanate from the factory from marts; and from markets. Let her emerge from groves; and forests from hills and mountains." To Vivekananda, “The Indian social order is but the reflex of the infinite universal Motherhood the lower classes, the ignorant, the poor, the illiterate, the cobbler; the sweeper are its flesh and blood." And his exhortation was, "Serve as worship of the Lord Himself in the poor, the miserable, the weak." Developing the idea further, he says, "...rich men ...are merely the ornaments, the decorations of the country. It is the millions of poor lower class people who are its life. The only hope of India is from the masses. The upper classes are physically and morally dead.”

These observations convincingly revealed that Vivekananda earnestly and passionately felt that the renascent India would be based on the solid foundations of the “common people". Hence he insisted for giving all facilities to the poor. He said, "If the Brahmin has more aptitude for learning on the ground of heredity than the Pariah, spend no more money on the Brahmin's education; but spend all on the Pariah. Give to the weak, for there all the gift is needed... Our poor people, these downtrodden masses of India, therefore, require to hear and to know what they really are."

Vivekananda fully realized that it was labour that created all wealth, and it were these very creators who were deprived of the fruits of their labour. From this, it could be safely concluded that he was among the very few Indians of his time who understood the social significance of labour. On the other hand, he was convinced that if proper atmosphere and opportunity were given to the toilers, they would be capable of the highest intellectual activity. He remarked that a number of geniuses are sure to arise from among them. He was quite sure unless this wide gulf between the lower and the upper classes was. made up, there was no hope for any well-being for the people In spite of his sympathy for the poor and contempt for the upper classes he laid ultimate emphasis on spirituality. He once said about his ideal that he held, “My ideal indeed, can be put into a few words and that is to preach unto mankind their divinity, and how to make it manifest in every moment of life.”

Concept of Civilization

Vivekananda prophesied the resurrection of the orient and the coming in of a social upheaval. He is reported to have said:

> ...this rising of the Shudras will take place first in Russia, and then in China. India will rise next and will play a vital role in shaping the future world.

Naturally, Vivekananda's method differs from the well-known socialistic or communistic approaches. And yet he declared, "I am a socialist," though he added at the same time, “Not because I think it is a perfect system, but half a loaf is better than no bread....

A redistribution of pain and pleasure is better than always the same persons having pains and pleasures." In fact Vivekananda did not pay any attention to the economic or political aspects of either socialism or communism; he was really concerned with their cultural bearings and spiritual implications. He did, of course, say, "All the members of a society ought, to have the same opportunity for obtaining wealth, education, or knowledge." He also added at the same time:

> Freedom in all matters, i.e. advance towards Mukti, is the worthiest gain of man.... Those social rules which stand in the way of the unfoldment of this freedom areinjurious.

Vivekananda pointed out, "Asiatic civilization began on the plains near large rivers. Hence the original foundation of all Asiatic civilization is agriculture and in all of them divine nature predominates. Most of the European civilization on the other hand, originated either in hilly countries or on the sea-coast–piracy and robbery form the basis of this civilization; there non-divine nature is predominant.". Making the

distinction between two civilizations more clear, he says, "The European civilization may be likened to a piece of cloth... its loom is a vast temperate hilly country on the sea shore, its cotton, a strong warlike mongrel race formed by the intermixture of various races, its warp is welfare in defence of one's self and one's religion ...Its woof is commerce. The means to its civilization is the sword, its auxiliary-courage and strength, its aim–enjoyment here and hereafter."

During the last three hundred years, the human mind, disciplined in the methods of science, has gained increasing knowledge of the mysteries of nature and has controlled its powers. His voyage to the moon bears testimony to this fact. The credit goes to Einstein who discovered that energy contained in a piece of matter is equal to its mass multiplied by the square of the speed of light i.e. $E=MC^2$. The aim of the scientists has always been the alleviation of human misery and enhancement of human happiness and welfare through the advancement of science and technology. Undoubtedly, a part of it is being invested to enhance human life but the rest of it is being invested in preparation for the destruction of human civilization itself. There is evidence of a spirit of heartlessness, absence of compassion, or absence of, what Sorokin calls altruism, in modern civilization which has knowledge and power, but not wisdom: This wisdom is the product of knowledge and power chastened and purified by compassion and the sense of human responsibility.

In industrial societies, social relations at present are tending to be highly individualistic. People meet each other not as partners of a well functioning organism, each performing a definite function in the society but as highly egoistic individuals, who recognize no relations except the relations of the market place and no morality except the morality of self-interest in which the interest of the society as a whole is more often than not thrown to the winds.

Conclusion

It is necessary that there is a proper combination in society of the best wisdom, the highest valour, sufficient wealth and also ample leisure. In the absence of such a combination, it would be difficult to create a harmonious and at the same time, a vigorous social order. Vivekananda like ancient Indian thinkers, also realised this and therefore, he argues that corresponding to these four functions in society there should be four classes-the first gives the best of wisdom to society, the second is entrusted with the task of protection and governance, the third enables the society to have a full supply of material goods and the fourth performs menial work and provides sufficient leisure to other classes to devote themselves to the duties laid on all the four classes to mind their own business, to perform the duties of their own station and not to meddle with the affairs of other classes. The principle of self-control which was applicable to all the classes secured necessary harmony between them. Thus in the beginning, the now much despised Varnashram or the caste system was a functional division of society, working almost on the principle of spiritual unity of all the four classes. Besides, it was also an excellent mechanism of social adjustment. But gradually vested interests arose and became powerful and the system degenerated into a closed society.

Today, it has been reduced to merely a mechanical arrangement in which there is all emphasis on the form, but the spirit has been lost. Moreover, industrialization has radically transformed the character of society. The advent of industrial civilization has thrown the whole society into a melting pot. Today no state can claim to be self-sufficient. Gone are the days of a calm and serene life which once characterized the life in Indian villages when each Indian village was self-sufficient and a republic by itself in miniature. A new society is fast developing in the wake of industrial civilization. The totality of war requires total mobilization of a nation's resources and this in turn again adds to the complexity of social institutions.

REFERENCES

[1] Vivekananda. *The Complete Works of Swami Vivekananda*. Calcutta, Advaita Ashrama, 1989, vol. III, p.156.
[2] Vivekananda. *The Complete Works.* vol. III,p.158.
[3] Vivekananda. *The Complete Works.* vol. III,p.159.
[4] Vivekananda. *The Complete Works.* vol. VIII, p.62.
[5] Vivekananda. *The Complete Works.* vol. IV, p.346.
[6] Vivekananda. *The Complete Works.* vol. IV, p.476.
[7] Vivekananda. *The Complete Works.* vol. IV, p.478-79.
[8] Vivekananda. *The Complete Works.* vol. IV, P.478.
[9] Vivekananda. *The Complete Works.* vol. III, p.151.
[10] Vivekananda. *The Complete Works.* vol. III, p.149.
[11] Majumder, Remesh Chandra. *Vivekananda. Centenary Memorial.* Calcutta,Advaita Ashrama, 1963. vol. I, p.353.
[12] Ganbhirananda, Swami. *The Life of Swami Vivekananda*. Calcutta, Advaita Ashram, 1960. vol. II, p.685.
[13] Shankar, Tarini. Patriot-Saint Vivekananda. Allahabad: R.K. Mission,1963.
[14] Radhakrishnan. S., An Idealist view of Life. London: George Allen & Unwin,p.257.
[15] Abnish Singh Chauhan. *Swami Vivekananda: Select Speeches*. Bareilly: Prakash Book Depot, 2004. Edition Second: 2012, ISBN: 978-81-7977-466-3
[16] *R. K. Dasgupta*, (2013), Swami Vivekananda on Indian Philosophy and Literature Sri Ramakrishna Math, Chennai; 1st edition

❁ ❁ ❁

Impact Factor 4.545
UGC Approved Journal No. 64691 ISSN 2347-680X
International Journal of New Era Research Volume-VI, Issue 2, June 2019

Political Science

A Study of Vedantic Philosophy of Swami Vivekananda for 'Man-Making' and 'Nation-Building'

Shashikant * Dr. Mahesh Kumar Saini **

Abstract

Vivekananda (1863-1902) formerly known as Narendranath Dutta, is one among those great men who made better plane for salvation of entire mankind. Besides being a world teacher of undisputed imminence, he was a great patriot and nation-builder. His life coincided with the most dynamic period of modern transition in India. Transition resulted from the contact of age old Indian culture and tradition with the youthful culture of modern west. Vivekananda was a non-academic philosopher of Vedāntic heritage. Vedānta means "conclusion" or "completion" of the Vedas. He was neo-Vedāntin and essence of his philosophy based on Vedas and Upanisad. Though Śankara's and Rāmānuja's Vedānta are popular among Indian but Vedānta philosophy is enriched with five branches- (1) Śankara's Vedānta, (2) Rāmānuja's Vedānta, (3) Ballava's Vedānta, (4) Madhavacharya's Vedānta, (5) Nimbārka's Vedānta. All these branches of Vedānta are founded on three common postulates (i) man's real nature is divine (ii) aim of life is to realize inherent divinity of men (iii) all religions are in agreement regarding this. Vivekananda's socialism was verdantic or spiritualistic socialism. By socialism Vivekananda means a pattern of life in which the individual act freely aid spiritually for the good of whole society. His Vedāntic socialism, rest on the climate of change he wanted to bring about in Indian life, conduct and character. He tried for rousing of spirituality among his people through the new and practical interpretation he gave to Vedānta. The main objective of the present study is to understand the Vedantic Philosophy of Swami Vivekananda how his ideas on nation-building and his concepts of 'Practical Vedanta' and 'Man-Making' are relevant in the present day world.

Keywords: Society, socialism, Vedantic Philosophy, and Modernity.

INTRODUCTION

Swamiji was a humanist, a patriot, a philosopher, a religious preacher who awakened the people of Hinduism from its age old slumber and infused into it a new life and new blood. Swami Vivekanand has left us a rich legacy of thought and inspiration. If India assimilates them, she will become the hope of the nations That is Historical acquired role of India, according to Swami Vivekananda.

* Ph.D. Research Scholar, Dept. of Political Science, MUIT, Lucknow, U.P.
** Associate Professor, Research Guide, Dept. of Political Science, MUIT, Lucknow, U.P.

Swami Vivekananda knew it very well that if the thought of Vedanta have been apply in the every form of problem the problem can be solved easily but the Vedanta should be in practical.

The Vedanta teaches men to have faith in themselves first. To him, the goal is to manifest this Divinity within by controlling nature, external and internal. Swami Vivekananda popularized yoga as the practical aspect of Vedanta.

"Vivekananda affirms that the Vedanta can furnish all the modem communistic or equalizing theories with a spiritual basis." Both socialism and Vedanta aim at human equality, freedom and unity and both advocate the upliftment and liberation of the masses from social political and economic bondage and exploitation. He wanted India to be young, vigorous , and progressive; and yet he wanted all these to be achieved as the fulfillment of the spiritual ideal and purpose. Swamiji placed before us his great message of nation –building based on spirituality. Swami Vivekananda has left us a rich legacy of thought and inspiration. If India assimilates them, she will become the hope of the nations. That is the historical acquired role of India, according to Sawami Vivekananda.

Review of Literature

S.V. Abhyankar made an analysis of the philosophical foundation of Swami Vivekananda's thoughts.

V.K.R.V. Rao "The engine of social changes must have it's proper fu el and this according to Vivekananda could only came from spirituality and Vedānta; which proclaimed the innate divinity in men and sameness it give to all men as the basis for social ethics of non exploitation and universal human welfare".

Vivekananda himself raises the question 'is it practical? can it be practiced in modern society?' Vivekananda's clear cut reply is "Truth does not pay homage to any society ancient or modern.

Society has to adjust itself to truth". According to Vivekananda no amount of force or government or legislative cruelty will change the condition of a race, but spiritual culture and ethical culture can change wrong tendencies prevailing in a society. Spiritual realization and inner transformation is essential.

Swami Vivekananda believed in the upliftment of humanity, irrespective of caste and creed, and emphasised the importance of spiritualism for the survival and progress of mankind. He said, "Worship God in all living beings through service". This emphasis on service to humanity as a step towards spiritual upliftment needs to be underscored in our current national context.

Scope of the Study

The present research work is related to the work of Swami Vivekananda that was aimed at to bring about drastic change in the Indian society, so as to ensure all-round piece and progress in the living and thinking of people of the country, who were tradition- bound and suffered from slavery, poverty illiteracy, orthodox beliefs and practices leading them in utter backwardness and obscurantism. Through his re-interpretation of Vedanta, and his deep concern for the masses and their problems,

Vivekananda gave the country a new lease of life. Vivekananda tried to infuse into the new generation a sense of pride of India’s past, of faith in India’s future and a spirit of self-confidence and self-respect.

Objectives of the Study

- To study the Concept of Social Evolution, Social Change and Social Development of Swami Vivekananda.
- To understand the Vedantic Philosophy of Swami Vivekananda.
- To understand the Swami Vivekananda's ideas on nation-building and his concepts of 'Practical Vedanta' and 'Man-Making'.

Hypothesis of the Study

Vivekananda tried to reorient the struggle for building a New India with Vedanta philosophy. Vivekananda was pained to observe the problems and evils of Indian society. He admitted that India was in need of social reform but he was sorry to see that the prevalent reform movements were imitating Western means and methods of work. They were mainly concerned with the problems of only upper two castes. Vivekananda wanted to go to the root of evil and bring out a new order of things that is salvation of the people by the people. For it the people were to be educated, able to understand their needs and solve their problems.

Data Collection and Research Methodology

The present study is based on both primary and secondary sources. The secondary data is collected through books, newspapers, magazines, periodicals, research journals, various authentic sources and websites etc. The primary sources are the writings and correspondence of Swami Vivekananda, autobiographies, original draft of speeches, articles newspaper-accounts, addresses, the data preserved by Ramakrishna Math and Mission, the information compiled by other affiliated organizations, reports of various committees, government-policies etc. The secondary sources included articles, books, magazines, newspaper articles, editorials, biographies, commemorative volumes and research-reports on Swami Vivekananda. The present study is Exploratory cum descriptive in nature.

Findings and Discussions

Swami Vivekanand was the first religious leader in India to understand and openly declare that the real cause of India's downfall was the neglect of the masses. The immediate need was to provide food and other bare necessities of life to the hungry millions. For this they should be taught improved methods of agriculture, village industries, etc. Owing to centuries of oppression, the downtrodden masses had lost faith in their capacity to improve their lot. It was first of all necessary to infuse into their minds faith in them. For this they needed a life-giving, inspiring message. Swamiji found this message in the principle of the Atman, the doctrine of the potential divinity of the soul, taught in Vedanta, the ancient system of religious philosophy of India. He saw that, in spite of poverty, the masses clung to religion, but they had never been taught the life-giving, ennobling principles of Vedanta and how to apply them in practical life.

Impact Factor 4.545
UGC Approved Journal No. 64691 ISSN 2347-680X
International Journal of New Era Research Volume-VI, Issue 2, June 2019

Concept of Social Evolution

The Vedantic theory of evolution is organic in nature. It finds a classic statement in the Bhagavata, "The divine one, having projected (evolved) with His own inherent power, various forms such as trees, reptiles, cattle, birds, insects and fish, was not satisfied at heart with forms such as these. He then projected the human form endowed with the capacity to realize Brahman (the universal divine Self of all) and became extremely pleased." As such the Vedanta views the entire evolutionary process as progressive evolution of structure and form and as greater and greater manifestation of the infinite Self within. It is evolution of matter and manifestation of spirit. Twentieth century biology recognizes in the first appearance of living organism, the emergence, in rudimentary form, of the spiritual value of awareness. The evolution of the nervous system discloses progressive development of this awareness. This awareness achieves a new and significant dimension with the appearance of man on the evolutionary scene. Man alone has awareness of the self, along with awareness of the not-self, of both the within and without of nature. That is the uniqueness of man, according to both the twentieth century biology and the ancient *Vedanta*.

Thus, Vivekananda emphasizes the continuity of all forms of nature. He further elucidates the concept of evolution, "This coming out of the fine and becoming gross, simply changing the arrangements of its parts, as it were, is what in modern times called evolution. This is very true, perfectly true; we see it in our lives. No rational man can possibly quarrel with these evolutionists. But we have to learn one thing more. We have to go one step further and what is that? That every evolution is preceded by an involution. The seed is the father of the tree but another tree was itself the father of the seed. The seed is the fine form out of which the big tree comes and another big tree was the form which is involved in the seed. The whole of this universe was present in the cosmic fine universe. The little cell, which be- comes afterwards the man, was simply the involved man and becomes evolved as man." Therefore, the evolutionary process is complex and intricate. He asserts emphatically, "The whole series of evolution beginning with the lowest manifestation of life and reaching up to the highest, the most perfect man, must have been the involution of something else. The question is- the involution of what? What was involved? God." In Vivekananda's view, the creation of the *jiva* and *jagat* does not imply their absolute beginning but their development from the potential to the actual state. Just as every individual thing in this world has three distinct states of existence – origination, continuation and destruction (which is but reversion to the cause) so has the universe as a whole. The projection, the preservation and the dissolution of the universe comprising the living and the non- living form a complete cycle *(kalpa)* rotating continuously under the rulership of *Ishvara*. It is an eternal process. The dissolution of the universe with the animate and the inanimate does not mean its annihilation but its reabsorption in the causal state, from which it emerges again in the beginning of a new cycle. As Creator, Protector and Destroyer of the universe, *Ishvara* is designated

respectively as *Brahma*, *Visnu* and *Siva*. The one and the same Lord has three different aspects of forms(*trimurti*).

Concept of Social Change

Like many theories of evolution explaining the process of social change, viz. linear, horizontal, it is a ceaselessly fluctuating progress. Some again say that social change has no determined or fixed direction and that it is of an explosive kind. It is a fact that there is a sort of suddenness in the course of history. Observing the static and the dynamic swing in the cyclic theory of history, Vivekananda points out, "There come periods in the history of the human race when, as it were, whole nations are seized with a sort of world-weariness, when they find that all their plans are slipping between their fingers, that old institutions and systems are crumbling into dust,…and everything seems to be out of joint."

According to Vivekananda, this interval between one period of rest and another is called a *kalpa*. This *kalpic* rest cannot be one of perfect homogeneity, for in that case there would be an end to any future manifestation. He again does not accept the view that the present state of change is one of great advance in comparison to the preceding state of rest. He says, "It is simply absurd, because in that case the coming period of rest being much more advanced in time must be much more perfect. There is no progression or digression in nature." The common criticism of the cyclic theory is: Time is unreal if history is purely cyclical, for if the future is a mere repetition of the past then these future events are really the past events. Naturally, the whole issue turns into metaphysics of time but history is not time. It is not equivalent to time even. It is a process from here to eternity. It is timeless both at its source and everywhere else. But no doubt it manifests itself or appears on the screen of Time. In its outward form, it is cyclic only. Moments come and go in the process of time. But they are not identical moments. In the flight of history, millions of such moments are appearing and disappearing. And each moment is filled with new events and matter. These moments are like carriers leading to the Universal.

Concept of Social Development

Vivekananda believed in social growth and development. He was convinced that there could be no social development without spiritual development first. In his opinion, it was wrong on the part of Indian social scientists to hold religion responsible for India's degeneration. On the contrary, it was true to admit that they did not study Indian religion properly. Hence Vivekananda claimed that religion was most essential for the social development of Indian society. Sankara, Ramanuja, Madhva, Chaitanya all were constructive in their methods and built according to the needs and circumstances of their times. The development of the Indian people was always towards the realization of the Vedantic ideals and whenever any reforming sect or religion rejected that idea, it was smashed into nothing.

By "growth from within" he mainly meant spiritual growth, liberation of the soul – the inner essence of Man–from all fetters, giving him full scope of development. It is worth noting here that this last step of Vivekananda's method–purification of the soul

through suffering and cognition of the inner essence of life was being forcefully preached by another great Russian writer Leo Tolstoy. His novel *Resurrection* was a product of this very period. To Vivekananda the salvation of India lay in the return of Indians back to their lost faith, to their own spiritual power. He thought it necessary to convince Indian masses that they were inferior to none, to no other nation. The concept of liberty, equality and fraternity was preached by Vivekananda from the standpoint of idealism and religion.

With his original ideas for reconstructing India, Vivekananda felt the paramount necessity of arousing an enthusiasm of the enduring type in his countrymen. He had a deep understanding of the Indian temperament. In order to propagate the national zeal, he rightly thought that a consciousness of India as a synthetic whole had to be presented to the masses. Unity will be achieved; true nationhood would be a fact, if we could create an inner consciousness of a common ideal, common struggle and common feeling among the different constituents of the nation. Again, along with it the improvement of material standards of life, economic growth, industrial development, scientific progress,-all must find their proper place in the total scheme of a comprehensive regeneration of India. That is what Vivekananda wanted. So he exhorted Indians to live up to the ideal to bring about the model society where material and spiritual forces were well balanced. Vivekananda rightly thought that true spiritualization is a slow process. But a mere political nationalism is apt to be too belligerent to keep the internal forces together for work. In trying to accumulate strength for progress, he felt that material happiness has to be brought in but not at the cost of the spiritual ideal. Otherwise, India will have an imperfect civilization and will collapse sooner than expected like some of the predominantly materialistic civilizations of old.

For regenerating India, Vivekananda often spoke of going back to India's past cultural heritage. Why did he glorify the past so much? Vivekananda's idea was that to create enthusiasm in a huge nation it was necessary to arouse national pride. And what have Indians to be proud of except this cultural heritage.

Vivekananda knew fully well that his countrymen were suffering from a sense of inferiority to the West and were trying to copy the Western manners and civilization. He was opposed to such a meaningless imitation. He knew the defects of the Indian social system but he was against throwing off the age old traditions and borrowing wholesale new ones in their place, including those of the West. He ridiculed the idea of imitating the West because Western civilization was too young and had yet to manifest the stability of the Indian tradition. He likened such an imitation to accepting the suggestions of an immature child. Such advice could be accepted only when the child became mature. He solemnly asserts, "Then will be the time to talk on the subject with you but till then, my friend, you are only a giddy child."

Vivekananda was against unnecessary social trammels. He did not favour those who believe, "if the ignorant and the poor are given liberty, full right to their body,

wealth, etc. and if their children have the same opportunity to better their condition and acquire knowledge, as the rich and the highly situated, they would become perverse." Here he questions their viewpoint by asking, "Do they say this for the good of society, or blinded by their selfishness?" To Vivekananda it is their selfishness and nothing else. Illustrating this fact he says about the upper classes of England that there people generally ask this question, "Who will serve us if the lower classes get education?"

Swami Vivekananda was a great social reformer. He has done many social activities to change the social problems. He felt that the three problems are the resistance of our progress. Those are education, poverty and castism.

Above all, Vivekananda was neither an impractical idealist nor a sentimentalist. He knew that a nation advances on its belly. Food and raiment were the first necessities of life. For providing these for the masses, the country had to be industrialized and their standard of living rose considerably. His was no crass world-negating philosophy that would deny the ordinary comforts to men. He asseverates, "First make the people of the country stand on their legs by rousing their inner power; first let them learn to have good food and clothes and plenty of enjoyment – then tell them how to be free from this bondage of enjoyment." Conditions have not changed very much even now, though the country is on the threshold of a revolution that he visualised more than seventy-two years ago. The people may acknowledge the truth of what he said and put forth every effort to make his prophecy on actuality.

An education divorced from spirituality had no attraction for him. To keep this prime need of spirituality in the forefront in all endeavours for the upliftment of Indian women, he conceived of the nunneries and the institutions of *Sannyasa* and *Brahmacarya* for them. These nunneries and convents would also be centres of learning and the nuns and Brahmacarinis would be teachers as well. Sister Nivedita organized women's education. Vivekananda also initiated her into Brahmacarya to set an example to others. But in this field, he was very careful not to dictate to women.

Vivekananda was against the curbing of the liberty of women by men, because it hampered the growth of the India of his days. But the refrain of all his philosophy was that men should not interfere in women's affairs further than providing the right type of education based on spirituality. In the opinion of Vivekananda, "In the present day it has become necessary for them also to learn selfdefence: see how grand the Queen of Jhansi was." According to Vivekananda problem of marriage, like other problems, had to be solved after studying the past history of India, the economic conditions that modified her institutions and the needs of a higher spiritual life that moulded her attitude at every turn. The Swami opined that, in arranging matrimonial alliances, as also in many other matters, the Hindu society was socialistic.

About widow remarriage, he adopted a noncommittal attitude, partly because here he dealt mostly with grown-up adults who could choose for themselves, if they were given the proper education. And being a votary of freedom and a believer of spontaneous growth, he would leave them to decide for themselves. Besides, this problem was not so universal, as some reformers wrongly conceived, nor was it

essentially related to the regeneration of the nation. Furthermore, here, more than anywhere else, the problem was linked up with the spiritual attitude of the Hindu race. His utterances and writings accordingly ran like this, “With... education, women will solve their own problems.” He adds further, “The Roman Catholics and the Hindus, holding marriage sacred and inviolate, have produced great chaste men and women of immense power.” Moreover, Vivekananda observes, “I have yet to see a nation whose fate is determined by the number of husbands their widows get.”

Vivekananda feel that the main characteristics of Indian culture are unity among diversity. Race, religion, language, Government - all these together make a nation. In India race difficulties, linguistic difficulties, social difficulties, national difficulties, all melt away before this unifying power of religion. Indian mind there is nothing higher than religion, deals that is the key note of Indian life. Swami Vivekananda’s message of nationality and universality is very much relevant in the present day world. All people without any distinction of caste, religion, race, gender on nationality. Human society has to wait for centuries for the advent of a leader of mankind like Swami Vivekananda.

Conclusion:

It can be said that in Swami Vivekananda, Indian society saw a personality with extraordinary power of vision and deliberation, who laid the moral and spiritual foundation of both the national and the international order. In his message of man-making education, man-making religion and the philosophy of Practical Vedanta and integral humanism Indian society has received the inspiration not only for her own rejuvenation from time to time, but for the rejuvenation of the entire human society.

Swamiji's vision was for a new India, a new society, unitary in character and universal in spirit, based upon the great unitary vision of the Indian sages, of the whole of mankind as one family. His domestic policy was to create a new Indian society inspired by the Vedantic vision of the dignity of man, his freedom and individuality, his strength and his capacity to love and serve other human beings. His vision was for a thoroughly egalitarian society, free from Casteism and untouchability, free from the notions of high and low, realizing the vision of the Divine in every human being.

Thus, one sees Swami Vivekananda is a pioneering figure in India who has played in integral part towards shaping of modern India. Socialism, secularism, mass uplift and mass power, treating the untouchables with compassion, universal literacy, women's liberation and inculcation of social service as a part of religious worship- these constituted the basic points for reforms by Swami Vivekananda. Swami Vivekananda was really an epoch maker with a life span of less than forty years inspiring his brothers to fight against poverty, illiteracy, superstition, untouchability, priest craft, and tyranny of the wise.

His famous words; ‘Awake, arise, and stop not till the goal is reached’ still resonated among the youth of the nation, rousing their social consciousness and kindling their damp spirits.

REFERENCES

[1] Vivekananda. *The Complete Work of Swami Vivekananda*. Calcutta: Advaita Ashrama, 1989. vol. II,pp.173-174.
[2] Vivekananda. *The Complete Works*. vol. VII,p.152.
[3] Vivekananda. *The Complete Works*. vol. VII,p.153.
[4] Vivekananda. *The Complete Work*s. vol. VII,p.154.
[5] Vivekananda. *The Complete Works*. vol. VII, pp.154-155.
[6] Joad. C.E.M, Guide to Philosophy. London: Kessinger Publishing LLC, 1936. ed. The Hardcover 2007. p.523.
[7] Joad. C.E.M, Guide to Philosophy. London: Kessinger Publishing LLC, 1936. ed. The Hardcover 2007.p.525.
[8] Maxey, C.O. Political Philosophies. New York: The MacMillon Company, 1948.pp.620-21.
[9] Radhakrishnan. S., An Idealist view of Life. London: George Allen & Unwin, p.257.
[10] Radhakrishnan. S., An Idealist view of Life. p.28.
[11] Narendra Deva, Acharya. *Socialism and the National Revolution*. Bombay: Padma Publications,1946.
[12] Vivekananda. *The Complete Works*. vol. V,p.342.
[13] Vivekananda. *The Complete Works*. vol. IV,p.477.
[14] Vivekananda. *The Complete Works*. vol. IV,p.480.
[15] V.K.R.V. Rao Swami Vivekanda, pp. 198-199
[16] Vivekananda, Selection from Vivekananda, p. 22

IJNER

S. No. 1807/16

Shrimati Murti Devi Mahavidyalya

Narhar, Tehsil - Chirawa, Dist-Jhunjhunu, Rajasthan

NATIONAL SEMINAR

ON

ICSSR

Heritage of India: Sustainable Development of Sekhawati Heritage

Organized by THE Department of History

(Sponsored by ICSSR, New Delhi)

This is to certify that

Prof./Dr./Mr./Ms SHASHI KANT *of* Dept. of Political Science, MUIT *Participated/Contributed as* Paper Presenter *in the National Seminar on "Heritage of India: Sustainable Development of Sekhawati Heritage" during March 27-28, 2016.*

He/She presented a paper on Relevance of Swami Vivekananda in Changing discourse of Nationalism.

His/her graceful presence on the occasion is recognized with thanks.

Dr. Meenakshi	*Dr. Narendra Kumar*	Hariom *Dr. Hariom*
(Organizing Chairman)	*(Seminar Convener)*	*(Organizing Secretary)*

S. No. 2603/17

Shrimati Murti Devi Mahavidyalya,

Narhar, Tehsil - Chirawa, Dist-Jhunjhunu, Rajasthan

ISSN No. 2347-680X
UGC Approved Journal No. 64691
Impact Factor No. 2.830

International Conference-cum-Workshop

ON

Quantitative Techniques & Research Methodology and Art of Paper Writing

Organized and Sponsored by

UGC

(UGC Approved)

International Journal of New Era Research, New Delhi

Certificate of Participation

This is to certify that

Dr./Prof./Mr./Ms. SHASHI KANT ***(Dept./Faculty) of*** Political Science, MUIT

Participated/Contributed as Paper presenter ***in the International Conference-cum-Workshop during Dec. 26-27, 2017.***

He / She presented a paper on Conceptualizing the Concept of Nation w.r.t Swami Vivekanand's thought

His/her graceful presence on the occasion is recognized with thanks.

Dr. Meenakshi	***Dr. Narendra Kumar***	***Dr. Hariom***
(Organizing Chairman)	***(International Conference Convener)***	***(Organizing Secretary)***

राष्ट्रवाद के आधुनिक विचारों पर स्वामी विवेकानंद के सिद्धांतों का महत्व

by Shashikant Ji

Submission date: 22-Feb-2021 01:46AM (UTC-0800)
Submission ID: 1515111908
File name: -.pdf (1.95M)
Word count: 79856
Character count: 298358

राष्ट्रवाद के आधुनिक विचारों पर स्वामी विवेकानंद के सिद्धांतों का महत्व

ORIGINALITY REPORT

12%	11%	0%	1%
SIMILARITY INDEX	INTERNET SOURCES	PUBLICATIONS	STUDENT PAPERS

PRIMARY SOURCES

1	baadalsg.inflibnet.ac.in Internet Source	8%
2	Submitted to Pacific University Student Paper	1%
3	shodhganga.inflibnet.ac.in Internet Source	<1%
4	www.uou.ac.in Internet Source	<1%
5	www.bhojvirtualuniversity.com Internet Source	<1%
6	shodhdhara.com Internet Source	<1%
7	www.ijifr.com Internet Source	<1%
8	ebooks.lpude.in Internet Source	<1%
9	www.dncollege.com Internet Source	<1%

10	Submitted to Bundelkhand University Student Paper	<1%
11	rajyasabhahindi.nic.in Internet Source	<1%
12	Submitted to Teerthanker Mahaveer University Student Paper	<1%
13	Submitted to Banaras Hindu University Student Paper	<1%
14	ijaer.org Internet Source	<1%
15	yojana.gov.in Internet Source	<1%
16	elearning.uou.ac.in Internet Source	<1%
17	www.ijcms2015.co Internet Source	<1%
18	drsohanrajtater.com Internet Source	<1%
19	Submitted to Uttar Pradesh Technical University Student Paper	<1%
20	ijcrt.net Internet Source	<1%
21	bapubalidan.blogspot.com Internet Source	<1%

22	nfch.nic.in Internet Source	<1%
23	researchlink.in Internet Source	<1%
24	performance.gov.in Internet Source	<1%
25	scert.cg.gov.in Internet Source	<1%
26	www.bjp.org Internet Source	<1%
27	www.mdudde.net Internet Source	<1%
28	www.uprtou.ac.in Internet Source	<1%
29	online.vmou.ac.in Internet Source	<1%
30	sgsgovtpgcollegesidhi.org Internet Source	<1%
31	Submitted to Sophia University Student Paper	<1%
32	hindusthangaurav.com Internet Source	<1%
33	Submitted to University of Rajasthan	

	Student Paper	<1%
34	www.nuepa.org Internet Source	<1%
35	www.srcindore.com Internet Source	<1%
36	www.wadanatodo.net Internet Source	<1%
37	mdu.ac.in Internet Source	<1%
38	www.kmgcbadalpur.org Internet Source	<1%
39	www.scribd.com Internet Source	<1%
40	www.ijpd.co.in Internet Source	<1%
41	www.haryanakisanayog.org Internet Source	<1%
42	himachalpr.gov.in Internet Source	<1%
43	researchjournal.in Internet Source	<1%
44	jrhu.com Internet Source	<1%

45	www.sagarinternationalbooks.com Internet Source	<1 %
46	goforestudy.com Internet Source	<1 %
47	shodhganga.inflibnet.ac.in:8080 Internet Source	<1 %
48	nrcmushroom.org Internet Source	<1 %
49	www.gass.org.in Internet Source	<1 %
50	www.hindivishwa.org Internet Source	<1 %
51	www.wellpress.in Internet Source	<1 %
52	www.researchjournal.in Internet Source	<1 %
53	www.yumpu.com Internet Source	<1 %
54	researchlinkjournal.in Internet Source	<1 %
55	centreforequitystudies.org Internet Source	<1 %
56	www.hindisanstha.org	

	Internet Source	<1%
57	rajmangal.com Internet Source	<1%
58	www.slideshare.net Internet Source	<1%
59	etheses.saurashtrauniversity.edu Internet Source	<1%
60	Submitted to Shri Jagdishprasad Jhabarmal Tibrewala University Student Paper	<1%
61	library.karamatgirlspgcollege.org Internet Source	<1%
62	hindustanbooks.com Internet Source	<1%

Exclude quotes	On	Exclude matches	< 10 words
Exclude bibliography	On		